

रसखान के काव्य में प्रेम का स्वरूप



वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

हिन्दी-विषय में

पी-एच०डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

संशोधित

शोध-प्रबन्ध

2011

शोध निर्देशक

डॉ० आलमगीर अली अहमद

रीडर, हिन्दी विभाग
शिवली नेशनल पी०जी० कालेज
आजमगढ़ ।

शोधार्थी

कुँवर पंकज सिंह
नामांकन सं० PU-2000/260

शोध-केन्द्र

शिवली नेशनल पी०जी० कालेज

आजमगढ़

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री कुँवर पंकज सिंह द्वारा पी-एच०डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत “रसखान के काव्य में प्रेम का स्वरूप” शीर्षक शोध प्रबन्ध को वाह्य परीक्षक प्रोफेसर अब्दुल विस्मिल्लाह की आख्या एवं परामर्श के अनुसार संशोधित कर दिया गया है। संशोधन के पश्चात् प्रबन्ध की दो प्रतियाँ मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत की जा रही हैं।

शोध निर्देशक

दिनांक :

स्थान : आजमगढ़

डॉ०(आलमगीर अली अहमद)

एसोसिएट प्रोफेसर

हिन्दी विभाग

शिवली नेशनल पी०जी० कालेज

आजमगढ़

अध्याय – विभाजन

क्रम संख्या	अध्याय	पृष्ठ संख्या
	भूमिका	I-VI
1.	प्रथम अध्याय	<u>संस्कृति की अवधारणा</u> 1-49 (क) अर्थ निरूपण (ख) परिभाषा (ग) विशेषताएं (घ) भारतीय संस्कृति का परम्परागत स्वरूप
2.	द्वितीय अध्याय	<u>मध्यकालीन भारतीय संस्कृति 'परम्परा और काव्य'</u> 50-132 (क) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (ख) संस्कृति समन्वय की विराट चेष्टा (ग) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के मूल तत्व
3.	तृतीय अध्याय	<u>रसखान का रचनात्मक व्यक्तित्व</u> 133-173 (क) परिवेश एवं प्रभाव (ख) रसखान-काव्य का परिचयात्मक मूल्यांकन
4.	चतुर्थ अध्याय	<u>रसखान काव्य का काव्य शास्त्रीय मूल्यांकन</u> 174-215 (क) अनुभूति और संवेदना (ख) अभिव्यक्ति सौंदर्य
5.	पंचम अध्याय	<u>रसखान के काव्य में प्रेम का स्वरूप</u> 216-235
6.	षष्ठम् अध्याय	<u>रसखान के काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन</u> 236-295 (भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में)
7.	सप्तम् अध्याय संदर्भ ग्रंथ सूची	उपसंहार 296-303 304-306

सर्वप्रथम मैं अपने शोध निर्देशक डॉ० आलमगीर अली अहमद जी के प्रति सहृदय प्रणयावनत आभार इस उद्देश्य से प्रकट करता हूँ, कि जिन्होंने अपना शिष्यत्व प्रदान कर व्यक्तित्व में गुरुत्व प्रदान किया। जिनकी इस महती कृपा के अभाव में यह महान कार्य सम्पन्न ही नहीं हो सकता। वास्तव में व्यक्तित्व में गुरुत्व, गुरु प्रदत्त है, उनके अवदान को इस पंक्ति के साथ समर्पित करता हूँ कि— 'तेरा तुझको अर्पण क्या लागत मेरा'।

प्रथम भाव अर्पण 'प्रथम एवं प्रकृति प्रदत्त गुरु, माँ एवं पिता (पूजनीय नीला सिंह एवं श्रद्धेय डा० अरविन्द सिंह) जी को है। जिन्होंने अज्ञ (अ से ज्ञ तक वर्णमाला) सिखाकर विज्ञ बनाने का प्रथम सोपान रचा एवं विपरीत परिस्थितियों में धैर्य एवं सकारात्मकता का बीजतत्त्व जो मैंने अपनी दादी माँ पूज्य सुमित्रा सिंह, श्रद्धेय जे०पी० सिंह एवं एल०पी० सिंह जी से प्राप्त किया उसी का पुष्पित रूप यह शोध प्रबन्ध है। शोध प्रबन्ध को सीमित समय में पूर्ण करने में स्मरणीय एवं सक्रिय सहयोग त्याग एवं समर्पण की प्रतिमूर्ति पत्नी विनीता कुमारी सिंह अल्पवय एवं मेधावी पुत्रीद्वय संस्कृता, सात्विका एवं पुत्र सौभाग्य कुँवर जिसकी बाल सुलभ किन्तु जागृत पंक्ति— "मुझे पढ़ाते हैं, आप भी पढ़िये" का भी है।

'मनुष्य पथ विचलित देवता है' इस उक्ति के सापेक्ष मेरे उद्देश्य के भटकाव को कम करने के लिए तथा शोध प्रबन्ध को सामान्य से उत्तम एवं उत्तम से अतिउत्तम बनाने में क्रम में आने वाले अवरोधों को कम करने तथा विषयगत एवं विषयेत्तर अनौपचारिक मार्गदर्शन प्रदान करने में अग्रजनों ने अपना बेशकीमती समय, ज्ञान का सर्वोत्तम अंश हमें सहज रूप में हमें प्रदान किया उन्हें मैं सूचीबद्ध नहीं कर सकता लेकिन नाम स्मरण न कर मैं अपने आपको असहज पाता हूँ, ऐसे स्वनामधन्य व्यक्तित्व के धनी श्रेष्ठज— डॉ० लालजी सिंह (वैज्ञानिक, कुलपति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), श्री सन्तोष सिंह (अतिरिक्त **IV** अधीक्षक), श्री शरद कुमार सिंह (मुख्य विकास अधिकारी), डॉ० विनोद कुमार शर्मा (जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी), प्रो० अशोक सिंह (हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), श्री दिव्यकान्त शुक्ला (उपसचिव माध्यमिक शिक्षा), श्री विजयशंकर मिश्र (जिला विद्यालय निरीक्षक), डॉ० राजदेव दूबे (इतिहासविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), प्रो० अवधेश प्रधान (हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), श्री संजय सिंह (उप निदेशक नेहरु युवा केन्द्र), डॉ० ओ०पी० राय (जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी), प्रो० शशिलता

सिंह (विभागाध्यक्ष दर्शन, महात्मा गॉधी काशी विद्यापीठ), डॉ० लाल साहब सिंह (प्राचार्य), श्री सूर्यभान जी (जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी), श्री ओ०पी० सिंह (वरिष्ठ अभियोजन अधिकारी), प्रो० रामसकल यादव (भूगोल विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), श्री स्वामी विपिनानन्द (शक्तेसगढ़ आश्रम) मीरा सिंह, दिनेश सिंह, विजय नारायण सिंह (अध्यापक) हैं। विस्मृतवश चन्द नाम जो शेष रहे हैं उनके लिए मन सदैव क्षमा प्रार्थी रहेगा।

इस गुरुत्तर कार्य में मेरे मित्रों सहकर्मियों एवं पुरजनों यथा डॉ० विकास सिंह, इंजी० आनन्द सिंह, सुश्री सुनीता सिंह, अनिल मिश्र, तजीन फातमा, मो० नजीर, डॉ० बृजलाल (जिला पिछड़ा वर्ग समाज कल्याण अधिकारी, बस्ती), राम आसरे वर्मा (खण्ड शिक्षाअधिकारी), स्कन्द गुप्त (खण्ड शिक्षाअधिकारी), रामप्रकाश जी, रविभूषण जी, कुन्दन यादव (पुलिस अधीक्षक), डॉ० मालविका सिंह, सूबेदार यादव, तरुण यादव, मनोज कुमार, संगीता सिंह, प्रतिभा भारती, सविता, रंजना, ज्योति, स्वाती, नम्रता, समीक्षा, प्रेमशंकर पाण्डेय, अभय सिंह, रामाचरन, रमाकान्त भारती, महेन्द्र यादव, उपेन्द्र विक्रम द्विवेदी (प्रवक्ता), संजय सिंह, सुनील सिंह (बाबा जी) ऋषि सिंह, अलंकार, संयम, सक्षम लालमणि सेठ (प्रवक्ता), श्रीप्रकाश राय जी का अमूल्य सहयोग रहा है। जिसके प्रति आभार व्यक्त कर मैं उऋण तो नहीं हो सकता फिर भी कर्तव्य पालन करूंगा।

इसके पश्चात शिब्ली नेशनल पी०जी० कालेज, आजमगढ़ के प्राचार्य डॉ० अशफर फैजान और हिन्दी विभागाध्यक्ष माननीय डॉ० निजामुद्दीन के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ एवं साथ ही साथ यहाँ से जुड़े अन्य सभी गुरुजनों एवं शिक्षणत्तर कर्मियों का भी हृदय से आभार प्रकट करता हूँ क्योंकि उनकी प्रेरणा एवं उत्साहवर्द्धन के फलस्वरूप ही यह शोध कार्य पूर्ण हो सका।

शोध प्रबन्ध के माध्यम से मेरी अभिव्यक्ति लिपिवद्ध करने, श्रेष्ठ रूप प्रदान करने तथा समय सीमा का ध्यान देते हुए शीघ्रता प्रदान करने में कम्प्यूटर टाइपिंग एवं पृष्ठ सज्जा के कार्य में लगे डॉ० रामकेवल यादव, (सलाहकार, रा०खा०सु०मि० योजना आजमगढ़), प्रदीप कुमार भारती, नीलकण्ठ यादव को याद करना नहीं भूल सकता।

इस कार्य को गुणवत्ता पूर्ण ढंग से करने में मैंने अनेक ग्रन्थालय यथा हिन्दी भवन, जौनपुर, सयाजीराव गायकवाड ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पूर्वान्चल ग्रन्थालय से

यथेष्ट सहायता ली है इसके लिए हम कर्मचारियों एवं अधिकारियों का विशेष आभार प्रकट करते हैं।

अन्त में मैं उन सभी शुभचिन्तकों एवं आत्मीय बन्धुओं के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरी सहायता की।

शोध छात्र

(कुँवर पंकज सिंह)
हिन्दी विभाग
शिब्ली नेशनल पी0जी0 कालेज,
आजमगढ़

भूमिका

रस के घनानन्द ने प्रेम के जागतिक प्रकाशन को निर्दिष्ट कर करते हुए कहा था —

प्रेम को महोदधि अपार हेरिकै, विचार,
बापुरो हहरि बार ही ते फिरि आयौ है।
ताही एक रस है, विबस अवगाहै दोऊ,
नेही हरि राधा जिन्हें देखे सरसायौ है।
ताकी कोऊ तरल तरंग—संग छूट्योकन,
पूरि लोक लोकनि उमंगि उफनायौ है।

राधा और कृष्ण के प्रेम के अपार सागर के उमड़ने से कुछ बूंदें फैल गईं तथा उसकी उमंग का उफान सारे संसार में व्याप्त हो गया। इसी राधा कृष्ण के प्रेम का प्रकाशन रसखान के काव्य में व्याप्त है। उनके माधुर्य भक्ति के केन्द्र में जो प्रेम स्वरूप है उसका अध्ययन एक गंभीर विषय है। हमारे आचार—विचार, संस्कार, सभी का उत्स संस्कृति है। संस्कृति के परिवेश में आन्तरिक व्यक्तित्व का विकास होता है। प्रेम, उत्साह, धैर्य तितिक्षा, सभी मानव के विकास का संस्थान है। प्रेम व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण घटक है। यहीं से मानवता का उद्भव होता है, जब व्यक्ति प्रभु से प्रेम करना प्रारंभ करता है वह जगत् के प्राणी—प्राणी के प्रति करुणाद्र हो उठता है यहीं से विश्व मानवता का जन्म होता है। साहित्य सदा मानवता का पक्षधर है। समाज के विकास क्रम में ही साहित्य पनपता है तथा साहित्य विगड़ते हुए समाज की आलोचना करता है।

आज के युग में मानवता का ह्रास हो रहा है। जातिवाद, सम्प्रदायवाद, वर्गवाद, आतंकवाद के पीछे प्रेम का अभाव ही है। ऐसी स्थिति में 'रसखान के काव्य में प्रेम का स्वरूप' अध्ययन का विषय बनाना स्वाभाविक है। इस विषय को 6 अध्यायों में विभाजित कर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय में 'संस्कृति की अवधारणा' को प्रस्तुत किया गया है अर्थ, परिभाषा तथा विशेषताओं के रेखांकन के पश्चात् भारतीय संस्कृति के स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय संस्कृति में विविध संस्कृतियों का संगम भागवतकार यह कथन इस तथ्य की ओर इंगित करता है—

किरात—हूणान्ध—पुलिन्द—पुक्कसाः
आभरि—शुह्रा यवनाः खसादयः
येऽन्ये च पाषास्तदयाश्रयाश्रयः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः

किरात, हूण, आंध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आमीर, शुन्गा, यवन, खस, शक जातियाँ एक बार भगवान के आश्रम में आते ही शुद्ध हो गईं।

वस्तुतः विभिन्न जातियां विभिन्न संस्कृतियों के साथ भारत में आकर मिल गईं तथा सभी मिलकर भारतीय संस्कृति बन गयी। आर्य और द्रविण संस्कृतियों का प्रथम मिलन हुआ जिससे भारतीय संस्कृति की पाचन शक्ति बढ़ गयी। इसके बाद बौद्ध, सुमेरियन यवन संस्कृतियां भी भारतीय संस्कृति में शामिल हो गयीं।

सम्प्रति भारतीय संस्कृति को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है — आर्यों का ज्ञान + द्रविणों की कला + आधुनिक विज्ञान + अन्य संस्कृति = भारतीय संस्कृति

यद्यपि यह समीकरण स्थूल मानक ही बता पाता है, रसायनिक परिवर्तनशीलता विवेचनीय विषय है। हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता समन्वयशीलता है।

द्वितीय अध्याय में 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, परम्परा और काव्य' में मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है। मध्यकालीन संस्कृति जिसमें भक्ति भावना का प्राधान्य है। विविध संस्कृतियों के रसायन से मध्यकालीन संस्कृति विकसित हुई है। राम और कृष्ण भक्ति प्रवाह को विशेष रूप से पहचाना जा सकता है, इस कृषि भक्ति काव्य प्रमुख काव्यकारों को दर्शाया गया है।

तृतीय अध्याय में रसखान के परिवेश को प्रस्तुत करते हुए उनके काव्य का रचनात्मक व्यक्तित्व, इस अध्याय का शीर्षक है इसमें परिवेश के प्रभाव को रचनाओं की संवेदना से जोड़कर दिखाया गया है।

चतुर्थ अध्याय में 'रसखान काव्य का काव्य शास्त्रीय मूल्यांकन' प्रस्तुत किया गया है। इसके दो पक्ष हैं प्रथम पक्ष अनुभूति और संवेदना का है दूसरा पक्ष अभिव्यक्ति सौन्दर्य का। रसखान की कविता मूलरूप से रस की कविता है। उनकी कविता में अलंकारों को ढूँढ़ना न्याय संगत नहीं है, क्योंकि सहज भावोच्छलन में अलंकार गौण हो जाते हैं, संवेदना ही प्रधान रहती है।

पंचम अध्याय, इस अध्याय में 'रसखान के काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन' है। इस शोध प्रबन्ध का प्रारंभ संस्कृति से होता है तथा इस अन्तिम अध्याय में सांस्कृतिक मूल्यांकन है संस्कृति को विशेष महत्व देने का कारण उनके काव्य में प्रेम के स्वरूप को दर्शाना रहा है। रसखान माधुर्य भाव के उदान्त कति हैं। उनकी कविता का उत्स श्रीकृष्ण का प्रेम है। रामविलास शर्मा का यह कथन कि रामायण और महाभारत हमारे संस्कृति के आधार ग्रंथ है। रामायण के महापुरुष राम तथा महाभारत के कृष्ण हैं। वैसे रसखान ने भागवत के कृष्ण को ही आधार बनाया है इस ग्रंथ में भी भारतीय संस्कृति का भक्ति मार्ग विवेचन है। कृष्ण का चरित्र इस ग्रंथ में भक्तिमार्गी विवेचन है। कृष्ण का चरित्र इस ग्रंथ में भक्ति के आश्रय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। इसके प्रश्चात पुराणों में उनका व्यापक वर्णन है, 'ब्रह्म पुराण' 'ब्रह्म वैवर्त पुराण', 'भागवत पुराण' में उनका विशेष रूपांकन किया गया है। उनका विशद विवेचन महाभारत में भी है किन्तु वहां उनका रूप योगिराज और नीतिज्ञ का है। भक्त कवियों का उपजीव्य मुख्य रूप से भागवत है। सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण का रस पेशल वर्णन विद्यापति, जयदेव, मीरा, तथा रसखान ने किया है। कृष्ण का भक्त कवि पाषाण, तथा गाय बनने को भी तैयार है, उस कौवे की भाग्य की भी सराहना करता है जो भगवान के हाथ से रोटी लेकर भागता है। भक्ति भावित रसमयता गृहस्थ जीवन की अनिवार्य अंग है। भक्त को मोक्ष नहीं भक्ति चाहिए। रसखान को कृष्ण का सान्निध्य चाहिए, चाहे उन्हें कुछ भी झेलना पड़े। प्रेम देवता का जो यहां चित्र है वह अद्भुत, मनोरम है, रसपेशल है। इस

प्रेम की आभा में भारतीय संस्कृति प्रस्फुटित होती है। संस्कृति यदि जीवन का संस्कार देती है तो प्रेम वह संस्कार है जो मनुज के मनुजत्व के साथ देवत्व भी प्रदान करता है, वैसे मनुजत्व ही साहित्य की उपासना है। इसीलिए महर्षि व्यास ने कहा था – ‘गुध्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्, मनुष्य से बढ़ कर इस सांसार में कुछ भी नहीं है और मनुष्यता का प्राणत्व है प्रेम। वस्तुतः इस अध्याय में सांस्कृतिक तत्त्व के आयाम में रसखान के काव्य को दिखाया गया है। षष्ठ अध्याय में उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। इस शोध कार्य के पूर्ण करने में हमें अपने गुरुओं से एवं विद्वानों से जो सहायता मिली है, उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा कर्तव्य है।

संस्कृति की अवधारणा

(क) अर्थ निरूपण : संस्कृति बहुत व्यापक शब्द है। इसका अर्थ अनेक आयामों में व्यवहृत होता है। मानव जब से धरती पर आया है, उसने सतत् अपना विकास किया है। यह मनुष्य की जिजीविषा शक्ति है जो उसे अनेक आयामों में विस्तार देती है। मनुष्य प्रकृति से संघर्ष करता है उस संघर्ष के साथ वह अपना परिष्कार भी करता है। वह जिस परिवेश में होता है, परिवेश के सापेक्ष अपनी शक्ति का विस्तार करता है। इस शक्ति के विकास के साथ उसके 'स्व' का विकास होता है। इस 'स्व' विकास के साथ सामाजिक परिवेश जुड़ जाता है। सामाजिक परिवेश के जुड़ते ही वह अपना परिष्कार प्रारंभ कर देता है, जब वह जन्म लेता है तब वह केवल जीव होता है, जीव जब समाज में बंधता है तब वह सामाजिक प्रतिबन्धों को स्वीकार करता है, उसके बन्धन को प्राचीन सन्तों ने माया कहा है जो वास्तव में उसकी विकास शक्ति है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में कहा है —

‘भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी’।

वस्तुतः जीव से मनुष्य बनने की प्रक्रिया में सामाजिकता का अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस सामाजिकता के अन्तर्निहित तत्व को संस्कृति कहते हैं। मनुष्य एक ओर सामाजिक समायोजन की प्रक्रिया शुरू करता है दूसरी ओर उसके भीतर संस्कृति का विकास प्रारंभ होता है। संस्कृति मानवीय व्यक्तित्व की वह विशेषता या विशेषताओं का समूह है जो उस व्यक्तित्व को खास अर्थ में महत्वपूर्ण बनाता है। यहां 'खास अर्थ' की व्यंजना को समझना आवश्यक है। किसी पुरुष या स्त्री का महत्व उन गुणों के कारण भी हो सकता है जो मुख्यतः प्रकृति की देन है, जैसे स्वास्थ्य और शारीरिक सौन्दर्य। किन्तु ये गुण विशिष्ट रूप में सांस्कृतिक गुण नहीं हैं; सुन्दर और स्वास्थ्य स्त्री-पुरुष असंस्कृत भी हो सकते हैं। वस्तुतः संस्कृति उन्हीं गुणों का समुदाय है, जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है।

यहां यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि स्व के विकास के साथ संस्कृति का विकास प्रारंभ होता है। तत्त्वतः स्व की अवधारणा सांस्कृतिक विकास का वह केन्द्र बिन्दु है जहां से संस्कृति के आयाम विवृत होते हैं। स्व के अध्ययन ने मनोवैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट किया है उनके अनुसार 'स्व' बोध से 'आत्म गौरव' का जन्म होता है। इससे स्व-दक्षता उत्पन्न होती है। भारतीय संस्कृति में इस पर विशेष रूप से गहराई से विचार किया गया है। भारतीय सांस्कृतिक परिवेश परिवेश में निरन्तरता तथा परिवर्तन दोनों तत्वों के सापेक्ष 'स्व' के विकास का आकलन किया गया है। भारतीय समाज के लोगों में 'स्व' परिष्कार की भावना प्रारंभ से लेकर अब तक विद्यमान है। लोगों के चेतना में वैदिक ऋचाएं, कर्मकाण्ड तथा महाकाव्यों के चरित्र अब भी जीवन्त हैं। यहां के लोगों के स्व का विकास विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं के घुलने मिलने से दूसरे सांस्कृतिक समूह; जैसे आर्य द्रविण, शक, हूण, मुस्लिम आदि के कारण स्व का व्यापक विकास हुआ है। अंग्रेजों के आगमन से भी 'स्व' में एक प्रकार की व्यापक चेतना पैदा हुई है। हमारे आत्मा एवं 'अहंकार' जैसे सम्प्रत्ययों का विवेचन दर्शन में किया गया है। इसमें आत्मा स्वतंत्र तथा गैर भौतिक तत्व रूपी वास्तविक 'स्व' का बोध साक्षात्कार है तथा अहंकार अपने वास्तविक स्वरूप की अज्ञानता के कारण स्वयं को बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित करता है। जीवन (सांसारिक अनुभवों से सम्बद्ध भोक्ता) तथा ब्रह्म (परम तत्व या सत्ता) का द्वैत भाव पाया जाता है परन्तु जीवात्मा या आत्मा परम तत्व। सत्ता या ब्रह्म का एक अंश है, इस पर भी बल दिया जाता है। स्व की भारतीय अवधारणा मनुष्य के दैहिक, सामाजिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पक्षों को अपने में समाविष्ट करती है। भारतीय सन्दर्भ में स्व भी अवधारणा मनुष्य के माडल के आधार पर समझा जा सकता है। राम चरण त्रिपाठी ने एक रोचक विश्लेषण में निम्नलिखित की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

(1) स्व को एक असह भागी तथा साक्षी के रूप में देखा जाता है।

1. मनोविज्ञान परिचय, भाग दो, एन0सी0आर0टी0, पृष्ठ-35।

(2) स्व की पृथक् सत्ता नहीं है अर्थात् अन्य लोगों से अलग स्व का अस्तित्व नहीं है। यह सभी के साथ मिलकर कार्य करता है।

- (3) स्व अधिक निर्भरता वाले परिवेश के अन्दर ही कार्य करता है।
- (4) ब्रह्माण्ड में भी मनुष्यों की तरह चेतनायुक्त जीवन की सभी विशेषताएं देखी जाती हैं।
- (5) परिवर्तन तथा विकास सीधी रेखा में नहीं होते हैं।

स्व की भारतीय व पश्चिमी अवधारणा में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर स्व तथा परिवेश के बीच सीमा रेखा का निर्धारण है, पश्चिमी मानस में ये सीमा रेखाएं लगभग अपरिवर्तनीय या दृढ़ हैं। जब कि भारतीय जनमानस ऐसी सीमा रेखाओं से नियंत्रित या निर्देशित होता है जो निरन्त बदलती रहती है। अतः भारतीय व्यक्ति के लिए स्व कभी-कभी विस्तृत होकर परिवेश में मिलकर एकाकार हो जाता है। परन्तु अगले ही क्षण वह उससे पूर्णरूपेण अलग हो जाता है। इसके विपरीत पश्चिमी दृष्टिकोण स्व तथा अन्य मनुष्य और प्रकृति, आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ के बीच विभाजन को पूर्ण मानता है। यह भारतीय लोगों के लिए, जो ऐसे स्पष्ट विभाजन को नहीं मानते हैं। पश्चिम में स्वत तथा समूह दो भिन्न तत्वों के रूप में लिए जाते हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी निश्चित सीमा रेखा होती है। भारतीय सन्दर्भ में स्व तथा निज समूह दोनों की सीमा-रेखा परिवर्तनशील मानी जाती है। स्व, निज-समूह होता है। हालांकि इस तथ्य का कि स्व समूह में समाहित है, यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिवादी बनाम समूह वादीरुझान के सन्दर्भ में भारतीय मानस पश्चिमी मानस से भिन्न है। भारतीय लोग दोनों ही प्रवृत्तियों के सह अस्तित्व का प्रदर्शन करते हैं।

यहां यह जानने योग्य है कि स्व का विकास संस्कृति विकास का मूल मानक है।

जब 'हम' के विकास पर विचार करना प्रारंभ करते हैं, तो भारतीय चिन्तन की विशेष पृष्ठ भूमि महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है। संस्कृति का अर्थ है स्व का विकास। भारतीय संस्कृति में स्व के विकास अति सूक्ष्म विवेचन है। इसमें एक बहुस्तरीय या कई पतों वाले पदानुक्रम श्रेणीबद्ध संगठन के रूप स्व का विकास दिखाया गया है— तैतिरीयोपषिद् में कहा गया है कि जीव एक बहुस्तरीय तत्व है। जीव की पांच पतें हैं, जिसमें कोश या आवरण एक—दूसरे में आबद्ध

रहते हैं। यह प्याज संक्रेदित आवरणों (छिलकों, की तरह है। स्थूल भौतिक शरीर अन्न से उत्पन्न माना जाता है। यह अन्नमय कोश कहलाता है।)

इसमें जीवन को धारण करने वाला स्व पाया जाता है इसके बाद 'प्राणमय कोश' है। इससे श्वसन तथा अन्य चयापचय की क्रियायें संचालित होती हैं जो शरीर के अंगों को क्रियाशील तथा कार्यरत रखती हैं। इसके बाद तीसरी पर्त मानसिक आवरण (मनोमय कोश) कही जाती है जिसमें ज्ञानेन्द्रियां शामिल हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि विषय वासना (कामना) की पूर्ति का प्रयास इंद्रियजन्य अनुभवों के माध्यम से होता है। इस आवरण या कोश को अहं के लिए संघर्ष का अधिष्ठान माना जाता है तथा इसकी अभिव्यक्ति संलग्नता या रुचियों के रूप में होती है। अगली पर्त संज्ञानात्मक आवरण है (विज्ञानमय कोश)। इसमें विचार, तथा सम्प्रत्यय आदि शामिल हैं जो इस संसार को जानने-समझने में प्रयुक्त होते हैं। सबसे अन्दर की पर्त या स्तर को आनंद का आवरण कहते हैं। (आनन्दमय कोश) क्योंकि यह परमानंद या परम सुख को प्रदर्शित करता है² जो वास्तविक स्व (आत्मन्) की मूल विशेषता है। ऊपर निरूपित कोशों की अवधारणा स्थूल तत्वों से प्रारंभ होकर सूक्ष्म तत्वों की ओर बढ़ता हुआ एक अनुक्रम या श्रेणीबद्ध संगठन है। आत्म (स्व) और अनात्म (गैर-स्व) के बीच एक तात्त्विक निरन्तरता भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्म और अनात्म के बीच सीमा निर्धारित करने वाली रेखा अपरिवर्तनीय नहीं है। भिन्न-भिन्न अवसरों पर 'स्व' थोड़े या अधिक तत्वों का समावेश कर सकता है।

संस्कृतिक के सन्दर्भ में हम सूफी संस्कृति जो आत्मा (स्व) के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करती है उल्लेखनीय हैं। सूफीवाद का प्रयास है लोगों को सरल व सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत करने में सक्षम बनाना।

यह सिखाता है कि अहंकार तथा अपरिहार्य रूप से होने वाला संघर्ष मूर्खता है तथा इस संसार (ब्रह्माण्ड) का सार तत्व रुहानी (आत्म या चेतन स्वरूप) या आध्यात्मिक है। यह मनुष्य को एक मनोधार्मिक जीव के रूप में देखता है जो अपने जीवन का प्रारंभ प्रकृति के साथ अचेतन एकात्मकता में

1. तैत्तिरीयोपनिषद् (इशादि नो उपनिषद्) – द्वितीय अध्याय, पृ० 375, गीता प्रेस।
2. मनोविज्ञान परिचय-2, एन०सी०आर०टी०, पृष्ठ-36।

करता है विकास के क्रम में अपने को प्रकृति से अलग कर लिया तथा दुःख, काल तथा दिशा (स्थान) का अनुभव किया। सूफीवाद एक व्यक्ति की अपनी स्वाभाविकता या अपने मूल स्वरूप

से सामंजस्य स्थापित करना है। यह एक आन्तरिक अनुभव है जो अपने अभीष्ट विषय, जिसे अपने परमप्रिय प्रेयसी या आदर्श अहं (स्व) भी कहा जाता है, तादात्म्य (सारूप्य) स्थापित करता है। यह हृदय (मन) तथा नियत की शुद्धता पर बल देता है। यह माना जाता है कि जब 'मैं' 'तू' या 'वह' बन जाता है तब द्वैत एकत्व या अद्वैत में परिवर्तित हो जाता है। इसमें इच्छा शक्ति या संकल्प शक्ति की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। वस्तुतः आत्मनियंत्रण जो प्रत्येक संस्कृति की महत्वपूर्ण अवधारणा है। आत्मनियंत्रण आत्मसंतुष्टि को टाल देने की क्षमता को विकसित करना है। इसे व्यापक अर्थ में ग्रहण करने पर सांस्कृतिक विकास के आयाम विकसित होते हैं।

भारतीय संदर्भ में व्रत, उपवास, रोजा, तथा तपस्या पर बल दिया जाता है। जितेन्द्रिय (एक व्यक्ति जिसका अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों पर नियंत्रण रहता है) तथा अपरिग्रह (न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सीमित वस्तुओं को रखना) की अवधारणाएं भी इसी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। आन्तरिक अवस्था या स्थिति पर नियंत्रण बायोफीड बैक, जेन, योग, ध्यान तथा स्व-सूचन इत्यादि की सहायता से संभव है।

उपर्युक्त समस्त स्थापनाएं संस्कृति के अर्थ से जुड़ी हुई हैं। जैसा ऊपर स्व का विकास दिखाया गया है, उसका उद्देश्य मानव की उदात्त चेतना का विकास है। इस चेतना का विकास समाज या जाति में होता है। समाज में मानव मूल्य स्थापित होते हैं। यह मानव मूल्य शिष्ट समाज द्वारा स्थापित होता है। हम साधारण शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं— संस्कृति किसी एक समाज में पायी जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है, जो सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, आचरण के साथ-साथ उसके द्वारा भौतिक पदार्थों को विशिष्ट रूप दिये जाने में अभिव्यक्त होती हैं।

1. डॉ० आबिद हुसेन : भारतीय संस्कृति, पृष्ठ-3।

“धर्म अपने विस्तृत अर्थों में संस्कृति के समान है और उससे बाहर भी है तथा संकुचित अर्थ में उसका महत्वपूर्ण अंग बनाता है जहां धर्म, आन्तरिक अनुभूतियों के महत्व को प्रकट करता है, जिससे जीवन के अर्थ और उद्देश्य का ज्ञान हो, वह संस्कृति की मूल आत्मा है, किन्तु जहां धर्म का प्रयोग वाह्य रूप में होता है उसमें आन्तरिक अनुभूतियां प्रतिबिंबित होती हैं, वह संस्कृति का एक अंश मात्र रह जाता है। धर्म, उच्चतम सत्य की आन्तरिक उपलब्धि के रूप में,

कभी संस्कृति का विरोधी नहीं बन सकता, किन्तु जब वास्तविक धर्म का ह्रास होता है। तब अक्सर संस्कृति से उसका टकराव होता है”।

संस्कृति के लिए, दूसरे शब्द की तरह, कभी-कभी सम्यता का उपयोग किया जाता है, किन्तु सामान्यतया स्वीकृति के ऊँचे स्वरूप के अर्थों में। यथार्थ में सम्यता, मनुष्यों के सांस्कृतिक विकास की वह स्थिति है, जिसमें नगर कहे जाने वाले जनसंख्या के क्षेत्रों में, वे रहना प्रारंभ कर देते हैं तथा उच्च श्रेणी के भौतिक या उच्च जीवन स्तर के प्रतीक बन जाते हैं। किन्तु उच्च स्तर के भौतिक जीवन या उच्च जीवन स्तर के में संस्कृति का अंश तभी आता है, जबकि वह उसमें संश्लिष्ट हो या उच्च नैतिक मूल्यों को प्राप्त करने का कोई माध्यम बने। जब ऐसा जीवन, नैतिक मूल्यों में से किसी एक के प्रतिकूल होता है या ऐसे किसी नैतिक मूल्य से दूर रहता है तब वह सांस्कृति विकास में अवरोध बन जाता रहता है। इस तरह सम्यता हमेशा संस्कृति की मित्र नहीं होती। बल्कि कभी-कभी शत्रु बन जाती है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि पुरानी सड़ी सभ्यता को उखाड़ फेंकना पड़ा, जिससे कि संस्कृति का नए रूप में उदय हो सके। संस्कृति मनुष्यों के समुदाय में रहती है, जिसे समाज कहा जाता है। ऐसे जिस समाज में राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता पायी जाती है या वह समाज ऐसी एकता का इच्छुक होता है, तो उसे राष्ट्र माना जाता है। अतः सांस्कृतिक आयाम के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीयता भी जुड़ जाती है। राजनैतिक धारणा के रूप में राष्ट्रीयता एकदम नयी बात नहीं है, किन्तु

1. डॉ० एस० आबिद हुसेन : भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृष्ठ-3।

2. वही-पृष्ठ-04।

आधुनिक यूरोप में उसे एक नया महत्व प्राप्त हुआ है। पूर्व में धर्म जाति और संस्कृति के साथ-साथ राज्य को एक शक्ति माना जाता था, जो लोगों के मस्तिष्क से धर्म का प्रभाव घटा तथा चर्चों में लोगों को एकता में रखने की क्षमता नहीं रह गई, जैसा कि पूर्व में था, तब राज्य एकता और राष्ट्रीयता का वास्तविक माध्यम बन गया¹।

राष्ट्र का साधारण अर्थ एक समुदाय के लोगों का, एक ही राज्य में, समान राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत रहना है किन्तु राष्ट्र की यह अवधारणा अपर्याप्त है। यथार्थ में राष्ट्रीयता

के आधुनिक सिद्धान्त का आधार किसी रूप में लोगों के राजनीतिक व्यवस्था स्वीकार किया जाना है।

इस तरह एक ही राज्य में, एक ही राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्वेच्छा से रहने या रहने के प्रयत्न करने को, एक राष्ट्र की परिभाषा मानना होगा। एक आदर्श राष्ट्र के लिए पूर्व दशाएं हैं— एक सघन भौगोलिक क्षेत्र में मनुष्यों का रहना, जाति, धर्म, भाषा और सांस्कृतिक एकता तथा समान इतिहास। स्पष्ट है कि यदि मनुष्यों के एक समुदाय में यह सब बातें पायी जाती हैं, तो वह बहुत सरलता से एक राष्ट्र बन जाता है और ऐसे राष्ट्र की राष्ट्रीयता अधिक मजबूत और स्थायी होगी।

अधिक राष्ट्रों में केवल भौगोलिक, सांस्कृतिक और भाषायी एकता तथा समान इतिहास के गुण पाये जाते हैं। किन्तु कनाडा और स्विट्जरलैंड के समान कुछ ऐसे भी देश हैं, जिनमें एक से अधिक राष्ट्र भाषाएं प्रचलित हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भी एक ऐसा देश है, जहां विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के लोग, बिना समान इतिहास केवल एक क्षेत्र विशेष में रहने के कारण और एक सी भाषा बोलने के कारण एकता के सूत्र में बंध गये हैं।

वस्तुतः एक सघन भौगोलिक क्षेत्र में सामान्य सांस्कृतिक एकता के साथ रहने वाले लोग राष्ट्रीयता के लिए न्यूनतम आवश्यक शर्तें पूरी करते हैं तथा एक विशेष राजनैतिक व्यवस्था अपनाकर और एक राज्य विशेष का निर्माण कर राष्ट्र बन सकते हैं।

यहां एक तथ्य ध्यान देने योग्य है जब अनेक जातियों के लोग लम्बे समय तक साथ रहने लगते हैं तब उनमें भाषिक, भौगोलिक एकता के कारण एक वैचारिक प्रवाह उत्पन्न होने लगता है तथा इससे संस्कृति का विकास प्रारंभ होता है। क्योंकि संस्कृति, परम्परा, कलाओं एवं साहित्य के माध्यम से परिष्कृत होकर स्रोतस्विनी की भांति अपना मार्ग प्रशस्त करती है। इस प्रकार किसी भी राष्ट्र की जो सभ्यता होती है उसके सूक्ष्म रूप में वहां की संस्कृति विद्यमान रहती है।

(ख) संस्कृति की परिभाषा

संस्कृतज्ञ धार्मिक विद्वानों का विचार है कि 'संस्कृति' शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'सुट्' का आगम करके 'वित्तन्' प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, सुन्दर या पूर्ण बनाना अथवा परिष्कार करना¹। श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती का मत है कि 'संस्कृति' शब्द 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करने पर बना है, जिसका अर्थ है भूषण भूत सम्यक् कृति या चेष्टा। अतः जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करता है। वे ही संस्कृति कही जा सकती है, अथवा 'मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचारों को संस्कृति कहा जा सकता² है। श्री कर पात्री जी ने भी 'संस्कृति' की ऐसी ही व्याख्या करते हुए लिखा है कि "लौकिक पारलौकिक धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएं एवं हलचल ही संस्कृति है। श्री राजगोपालाचारी का मत है कि "किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति³ है।

4. डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना : 'कामायनी में काव्य' संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ-280।

डॉ० सम्पूर्णानन्द का विचार है कि "संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि-निक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर करता है। थोड़े में कह सकते हैं कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता⁴ है। इस तरह संस्कृति का संस्कारों का घनिष्ठ सम्बन्ध है मानते हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है कि "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नाना विधि रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।⁵ हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव ही संस्कृति है⁶। डॉ० गुलाब राय का मत है कि संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना परिष्कार करना संस्कृति शब्द का यही अर्थ है और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी, किन्तु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं।⁷

भाववाचक होने के कारण संस्कृति एक समूह—वाचक शब्द¹ है। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार का कथन है कि “मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को ‘संस्कृति’ कहते हैं”।² मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया; दर्शन—शास्त्र के रूप में भी वह चिन्तन किया; साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया; सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं और संस्थाओं को विकसित किया, उन सबका समावेश हम ‘संस्कृति’ में करते हैं।³ डॉ० रामजी उपाध्याय का मत है कि “मानव ने जो प्रगति की है, उसके मूल में बुद्धि और सौन्दर्य की अभिरुचि है। इनका अवलम्बन लेकर वह संसार की यथेष्ट रूप—रेखा बनाता जा रहा है। वह स्वभावतः किसी रचना को पूर्ण मानकर संतोष नहीं कर लेता, बल्कि नित्य ही

1. द्वारिका प्रसाद सक्सेना : कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन— 279।

2. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृत और उसका इतिहास— पृष्ठ 20।

3. रामधारी सिंह ‘दिनकर’ : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ—653।

कल की वस्तुओं को यथोशक्ति पूर्ण या सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। सुन्दर बनाने, सुधारने या पूर्ण बनाने का प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि और सौंदर्य — भावना के विकास का परिचय देता है। मानव का यही विकास ‘संस्कृति’ है। संस्कृति का मौलिक अर्थ—सुधारना, सुन्दर या पूर्ण बनाना है।¹

इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध आधुनिक कवि एवं आलोचक श्री रामधारी सिंह ‘दिनकर’ ने लिखा है कि “संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग है, बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपने सन्तानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन का व्याप हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म जन्मान्तर तक करती है।²

अंग्रेजी साहित्य में 'संस्कृति' शब्द का पर्यायवाची 'कल्चर' शब्द माना जाता है। यह 'कल्चर' शब्द लैटिन भाषा के 'कुलतुरा' (Culture) शब्द से निकला है 'कल्चर' में वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' में है। अतः इसका भी अर्थ पैदा करना या सुधारना है।

(ग) संस्कृति की विशेषताएं

संस्कृति की अवधारणा में संस्कृति के प्रभाव को व्यक्तित्व निर्माण प्रक्रिया में दिखाया गया है। वस्तुतः संस्कृति वह आन्तरिक प्रक्रिया है जो व्यक्तित्व को परिष्कृत और समृद्ध बनाती है। संस्कृति की विशेषता मनुष्य को संस्कार देना है,

1. डा० रामजी उपाध्याय : भारत की प्राचीन संस्कृति – पृष्ठ-2 ।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ-653 ।

इसके अन्तर्गत उसकी अभिवृत्ति एवं दृष्टिकोण का निर्धारण है। कुछ लोग सभ्यता और संस्कृति को एक ही मानते हैं, किन्तु संस्कृति आन्तरिक क्रिया है तथा सभ्यता बाहरी।

सांस्कृतिक परिवर्तन शनैः शनैः होते हैं। ये परिवर्तन चिन्तन तथा रुचि विषयक होते हैं। सांस्कृतिक चिन्तन में कलात्मक सर्जना के विचार होते हैं, हर संस्कृति के विशेष व्यवहारिक मानक होते हैं संस्कृति धर्म के दृष्टिकोण का निर्धारण करती है तथा उसे स्वरूप प्रदान करती है। यह व्यक्ति के रुचि को दिशा प्रदान करती है तथा यही हमारी व्यवहारिक क्रियाओं में अन्तर लाती है। संस्कृति विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदि में होने वाले चिन्तन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधन आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यापारों को दर्शाती है। किसी देश की संस्कृति से हम मानव जीवन एवं व्यक्तित्व के रूपों को समझते हैं।

किसी देश की संस्कृति धर्म, दर्शन, एवं परम्पराओं की दिशा निर्धारित करती है। संस्कृति मानव मूल्यों को दर्शाती है यथा भारतीय संस्कृति में मातृत्व एवं स्थितप्रज्ञ को महत्व दिया गया है। संस्कृतियों का अन्तर जीवन दृष्टि में अन्तर पैदा करता है। उदाहरणार्थ यूरोप निवासी राजनीति एवं आचार शास्त्र को अधिक महत्व देता है जबकि भारतीय अध्यात्मवाद को भारतीय संस्कृति जहां भगवान को सबका कारक मानती है, वहीं यूरोप वासी सामाजिक स्वतंत्रता तथा विज्ञान को महत्व देते हैं। हर संस्कृति जलवायु एवं परिस्थितियों के अनुकूल अपनी दृष्टि निर्धारित करती है, जिसे हम यूरोप एवं भारत के संदर्भ में देख सकते हैं।

संक्षेप में संस्कृति अन्तः सलिला है जिस प्रकार वनस्पति के लिए जल का महत्व होता है उसी प्रकार मानव विकास के लिए संस्कृति का महत्व है। विशेषता के संदर्भ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सभी संस्कृतियों के सार्वभौम लक्षण एक से नहीं हैं इन्हें धर्म, दर्शन, परम्परा, कला के लक्षणों के रूप में पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति की दो विशेषताएं हैं जो सभी संस्कृतियों से भिन्न हैं वे हैं— समन्वयशीलता तथा जीवन का लक्ष्य मोक्ष संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति, देश, काल, जलवायु में विकसित होती हैं। परिस्थितियों के अनुसार संस्कृति का दृष्टिकोण निर्धारित होता है।

भारत में प्रकृति की सभी सुविधाएं भी यहां की संस्कृति आध्यात्मिक बन गई तथा यूरोप में मनुष्य को संघर्षशील जीवन बिताना पड़ा इसलिए यूरोपीय संस्कृति भौतिकवादी विज्ञान उपासक बन गई।

(ग) भारतीय संस्कृति का परम्परागत स्वरूप

भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता उसका अप्रतिम गुण है इस तथ्य के बोधार्थ संस्कृति के परम्परागत स्वरूप का सर्वेक्षण अनिवार्य है। आज से तीन हजार 2 वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, आज भी, मूलतः वह वैसा ही है। मिश्र बेबिलोन और यूनान में भी प्राचीन सभ्यताएं उठी थीं। किन्तु काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी मरा नहीं। वह बराबर वर्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है। भारत का अतीत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है और कदाचित, आगे भी जीवित रहेगा।

किन्तु एक बात है जिसमें काफी अन्तर पड़ा है और बात यह है कि नास्तिकों एवं भौतिकवादियों को छोड़कर आज ऐसे हिन्दू कम हैं, जो परलोक का भय नहीं मानते हों। यह वैदिक काल की भावना से भिन्न भावना है। वैदिक ऋषि नास्तिक या भौतिकवादी नहीं थे, किन्तु, मृत्यु से डरने की बात उन्हें सूझी नहीं थी, न उनमें यही भाव जगा था कि स्वर्ग के साथ-साथ कहीं कोई नरक भी हो सकता है, जहां आत्मा को यातनाएं झेलनी पड़ सकती है। वस्तुतः, आत्मा, पुर्नजन्म और कर्म फलवाद के विषय में वैदिक ऋषियों ने अधिक सोचा था। इन सिद्धान्तों

के बीज कोई खोजे तो वेद में खोज सकता है। किन्तु इनका विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ सा लगता है। आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है जो मरणोपरान्त परलोक की जाती है, इस सिद्धान्त का आभास वैदिक

1. कठोपनिषद : प्रथम बल्ली।

ऋचाओं में मिलता है, किन्तु आत्मा का आवागमन क्यों होता है, इसकी खोज वेदों में नहीं मिलती। वेदों का वातावरण, आनन्द और उल्लास का वातावरण है। उसमें भय अथवा शोक की छाया नहीं है। अतः इस काल में विचार तो है, परन्तु भय नहीं। अपनी समस्त सीमाओं के साथ सांसारिक जीवन वैदिक ऋषियों का प्रेय था प्रेय को छोड़कर श्रेय की ओर बढ़ने की आतुरता उपनिषदों के समय जगी, जब मोक्ष के सामने गृहस्थ जीवन निस्सार हो गया। विचारणीय तथ्य यह है कि वैदिक जनता इसी संसार में भूली हुई थी। उसे जीवनोपरान्त आने वाले जीवन का ध्यान नहीं था। वैदिक ऋषि भी यह कह कर शान्त हो जाते थे कि यह सृष्टि किसने बनायी है? कौन देवता है, जिसकी हम उपासना करें? (कस्मै देवाय हविषा विधेम?)¹

संस्कृति के विकास के क्रम में वैदिक ब्राह्मण का संक्षिप्त विहंगावलोकन आवश्यक है।

वैदिक वाङ्मय — काव्य मीमांसा के लेखक राजशेखर ने माना है कि वेद तीन ही हैं— ऋक्, यजुष् और साम अथर्व चौथा वेद है, किन्तु उसमें अधिक अंश तीन वेदों के हैं। इसके अतिरिक्त उसमें मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि विद्याओं का ही वर्णन है। सामवेद में ऋग्वेद के ही गेय मंत्रों का प्राधान्य है। यजुषों का पाठ होता था। वेदों का पूरा सम्बन्ध यज्ञों से था।

यज्ञों की विधियां लिखी जाने लगीं। इस प्रकार एक नया वाङ्मय उत्पन्न हुआ जिसका नाम ब्राह्मण पड़ा। ब्राह्मण प्रत्येक वेद के मिलते हैं। ब्राह्मण—ग्रंथ का नाम ही निर्देश करता है कि ग्रंथों की रचना ब्राह्मण, पुरोहित, यज्ञ आदि के कारण हुई होगी। आर्यों का प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ था। यज्ञों की विधियां समझाने तथा उनके अनुष्ठानों का निर्धारण करने को ब्राह्मण ग्रंथ बने। अतएव यज्ञ के विषय में प्रत्येक वेद की कहां क्या उपयोगिता है, इसे समझाने के लिए प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण बन गये। ब्राह्मण मुख्यतः कर्मकाण्ड के ग्रंथ हैं।

1. ऋग्वेद : प्रजापति सूक्त।

ये ग्रंथ नीरस है। उनके भीतर विधि और अर्थवाद, ये दो प्रकार के विषय हैं। विधियां यज्ञों के यज्ञों के नियम हैं और अर्थवाद उनकी व्याख्या का प्रयास। अर्थवाद के अन्दर ही इतिहास, पुराण और आख्यायिकाओं के प्रसंग आते हैं, जिनमें पुराण साहित्य का मूल है। इस प्रकार, ब्राह्मण-ग्रंथों का एक महत्व यह भी है के वेद और वेदेतर साहित्य के बीच की कड़ियां सूचित करते हैं। ब्राह्मणों में निरूपित यज्ञ नियम जब असीम जाल बन गये, तब उन्हें संक्षिप्त और व्यावहारिक बनाने के प्रयास से श्रौत-सूत्रों का विकास हुआ। ब्राह्मण युग में ही यास्क ने निरुक्त लिखा, जिसका उद्देश्य वेद के अर्थ को सुनियोजित करना था और जब ब्राह्मण ग्रंथों ने यज्ञ को बहुत अधिक प्रधानता दे डाली। तब ब्राह्मणों के विरुद्ध एक नये चिन्तन का आरम्भ हुआ जिसका आरम्भिक रूप अरण्य को में दिखाई देता है। जो चिन्तक पुरोहितवाद और यज्ञ को यथेष्ट श्रद्धा से नहीं देखते थे। उनमें जीवन के प्रति एक प्रकार का वैराग्य उदित होने लगा, वे घर-बार छोड़कर अरण्यों में रहने लगे और उनका चिन्तन इस प्रश्न को लेकर चलने लगा कि यज्ञों का वास्तविक अर्थ क्या है, उनके भीतर कौन सा रहस्य है तथा वे धर्म के किस रूप के प्रतीक हैं? आश्रमों के विकसित हो जाने पर आरण्यक उनके प्रिय ग्रंथ बन गये, जो वानप्रस्थी थे। सभी प्राचीन उपनिषद् (वृहदारण्यक, छान्दोग्य, केन, ऐतरेय, कौषीतिकी और तैत्तिरीय) या तो आरण्यकों के अंग अथवा उनके परिशिष्ट ग्रंथ थे।

वेदांग – यज्ञों में वेदों का जो गायन होता था, उसमें कभी तो अशुद्धि होती थी, कभी पाठ-भेद से विकृति आ जाती थी, कभी पाठ और गायन, दोनों में विविधताएं भर जाती थी। इन अशुद्धियों को दूर करने तथा पठन तथा गायन होने वाली विविधताओं में व्यवस्था लाने के लिए निम्नलिखित शास्त्र उत्पन्न हुए जो वेदांग कहे जाते हैं।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते

ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

तस्मात् साऽमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।¹

1. **शिक्षा** – यह आजकल का फोनेटिक्स या उच्चारण – शास्त्र था। सामवेद की शिक्षा का नाम नारद-शिक्षा है और यजुर्वेद की शिक्षा का नाम याज्ञवल्क्य-शिक्षा, इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा भी है।
2. **छन्द** – छन्द – शास्त्र वेद के गायन को नियमित करने के लिए बना था। अब इसका एक ही ग्रंथ 'पिंगल' मिलता है, जिसमें वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है।
3. **निरुक्त**– वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति करने के लिए यह शास्त्र निकला था, निघण्ट नामक एक ग्रंथ में वैदिक शब्दों की तालिका थी। उसी पर यास्क मुनि ने (समय ई०पू०700) भाष्य बनाया, जो निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क ने ही, पहले-पहले यह घोषणा की कि शब्द धातुओं से निकले हैं।
4. **पाणिनि की अष्टाध्यायी**– ईसा से 700 वर्ष पूर्व बनी। पाणिनि पूर्व गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि वैयाकरण हो चुके थे, किन्तु उनके ग्रंथ अब नहीं मिलते हैं। पाणिनि के पूर्व के वैदिक व्याकरण को प्रतिशाख्य कहते थे। लौकिक-प्रतिशाख्य और कात्यायन-प्रतिशाख्य अब भी मिलते हैं।

शिक्षा, छन्द, निरुक्त और व्याकरण, असल में वे ही चार वेदांग हैं, जिनका सम्बन्ध वेद के विषयक विज्ञान से है। किन्तु दो और विद्याओं को मिलाकर वेदांग छह कहे जाते हैं।

1. पाणिनी शिक्षा : 41–42

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृष्ठ-78

2. बृहदारण्यक उपनिषद् : द्वितीय अध्याय, पंचम ब्राह्मण।

5. यह आर्यों का एक मात्र भौतिक शास्त्र था। जयचन्द जी का कहना है कि अब वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

6. जिस प्रकार वेदों के कर्मकाण्ड पक्ष के नियमन के लिए ब्राह्मण ग्रंथों का निर्माण हुआ, उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों की व्याख्या के लिए कल्प सूत्र बने। कल्पसूत्रों में, व्याजान्तर से, आर्यों का सामाजिक जीवन चित्रित है। कल्प सूत्रों दो प्रकार के हैं। एक श्रोत्र सूत्र, जिनमें आर्यों के यज्ञ का वर्णन है। जिनसे भारतीय यज्ञ पद्धति का मूल स्वरूप जाना जा सकता है। दूसरा स्मार्तसूत्र जिसके दो भेद हैं (2) धर्मसूत्र में राजा तथा प्रजा के धर्म, धार्मिक नियमों और वर्णाश्रम-विधान का वर्णन है। भारतीय संस्कृति के विकास क्रम में उपनिषदों का विवेचन भी अपेक्षित है।

वैदिक साहित्य में वेदांगों के बाद, उपनिषदों का स्थान आता है। मुक्तिक उपनिषद के अनुसार सभी उपनिषदों की संख्या 108 है। किन्तु पंडित सबको समान महत्व नहीं देते। ऐतिहासिक दृष्टि से वे ही उपनिषद् महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, जिनकी रचना बुद्धदेव के आर्विभाव के पहले ही हो चुकी थी। उपनिषदों की रचना बहुत बाद तक होती रही। इस तथ्य का प्रमाण यह है कि अल्लोपनिषद् (अल्ला का उपनिषद्) की रचना अकबर के समय में हुई। शंकराचार्य ने जिन उपनिषदों की टीका लिखी है, उनके नाम हैं—¹ (1) ईश (2) केन (3) कठ (4) प्रश्न (5) मुण्डक (6) माण्डूक्य (7) त्रैत्तिरीय (8) ऐतरेय (9) छान्दोग्य (10) वृहदारण्यक (11) नृसिंह पूर्वतापनी इसके अतिरिक्त उन्होंने पांच-छह अन्य उपनिषदों से उदाहरण दिये हैं।

भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण स्रोत उपनिषदों का उद्गम संहिताओं में प्राप्त होता है। पश्चिमी विद्वानों का आग्रह है कि संहिताओं में केवल कर्मकाण्ड पर ही जोर दिया गया है। ज्ञानकांड का उदय तो कर्मकाण्ड के विरोध रूप में उपनिषदों में हो सर्वप्रथम हुआ। परन्तु उपनिषदों का अध्ययन इस धारणा को निरावलंब तथा भ्रान्त सिद्ध करता है। इस विषय में एक

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृष्ठ-78

उदाहरण प्रस्तुत है। वृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के पंचम ब्राह्मण में मधुविद्या का बड़ा ही सुन्दर तथा साझोंपाङ्ग विवेचन किया गया है। मधु विद्या का पर्यवसान आत्म विद्या में होता है — “अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयो अमृतमयः पुरुषो यश्चायत्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो डयमेव स योऽयत्मात्मत्मे दममृत मिदं ब्रह्मैदं सर्वम्।।”

मधु विद्या के प्रतिपादन के अनन्तर उपनिषद् का कथन है कि इस मधुविद्या को दध्यड. आथर्वण ऋषि ने अश्विन से कहा था और इसके प्रमाण में तदेतद् ऋषिः पश्यन्नवोचत्, कहकर ऋग्वेद के चार मंत्र उद्धृत किये गये हैं।

तद् वां नरा सनये दंस उग्र
माविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।
दध्यड. ह यन्मध्वाथर्वणो वा,
मश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच।।²

इस मन्त्र के तृतीय चरण में मधुविद्या का नितान्त स्पष्ट उल्लेख है। पूर्वा पर के विचार करने से हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि ऋग्वेद के पूर्वोक्त मंत्र में निर्दिष्ट विद्या करती उपनिषद् में उपवृंहण पाते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के आरम्भिक पांच मंत्र वाजसनेयी संहिता के 11वें अध्याय से उद्धृत किये गये हैं। द्वैतवाद का प्रधान उद्बोधक मंत्र – द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं तयोरन्यः पिपातां स्वाद्वत्तिं परिषस्वजाते। अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।³

यह ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 164वें सूक्त की बीसवीं ऋचा है तथा अथर्ववेद के नवम् कांड के नवम सूक्त का बीसवां मंत्र है। ऐसी दशा में उपनिषदों को नवीन ज्ञान के आलोक में हम आलोकित कैसे मानें? संहिताओं में ज्ञान के मूल तत्वों का दिग्दर्शन ऋषियों ने अपने प्रतिभ चक्षु से निरीक्षण कर

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृष्ठ-193
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृष्ठ-194
3. बृहदारण्यक उपनिषद् : द्वितीय अध्याय पंचम, ब्राह्मण।

स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है। ब्रह्म की सर्व व्यापकता का वर्णन अनेक सूक्तों में उपलब्ध होता है। इसके सबसे सुन्दर दृष्टान्त ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (10/9) अदिति सूक्त (1/89) तथा अथर्ववेद के स्कम्म सूक्त (10 कांड 7-8 सूक्त), उच्छिष्ट सूक्त (11/9) है वह सहस्र सिर वाला, सहस्रनेत्र तथा सहस्रपाद वाला 'पुरुष' चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर कर परिमाण में

दश अंगुल अधिक अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्। पुरुष सूक्त की स्पष्ट उक्ति है कि जो कुछ इस समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला सब पुरुष ही है—1

पुरुषं एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।

गौतम ऋषि का अनुभूत सत्य है कि अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता, पिता तथा पुत्र है। अदिति ही समस्त देवता रूप है और वही समग्रवर्णों की समष्टि है जो कुछ उत्पन्न हुआ है और होने वाला है, वह सब अदिति ही है।²

अथर्ववेद में इसी परम तत्व को 'स्कम्म' तथा 'उच्छिष्ट' के अभिधानों से अभिहित किया गया है। दृश्य प्रपञ्च के निषेध रहने पर जो अवशिष्ट रहता है वही 'उच्छिष्ट' है। अतः 'उच्छिष्ट' व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ हुआ प्रपञ्च रहित, बाध—रहित ब्रह्म। अथर्व श्रुति कहती है— उच्छिष्ट पर नाम—रूप अवलम्बित रहता है; उच्छिष्ट ही इन्द्र और अग्नि है। यह समग्र विश्व उसी के भीतर सम्यक् रूप से स्थापित³ है। वेदान्त के इतिहास में 'नामरूप' की कल्पना कितनी महत्वपूर्ण है इसे दर्शन का हर अध्ययनार्थी जानता है।

ये उपनिषद् क्या हैं? वैदिक ऋषियों के द्वारा चक्षु से साक्षात् किये गये अनुभूतियों के भण्डार हैं। वे आध्यात्म के मानसरोवर हैं, जहां से ज्ञान सरितायें निकल कर भारत वर्ष के इस पुण्य भूमि में जनमानस को उर्वर बनाती हुई सर्वत्र प्रवाहित होती हैं। भारतवर्ष की धार्मिक तथा दार्शनिक धारायें यहीं से प्रवाहित

1. ऋग्वेद : पुरुष सूक्त मंत्र—2

2. आचार्य बलदेव उपाध्याय संस्कृति के आधार ग्रंथ—पृष्ठ—194।

3. वही— पृष्ठ— 196।

होती हैं। उपनिषद् के महत्व का तो यह एक पक्ष है। इस महत्व का दूसरा पक्ष है उसका संसार के महनीय दार्शनिकों के ऊपर अपना व्यापक प्रभाव डालना। शापेन—हावेर ने किस प्रकार अपनी गुरुत्रयी में प्लेटो और कैंट के अतिरिक्त उपनिषदों को भी प्रमुख माना है, इस बात को यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यूनानी दार्शनिक पाइथेगोरस तथा मध्ययुगीन दर्शन निओ प्लेटोनिज्म पर उपनिषदों के प्रभाव को भुलाया नहीं जा सकता। बाईबिल तथा कुरान के

सिद्धान्तों पर भी इन ग्रंथों का प्रभाव पड़ा है। उपनिषद् के सिद्धान्त बाईबिल के सिद्धान्तों के समझने के लिए कुंजी का काम करते हैं। बाईबिल कहती है कि अपने पड़ोसी से प्रेम करो। परन्तु इसके कारण के विषय में वह नितान्त मौन है। इसके कारण का रहस्य उपनिषदों का उपनिषद् का अद्वैतवाद उद्घटित करता है। जगत् में सर्वत्र एक ही परमतत्त्व रमा हुआ है, तो अपना पड़ोसी भी अपनी ही आत्मा ठहरा। पड़ोसी से प्रेम करना तो अपने आप से प्रेम करना¹।

हमारी यह परम्परा रही है कि सब वर्तमान विचाराधाराओं के विकास को वेदों में ढूँढना रहना चाहते हैं, प्रायः वे प्राप्त भी होते हैं। उपनिषद् वेद के विकास की कड़ी हैं। वेदों के तथ्य अपने विकासमान पहलू के रूप में उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। वेदों में प्रकृति तत्त्वों को सजीव मानने की परम्परा रही है इस स्थूल विचारधारा का प्रतिवर्तन उपनिषदों में ध्यान क्रिया का आधार बनता है पहले वेदों में बुद्धदेव वाद का विकास है तत्पश्चात् सभी प्रकृति उपादानों में एक ही परमात्मा का आभास उपनिषदों का मूल विषय माना जाता है। उपनिषदों में सूक्ष्म चिन्तन है, इसका मूल रूप 'नासदीय सूक्त' में दिखाई देता है। यहां मनुष्य जाति का सबसे बड़ा स्वाधीन चिन्तन है। ऐसा लगता है कि जिन प्रश्नों को लेकर उपनिषद् जूझते हैं वह आज भी जूझने का विषय है। इस सूक्त में कहा गया है— सृष्टि में प्रथम अन्धकार से अन्धकार ढका हुआ था। सभी कुछ अज्ञात और सब जलमय (अविभक्त) था। अविद्यमान वस्तु के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वही एक तत्त्व उत्पन्न हुआ। “प्रकृत तत्त्व को

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय संस्कृति के आधार ग्रंथ—पृष्ठ—196।

कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करें? यह सृष्टि किस उत्पादन—कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियां हुई? क्या देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहां से सृष्टि हुई इसे कौन जानता¹ है?

वेद के अन्तिम भाग में विवृत उपनिषद् भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण आधार हैं। यहां से दर्शन की विराट परम्परा फूटती है। क्षितिजल पावक, गगन और वायु, इन पांच तत्त्वों से हुई है। इन पांच तत्त्वों का स्वामी महतत्त्व है जिनमें वे पांचों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। काल पाकर वह महतत्त्व (जिसे हम प्रकृति का मूल तत्त्व कह सकते हैं) फैलने लगता है। महतत्त्व के इसी फैलाव

को हम सृष्टि की रचना या विकास कहते हैं। एक निश्चित समय के बाद महत्व का फैलाव सिमटने लगता है, यह सिमटाव प्रलय कहलाता है। उपनिषदों में इस प्रकार के विकास या प्रलय को मकड़े के जाले के उपमा से समझाया है²।

मकड़े के भीतर से जाली निकल कर चारों ओर छा जाती है, यहीं सृष्टि का बनना है। फिर वह जाली सिमट कर भीतर चली जाती है, यही सृष्टि का विनष्ट होना है। यह मकड़े को महत्त्व माना गया है। महत्त्व प्रकृति का मूल तत्व है। सृष्टि इसी महत्त्व से निकलती है, उसी से वापस भी चली जाती है।

जो यह मानते हैं कि महत्त्व जड़ है उससे चेतन सृष्टि कैसे हो सकती है, वे मानते हैं कि सृष्टि की रचना ब्रह्मा ने की है, वे द्वैतवादी कहलाते हैं। अद्वैतवादी यह मानते हैं कि ब्रह्म निराकार एवं निर्विकार है। वैदिक युग में अद्वैतवाद का ही महत्व था बाद में भक्ति भावना के प्रबल होने पर द्वैतवाद को महत्व दिया जाने लगा। उपनिषदों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि जीवन का लक्ष्य स्वर्ग पाना नहीं अपितु सृष्टि के बन्धन से मुक्ति पाना है। वेदों में प्रतिपादित मुख्य धर्म यज्ञ, उपनिषदों में आकर यह गौण हो गया तथा तप आत्मविद्या को महत्व दिया जाने लगा। उपनिषदों का विचार है कि जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार ब्रह्म कण-कण में व्याप्त है।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 134।

2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 129।

आत्मा और परमात्मा को उपनिषद् एक मानते¹ हैं। जब कुम्हार कोई घड़ा बनाता है, तब आकाश का एक खण्ड उस घड़े में व्याप्त हो जाता है। घड़ा शरीर है और घड़े के भीतर व्याप्त आकाश ही आत्मा है। जब घड़ा फूट जाता है, तब उसमें बंधा हुआ आकाश बड़े आकाश में मिल जाता है, उपनिषद् कहते हैं कर्म फलवाद का सिद्धान्त सही है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म सुधारे। गीता में कहा गया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानम व सादयेत्

आत्मैन हयात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः²

मनुष्य को चाहिए कि वह अपना उद्धार अपने द्वारा करे।

वस्तुतः आत्मा का जो विवेचन उपनिषदों में हुआ है वह मनुष्य के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास का एक महत्वपूर्ण सोपान है।

उपनिषदों को जो मूलतत्त्व है वह वर्तमान मानवतावाद के निकट है। उदाहरण के लिए भक्ति तत्त्व जो विकास हमें मध्यकाल में दिखाई देता है, उसमें भी मोक्ष की अपेक्षा भक्ति का महत्व अधिक दिखाई देता है—

रसखान कहते हैं—

“मानुष हौ तो वही रसखान, बसौ ब्रज गोकुल गांव ग्वारन
जो पसु हौ तो कहा वस मेरो, चरौ नित नंद के घेनुमझारन
जो खग हौ तो वसेर करो, मिलि कालिदिंकूल कंदेब की,
पाहन हौ तो वही गिरिकों डारन, जो धरयौ करि छत्र पुरन्दरन धारन।

1. बृहदारण्यक उपनिषद् : 5:19

2. भगवत गीता : स्पष्ट अध्याय श्लोक — 5

वस्तुतः भक्ति की कालिंदी मध्यकाल में प्रवाहित हुई, उसमें भी भारतीय संस्कृति का वह अविरल प्रवाह है जो मोक्ष की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्व देता है।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपनिषदों की तात्त्विकता जिसमें मानवता घुली हुई है। इस संदर्भ में रामधारी सिंह दिनकर की पंक्तियां उल्लेखनीय हैं— “आत्मा परमात्मा पुनर्जन्म और कर्मफल वाद के विषय में वेदों में जो हल्की—महीन कल्पनाएं थी, उपनिषदों में आकर उनका विपुल विकास हो गया है और भारतवासी यह मानने लगे कि धर्म का जो असली सूक्ष्म तत्त्व है वह यज्ञवाद और पशुहिंसा से उपलब्ध नहीं हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त

है और जड़ तथा चेतन सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है।¹ यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतीय संस्कृति में विविध संस्कृतियां मिली हुई हैं। आर्य संस्कृति के साथ द्रविड़, मंगोल यूनानी, शक आमीर, हूड, सभी का प्रभाव हमारी संस्कृति पर पड़ा है। संस्कृति के विकासात्मक क्रम में हम जानते हैं कि ईशा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारत पर सिकन्दर ने आक्रमण किया था। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद, पश्चिम से यूनानियों का बड़ा दल आया। ईसा से प्रायः एक सौ वर्ष पूर्वी युची और शक जातियों के लोग हिन्दुस्तान आये। चौथी शताब्दी में यहां हूणों का बहुत बड़ा दल आया। ईसा 100 वर्ष पूर्व आमीर जाति यहां आकर बस चुकी थी। किन्तु, जब मुसलमान इस देश में आये तब यहां केवल हिन्दू जाति का निवास था। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविण और आर्य, मंगोल, यूनानी, युची शक तथा आमीर तथा हूण और तुर्क इनका कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा था और ये, सबके सब हिन्दू समाज के चारों वर्णों में बंटकर भली-भांति पच खपचुके थे। कई प्रकार की औषधियों को कड़ाह में डालकर जब काढ़ा बनाते हैं, तब उस काढ़े का स्वाद हर एक औषधि के अलग-अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न हो जाता है। असल में उस काढ़े का स्वाद सभी औषधियों के स्वदों के मिश्रण का परिणाम होता है। भारतीय संस्कृति भी इस देश में आकर बसने वाली अनेक जातियों की संस्कृतियों के मेल से तैयार हुई है और अब यह पता

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 64।

लगाना बहुत मुश्किल है कि उसके भीतर किस जाति की संस्कृति का कितना अंश है। चूंकि काढ़ा औंटने का काम आर्यों ने किया, इसलिए भारतीय संस्कृति पर आर्यों के नाम का बौद्धिक लेबुल साफ पड़ा जा सकता है। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि औषधियां आर्यों ने अनेक जातियों से ली और सबका उन्होंने उचित मात्रा में परिपाक किया।'

वस्तुतः भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों की रासायनिक मिश्रण है। आर्य संस्कृति के साथ जो संस्कृतियां यौगिक रूप में विद्यमान हैं। उनमें महत्वपूर्ण एवं शोध स्थापन के अपेक्षानुरूप प्रकाशित करने का प्रयास किया जायेगा। ऋग्वेद में कहीं ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया और उसे जीता किन्तु, संस्कृत और तमिल के प्राचीन साहित्य से

यह बात स्पष्ट होती है कि संस्कृत भाषी आर्य आरंभ में विन्ध्य के उत्तर में ही सीमित थे, विन्ध्य के दक्षिण में वे लोग बसते थे, जिनकी भाषा संस्कृत नहीं थी। प्राचीन तमिल साहित्य में भी संस्कृत भाषियों को 'वडवंर' कहा गया है इसके साथ ही नवीन संस्कृत साहित्य में दक्षिणात्य शब्द द्रविणों के लिए प्रयुक्त हुआ है। आर्य दक्षिण भारत तक बहुत धीरे-धीरे पहुंचे थे। वैदिक साहित्य में दक्षिण भारत का उल्लेख नहीं है।

डॉ० नीलकंठ शास्त्री ने विन्सेण्ट का उदाहरण देते हुए लिखा है—“प्राचीन भारत के अब तक इतिहासकारों ने इतिहास यों लिखा है मानो दक्षिण का अस्तित्व ही न हो।”²

तो भी इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं द्रविड़ संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रभाव है। यह सत्य है आर्य संस्कृति का तुमुलनाद ऊंचा अवश्य है परन्तु अन्य संस्कृतियों का यौगिकीकरण भी उल्लेखनीय है। आर्य दक्षिण भारत तक बहुत धीरे-धीरे पहुंचे थे। तमिल परम्परा बताती है कि अगस्त्य के दक्षिण गमन के पूर्व तमिल देश जंगलों से भरा था और आबादी वहां बहुत कम थी। रामायण के अनुसार रामचन्द्र का अगस्त्य साक्षात्कार दण्डकारण्य में हुआ था। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 115
2. नीलकंठ शास्त्री : दक्षिण भारत का इतिहास : पृष्ठ— 1

चेर देश में आर्य संस्कृति परशुराम के समय पहुंच चुकी थी। रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है— केरल से यह जनश्रुति भी चलती है कि केरल और कोंकण की भूमि को समुद्र से निकालने का काम परशुराम ने किया था।¹

तमिल परम्परा की कथा यह है कि शिव और उमा के विवाह के समय दक्षिण के सभी ऋषि मुनि उत्तरस्थ हिम पर्वत पर पहुंच गये, जिससे पृथ्वी का सन्तुलन बिगड़ गया। इससे घबरा कर देवताओं ने शिव से प्रार्थना की कि आप किसी ऐसी तेजस्वी ऋषि को दक्षिण भेज दें जिसके आकर्षण से वहां मनुष्य लौट सकें। इस काम के लिए शिवजी ने जिस व्यक्ति को चुना, वे ऋषि अगस्त्य थे। इससे आगे की कथा ऐसी है जिससे प्राचीनों की दूरदर्शिता का पता चलता है और यह विदित होता है कि उत्तर दक्षिण के बीच गहनतम भावात्मक एकता बनाये रखने का उन्हें कितना ध्यान था।

कथा यह है कि जब अगस्त्य जी को दक्षिण जाने की आज्ञा हुई उन्होंने शिवजी से कहा कि दक्षिण की भाषा तो मैं जानता हूँ नहीं फिर वहां जाकर मैं करूंगा क्या? इस पर शिवजी ने अपनी बायीं ओर अगस्त्य को खड़ा किया और दक्षिण की ओर व्याकरणाचार्य पाणिनि को और वे दोनों पक्षों से अपने डमरू पर थाप मारने लगे। इससे बायीं थाप से जो शब्द निकले, उससे तमिल भाषा बनी और दायीं थाप से जो शब्द छिटके, उनसे संस्कृत निर्माण हुआ। इसी शिक्षा का उपयोग करके 'अगस्त्य' नामक व्याकरण लिखा, जो तमिल का आदि व्याकरण माना जाता है।² इस प्रकार तमिल परम्परा के अनुसार, तमिल और संस्कृत भाषाएं कभी एक ही उद्गम से निकली थी।

अगस्त्य उत्तर और दक्षिण भारत के बीच सेतु थे, इसका आख्यान उत्तर भारतीय परम्परा में भी है, तमिल और भाषा बहुत अर्थों एक परम्परा से जुड़ी हुई हैं। दोनों के सम्बन्धों को हम अनेकल स्तरों पर पाते हैं। उदाहरणार्थ तमिल में

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 64।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 64।

र को ल और ल को र कर देने का रिवाज है। यह रीति संस्कृत 'रलयोग भेदः' सूत्र में ढूँढा जा सकता है। रेवरेड क्रिटेल ने कन्नड़-इंग्लिश जो तमिल में तत्सम रूप में मौजूद हैं। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने 'आइरम' शब्द को 'सहस्त्रम्' का रूपान्तर बताया है। इसी प्रकार 'स्नेह' के लिए भी शब्द तमिल में हुआ है।¹

सांस्कृतिक सम्मेलन भाषा के माध्यम से सामान्य रूप से पहचाना जाता है। इसके अतिरिक्त धार्मिक में संस्कृति के स्त्रोत आसानी से ढूँढे जा सकते हैं।

यजुर्वेद – संहिता की दो शाखाएं हैं जो क्रमशः शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के नाम से विख्यात हैं। उत्तर भारत में अधिक प्रचार शुक्ल का और दक्षिण भारत में अधिक प्रचार कृष्ण यजुर्वेद है। कृष्ण यजुर्वेद में कार्तिकेय, स्कन्द, और गौरी, इन पौराणिक देवताओं का उल्लेख होने के कारण डॉ० मंगलदेव शास्त्री उसे वैदिकेतर धारा से प्रभावित मानते हैं।

गृह सूत्रों के अनेक लेखक दक्षिण भारत के हैं जैसे आपस्तम्ब। धर्मसूत्र के रचयिता सत्याषाढ—हिरण्य केशी मालाबार के थे। इतना ही नहीं वेदों को पुनरुज्जीवित करने वाले महान् पण्डित सायणाचार्य दक्षिण के थे। विष्णु पुराण एवं भागवत पुराण के बारे में ऐसा कहा जाता है कि इनकी रचना दक्षिण में हुई थी। भारवि दक्षिण के थे। भवभूति बरार में जन्मे थे। मुकुन्द माला नायक काव्य के कर्ता कुलशेखर कवि केरल देश के राजा थे। बृहत्कथा के लेखक गुणादय दक्षिण के थे। इसके सिवा, अप्पय दीक्षित, भट्टोजि दीक्षित, मल्लिनाथ, मल्लिनाथ सुत और पण्डितराज जगन्नाथ, ये सब के सब महातेजस्वी, चिन्तक दक्षिण में ही जन्मे थे। इस सूची को भी ज्यादा लम्बा बनाना व्यर्थ है। संस्कृत साहित्य पर जितना ऋण उत्तरवालों का है उतना ही ऋण दक्षिणात्यों का भी है। अब लोग क्षेत्रवाद की बात करते हैं, एक समय था जब सारा भारत संस्कृत को ही अपनी देश-भाषा मनाता था। जब हम संस्कृति की बात करते हैं तो भाषा की बात स्वतः समक्ष उपस्थित हो जाती है। प्रत्येक प्राचीन जाति का संस्कार, उसकी

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 67।

आत्मा और उसके प्राण उसकी अपनी भाषा में बसते हैं। भारत की आत्मा और भारत के सूक्ष्म संस्कारों का निवास संस्कृत में है। संस्कृत इस देश में बसने वालों लोगों की सेवा और नहीं तो तीन-चार हजार वर्ष से करती आयी है। भारत की सभी भाषाएं संस्कृत के घाट पर पानी पीकर आयी है और आज भी उनका उपजीव्य यही भाषा है। भारत की आधुनिक भाषाओं में नये शब्द बनाने की शक्ति समाप्त है। अब भारत की जो भी भाषा नया शब्द खोजती है उसके सामने संस्कृत की ओर जाने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। इसी संस्कृत पर आधारित होने के कारण भारत की सभी भाषाएं एक हैं क्योंकि उनके शब्द एक हैं, उनकी तर्ज भगिमा और अदाएं एक हैं तथा एक ही सपने का आख्यान अलग लिपियों में करती हैं।

वस्तुतः आर्य एवं द्रविड़ संस्कृति के सेतु के रूप में संस्कृत भाषा का स्थान रहा है या दूसरे शब्दों में दोनों संस्कृतियों के विविक्तकार संस्कृत में सुरक्षित है।

आर्य द्रविण स्वभाव — आर्य और द्रविड़ साहित्य की प्रकृति एक है। उग्र की दृष्टि से संस्कृत बड़ी, भारत की अन्य सभी भाषाएं उससे छोटी बहुत छोटी हैं। यहां तक कि तमिल जो

भारत की अर्वा चीन भाषाओं में सबसे प्राचीन हैं, संस्कृत उससे भी कम से कम दो हजार वर्ष पुरानी है। अतएव भारत को जो कुछ भी कहना था, उसने पहले संस्कृत में कहा। बहुत बाद में जब अर्वाचीन भाषाओं का उदय हुआ, उनमें भी भावानुभूति और चिन्तन की वही प्रक्रिया उद्धृत हो गयी जो संस्कृत में विकसित हुई थी। अतएव, हिन्दू-संस्कृति की मूल भाषा संस्कृत रही। बाकी भाषाओं का एक लम्बा-सा इतिहास केवल संस्कृति की उद्धरणी का इतिहास है।

इस दृष्टि से देखने पर आर्य और द्रविड़ स्वभाव को परस्पर भिन्न बताना निराधार लगता है। कुछ विद्वानों की राय में दोनों संस्कृतियों में भिन्नता है। आर्य एवं द्रविड़ दोनों संस्कृतियों के बराबर मिलने से एक का विश्वास दूसरे का

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 73।

विश्वास बन गया। नदियों के समान प्राचीन संस्कृतियों के उद्गम के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विशेषतः हिन्दू संस्कृति तो महानद के समान है। उसके भीतर अनेक नदियों का जल समाहित हुआ है। तभी वह इतना विस्तृत और अथाह दिखता है। फिर भी इस महानद को विशेष रूप से पुष्ट बनाने वाली दो महाधाराएं अवश्य हैं, जिन्हें हम आर्य और द्रविड़ विशेषणों के रूप में अवश्य जानते हैं। औसत मुसलमान कवि औसत हिन्दू विचारक होता है। इसी न्याय से हम कह सकते हैं कि आरम्भिक आर्य, आरम्भिक द्रविणों की अपेक्षा भावुक अधिक थे। सभ्यता ज्यों-ज्यों प्रगति करती है, आदमी की चिन्तन-शीलता उसके कवित्व को दबाती जाती है। द्रविण सभ्यता में, आर्यों से आगे थे यानी आर्यों की अपेक्षा वे अधिक प्राचीन थे। अतएव, उनकी कल्पना में चिन्तन भी रीढ़ पैदा हो चुकी थी। आर्य भारत में पहुंचने के पूर्व अधिकतर घुमक्कड़ और मौजी जीव रहे थे, अतएव उनके भीतर यह उत्साह वर्तमान था कि प्रकृति के सौन्दर्य पर चकित हो सके। किन्तु द्रविणों का चिन्तन कवित्व साथ, कदाचित वे सूर्यास्त भी कई बार देख चुके थे, जिसके कारण जीवन की निस्सारता का बोध उन्हें होने लगा था। सभ्यता यदि संस्कृति का अधिभौतिक पक्ष है तो इस पक्ष का अधिक विकास आर्यों ने किया है। इसी प्रकार भारतीय साहित्य के भीतर भावुकता की तरंग, अधिकतर आर्य-स्वभाव के भावुक होने के कारण बढ़ी। किन्तु भारतीय की कई कोमल विशिष्टताएं जैसे अहिंसा, सहिष्णुता और वैराग्य भावना, द्रविण

स्वभाव के प्रभाव से विकसित हुई है। यह देश आर्यों के आगमन से पूर्व से ही अहिंसक, अल्पसंतोषी और सहिष्णु रहता आया था। आर्यों ने यहां आकर भी जीवन की धूम मचा दी। प्रवृत्ति और आशावाद के स्वर से पूरे समाज को पूर्ण कर दिया। किन्तु जब उनका यज्ञवाद, भोगवाद का पर्याय बनने लगा और अभिषप्रियता से प्रेरित ब्राह्मण जीव हिंसा को धर्म मानने लगे इस देश की संस्कृति यज्ञ और जीवघात दोनों से विद्रोह कर उठी। महावीर और बुद्ध भारत की इसी समातन संस्कृति के उद्घोष थे। अति का उत्तर बराबर अति तक पहुंच कर सकता है। यदि आर्यों का यज्ञवाद खुल्लमखुल्ला, जीव हिंसा को

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 70।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 71।

औचित्य प्रदान नहीं करता अथवा ब्राह्मण यदि धर्म को अपनी भोग लोलुपता का साधन नहीं बनाते अथवा यदि उन्होंने यह भाव कायम रखा होता कि जन्मना श्रेष्ठ होने के लिए भी ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व पर आरुढ़ रहना चाहिए, तो वैदिक धर्म के प्रति उठने वाले विद्रोह करता तक नहीं पहुंचते, न निवृत्तिवादी विचारधारा को उतनी शक्ति प्राप्त होती, जितनी शक्ति उसे जैन और बौद्धमतों से प्राप्त हुई।

वैदिक युग के आर्य मोक्ष के लिए चिन्तित¹ नहीं थे, न वे संसार को असार मानकर उससे भागना चाहते थे। उनकी प्रार्थना की ऋचाएं ऐसी हैं, जिनसे पस्त से वस्त आदमियों के भीतर भी उमंग की लहर जाग सकती है। उन्हें¹ ऋत का ज्ञान प्राप्त हो चुका था और वे मानते थे कि सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चालित और ठहरी हुई है तथा उस शक्ति की आराधना करके मनुष्य जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है। किन्तु बराबर उनकी प्रार्थना लम्बी आय, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिए ही की जाती थी वे जीवेम शरदः शतम् पश्येम शरदः शतम् की कामना करते थे। जिन आर्यों की प्रार्थनाओं में इतनी जीवंतता थी वे ही जैन और बौद्ध मतों के उत्थान के समय भरी जवानी में सन्यास लेने लगे, रक्त-पात से घबराकर युद्ध विमुख होने लगे और खेती करने से कहीं कीट पतंग न मर जाये, इस चिन्ता से कातर होकर कोई और रोजगार ढूँढ़ने लगे।

आर्य कर्म के उपासक थे। कर्म, ज्ञान और भक्ति में से कर्म तो सोलह आने आर्यों की देन है किन्तु ज्ञान और भक्ति का विकास प्राग्वैदिक संस्कृत के प्रभाव से हुआ। सम्प्रति धर्म साधकों में ज्ञान और भक्ति का प्रवाह ही विद्यमान है।

निवृत्ति और अवसाद भारत की सनातन परम्परा में विद्यमान थे। आर्यों के आने के बाद यहां उत्साह एक प्रबल तरंग अवश्य उठी, किन्तु वैदिक आशावाद और उत्साह की प्रबलता चिर स्थायी नहीं हो सकी। जो लोग भी

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 72।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 72।

ऋचाएं रचते थे। स्वयं वे ही अवसाद के गीत गाने लगे। भारतीय संस्कृति में कोई अजेय शक्ति है, जिसने पराजय नहीं जानी है। इसी शक्ति के कारण भारत सबको स्वीकार करने के बाद भी भारत ही बना रहता है और जब हम भारत कहते हैं तब हमारा लक्ष्य वह भारत होता है, जिसका मूल प्राग्वैदिक काल भी गहराईयों में छिपा हुआ है। इस भारत ने केवल उन्हें ही नहीं पचाया, जो आर्यों के बाद आये थे, उसने आर्यों को भी पचाकर उन्हें प्राग्वैदिक भारत का अंग बना दिया। भारतीय संस्कृति के प्राग्वैदिक तत्व आज भी उसके वैदिक तत्वों से अधिक प्रबल और प्रसार पूर्ण हैं।

आर्यों का अपना धार्मिक कृत्य होम था।² किन्तु आज घर-घर में हवन नहीं पूजा का प्रचार है, जिसमें धूप दीप, अक्षत और नैवेद्य के साथ लोग अपने देवता की आराधना करते हैं, पूजा शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ० रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं— अब लोग समझते हैं कि यह शब्द प्राचीन तमिल की दो धातुओं पू और जै (शई) के योग से बना है, तमिल में पू का अर्थ पुण्य कर्म होगा। यहां फिर शोधकर्ता की राय पूज धातु संस्कृत से निकली है, अहिंसा की परम्परा के मूल में द्रविड़ दिखाई देती है क्योंकि हवन पशु कर्म¹ था। संस्कृति के क्रम में वर्ण व्यवस्था एवं जाति विवेचनीय शब्द हैं।

भारतीय साहित्य में 'वर्ण' शब्द का उल्लेख पहले और जाति शब्द का उल्लेख बहुत बाद में मिलता है।³ इस प्रकार यह अनुमान लगाया गया है कि वर्णों की उत्पत्ति रंगभेद के कारण

हुई होगी किन्तु यह बात सत्य नहीं है। धर्मशास्त्रों में जाति और वर्ण का प्रयोग समानार्थक है और उसका आधार बीज क्षेत्र ही ठहरता है। डॉ० भीमराव अम्बेदकर ने शोधपूर्वक यह मत निरूपित किया है कि वेदों में यह प्रमाणित नहीं होता कि आर्यों का रंग दासों के रंग से भिन्न था। वर्ण का निर्धारण पहले व्यवसाय, स्वभाव, संस्कृति आदि के आधार पर ही था। पीछे जातिवाद के प्रकट होने पर वर्ण का आधार भी बीज क्षेत्र विचार हो गया¹।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 72।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 73।
3. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 73।

मूल वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का वर्गीकरण नहीं हुआ था। यह भी ध्यान देने की बात है कि समस्त ऋग्वेद संहिता में 'शूद्र' और राजन्य शब्द केवल एक बार आये हैं। शूद्र शब्द का यह उल्लेख केवल 'पुरुष-सूक्त' ऋग्वेद में बाद को जोड़ा गया प्रतीत होता है। कोलब्रुक और मैक्समूलर दोनों ही विद्वान यह मानते हैं कि पुरुष-सूक्त, शैली और भाषा दोनों ही दृष्टियों से ऋग्वेद की अपेक्षा बहुत नवीन है। डॉ० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार पुरुष-सूक्त, अन्तिम वैदिक की रचना है²। इस प्रकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों के उद्गमों के संकेत तो ऋग्वेद में मिलते हैं। किन्तु शूद्रों उद्गम का क्षेत्र स्पष्ट नहीं हो पाता।¹

डॉ० अम्बेदकर ने यह स्थापना गलत नहीं की है कि शूद्र उसी भाण्डार के हैं, जिसकी मुख्य शाखा क्षत्रिय आदि के रूप में विकसित¹ हुई।

जब हम ऋग्वेद का अवलोकन करते हैं कि ऋग्वेद काल में शूद्र तिरस्कृत नहीं थे। छांदोग्य उपनिषद् में कथा आई है कि टैक्व ने जनश्रुति को वेद पढ़ाया था किन्तु रैक्व गाड़ी वान, शूद्र थे। डॉ० अम्बेदकर ने कवष एलेषु को शूद्र बताया है।² यद्यपि, ऐलुष ऋग्वेद के दशम मंडल के कई मंत्रों के रचयिता थे। महाऐतरेय उपनिषद् के अनुसार भी कावषेय लोग दासी पुत्रों के वंशज थे, किन्तु वे यज्ञों के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन करते थे। वेदकालीन राज्य सूरदास शूद्र थे। वैदिक परम्परा के अनुसार वे राजर्षि विश्वामित्र के संरक्षक थे। सूरदास का राज्याभिषेक वशिष्ठ ने किया था और राजासूदास ने अश्वमेघ यज्ञ किया था²। ऋग्वेद में तीन ही वर्ण हैं, शूद्र को चौथे वर्ण के रूप में वहां गिना नहीं गया। शतपथ-ब्राह्मण और वस्तुतः शूद्र भी किसी न किसी प्रकार से द्विज के अंग हैं। जब हम कर्म के आधार पर वर्णों की उत्पत्ति की

बात सोचते हैं तब हम यह पाते हैं कि जातियों को खास धन्धों से बांध देने का रिवाज वैदिक युग के बाद प्रचलित हुआ। द्विज वृत्त के बाहर के लोग कर्मशुद्धि द्वारा द्विज वृत्त में प्रवेश पा सकते थे। मनुस्मृति में विगुण धर्म

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 74।

2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 74।

को दूसरों के धर्म से श्रेष्ठ माना गया है। दूसरों का सुविधाजनक धन्धा अपना कर जीने वाला मनुष्य जाति से च्युत हो जाता है। किन्तु अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण-व्यवस्था में काफी लचीलापन था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में आना-जाना असंभव नहीं था। इतिहास-पुराण में सैकड़ों उदाहरण वर्ण परिवर्तन के मिलते हैं।

पुरुषा क्षत्रिय राजा था। गांधी उन्हीं के वंश के थे। किन्तु गांधी की कथा सत्यवती से परशुराम के पितामह ऋचीक ने विवाह किया। इस प्रकार एक ही गांधी के पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय जामाता ऋचीक ब्राह्मण कहे गये हैं। कृष्ण द्वैपायन व्यास की माता सत्यवती धीवर जाति की थी, किन्तु, व्यास क्षत्रिय और ब्राह्मण सब पूजनीय थे। इस सन्दर्भ में अनुलोम और प्रतिलोम शब्द विशेष उल्लेखनीय हैं। उच्च वर्ण के पुरुषों का हीन वर्ण की स्त्रियों से अनुलोम विवाह कहलाता है। और हीन वर्ण के पुरुषों का उच्च वर्ण की स्त्रियों से विवाह प्रतिलोम विवाह। प्रतिलोम विवाह तो, आरंभ से ही, गर्हित समझा जाता था अनुलोम विवाह की पहले निन्दा नहीं थी। अनुलोम विवाह का प्रतिरोध अर्वाचीन है।

इस जातीय विवेचन के क्रम में यह भी उल्लेखनीय है कि वेद तथा यज्ञ के बारे में शूद्र का अधिकार तैत्तिरीय-संहिता के समय में ही अस्वीकृत कर दिया गया था। शूद्र का धर्म द्विजों की सेवा करना था। आरंभ जाति परिवर्तन पर कोई रोक नहीं था। जात-पात की ठीक जात-पात के रूप में स्थापना 10वीं शताब्दी ई0 में हुई।² आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार पुराने जमाने में इतना बंधेज नहीं था, शूद्र के हाथ पक्वान्न भी ब्राह्मण लोग ग्रहण करते थे³। वास्तविक तथ्य यह है कि ब्राह्मण का जितना सम्मान था उसके लिए उतने ही कठोर जीवन की व्यवस्था थी। शास्त्रों में संस्कारों को ऊंचा होने का शास्त्रों में दिखाया गया है— 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'।

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 76।

2. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 80।

महाभारत में कहा गया है — यदि शूद्र में सत्य आदि उपयुक्त लक्षण हैं और ब्राह्मण में नहीं है, तो वह शूद्र, शूद्र नहीं है, न वह ब्राह्मण, ब्राह्मण है। ये सर्प जिसमें मौजूद हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिनमें इन लक्षणों का अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिए। यह व्यास की आत्मा का स्वर है। यह जाति-प्रथा पर एक ऐसे मनीषी का मत है, जो अपने समय में देवता के समान पूज्य थे।

समन्वय की प्रक्रिया—भारत की अन्य जातियों ने आर्यों के द्वारा चलायी गयी जाति-प्रथा को स्वीकार कर लिया, यह हमारे में संस्कृति-समन्वय की ओर पहला कदम था। इससे इतना हुआ कि आर्य, द्रविण, औट्रिक और नीग्रो तथा सभी मंगोल खानदानों के लोग एक समाज के सदस्य हो गये, जिसका नाम आगे चलकर हिन्दू समाज पड़ा। लेकिन समन्वय की बातें यहाँ नहीं रूकीं और न यही हुआ कि आर्यों ने अपनी संस्कृति बाकी लोगों पर लाद दीं। आर्य अपनी संस्कृति का प्रचार करने को उत्सुक थे, यह ठीक है कि लेकिन सभी जातियों का जब एक समाज हो गया, तब सबकी आदतें, सबके रस्म रिवाज और सबके धर्म एक-दूसरे को प्रभावित करने लगे तथा इस प्रभाव से आर्य भी नहीं बच सके। बल्कि अचरज तो यह है कि आर्य जिन बातों पर खास तौर से जोर देते थे वे बातें पोथियों और पंडितों तक ही सीमित रह गयीं, विशाल जनता ने, अधिकांश में उन बातों को अपना लिया जो बातें द्रविड़ समाज में प्रचलित थीं अथवा जो रिवाज अन्य आर्यतर जातियों के लोगों में चले आ रहे थे। हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति का जो रूप है, उसके भीतर उन बातों की नहीं है जो ऋग्वेद में लिखीं मिलती हैं। बल्कि हमारे समाज की बहुत सी रीतियाँ और हमारे धर्म के बहुत से अनुष्ठान ऐसे हैं, जिनका उल्लेख वेदों में नहीं मिलता, उनके बारे में विद्वानों का मत है कि या तो वे आर्यतर सभ्यता की देन है अथवा उनका विकास आर्यों के आने के बाद आर्य और आर्यतर सभ्यता की देन है अथवा उनका विकास आर्यों के आने के बाद आर्य और आर्यतर संस्कृतियों के मेल से हुआ है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का तो यहाँ तक कहना है कि हिन्दू संस्कृति के आधे से अधिक उपादान आर्यतर संस्कृतियों से आये हैं¹।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 85।(महाभारत से उद्धृत)

2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 85 (महाभारत—वनपर्व)

केवल वेदों से हिन्दू धर्म के विकास की सारी समस्याएँ हल नहीं होती। उदाहरण के लिए शिव की पूजा हिन्दू समाज के जिस रूप में प्रचलित है, शिव का वह रूप वेद में नहीं मिलता। वेद के रुद्र—शिव प्रकृति के उग्र रूपों की कल्पना पर आधारित है। किन्तु वे भांग और धतुरा क्यों खाने लगे। गजाजिन और मुण्डमाल क्यों पहनने लगे। बैलों की सवारी क्यों करने लगे, सायों को शरीर में क्यों लिपटाने लगे और उनके नाम लिंग की पूजा क्यों चल पड़ी। इन आंकड़ों का समाधान हमें वेदों में नहीं मिलता। अतएव शिव भावना के विकास की कथा को समझने के लिए हमें आर्यों के समाज से बाहर द्रविड़ और औष्ट्रिक समाजों की ओर देखना पड़ता है। इसी प्रकार उमा भी, परमेश्वरी के रूप में, कल्पना उपनिषदों में मिलती है।

सिर्फ यही समझ में नहीं आता कि उनके चामुण्डा काली आदिकाल रूपों की कल्पना कैसे चल पड़ी। सांपों की पूजा, भूत प्रेत और पिशाच का भय नाना प्रकार के टोटके और ऐसी ही अन्य अनेक बातें हिन्दू धर्म में हजारों साल से चिपकी हुई हैं, इनका मूल वेद में नहीं मिलता। यदि देव पूजा में परिवर्तन को देखें तो समन्वय की ओर दृष्टि मुड़ती है। आर्यों के साथ अन्य जातियाँ भी इस देश में निवास करती थी अतएव एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

आर्य, द्रविड़ साथ रहने लगे। दोनों के बीच का संघर्ष मिट गया। आर्यों की शादियाँ आर्यतर जातियों से होने लगीं, जो स्त्रियों उनके घर आई वे अपने साथ अपनी जाति का रीति रिवाज भी साथ ले आई। इससे सांस्कृतिक मेल का अवसर मिला काल क्रम में यह सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ हो गया कि सारे देश में आर्य और द्रविड़ का संघर्ष मिट गया। आर्य द्रविड़ में तथा द्रविड़ आर्य में परिवर्तित हुए। इसके साथ भौगोलिक एकता का भी प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ रामायण में पवित्र धार्मिक स्थान के रूप में अयोध्या, जनकपुर, पंचवटी, रामेश्वरम् को प्रस्तुत किया गया है। उत्तर को आर्यों का देश और दक्षिण को द्रविड़ों का देश समझने का भाव यहां कभी नहीं पनपा। पुराणों में भारत की यह भौगोलिक

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 86।

एकता सर्वत्र दिखती है। उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्¹। वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।¹

एक स्थल पर सात नगरों को मोक्ष दायिनी बताया गया है—

अयोध्या—मथुरा—माया—काशी—कांची अवन्तिका, पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैताः मोक्ष दायिकाः ।²

इस धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता का प्रभाव भारत की राजनीति पर भी पड़ा। भारत में राष्ट्रीयता से बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्व रहा है। यहां के राष्ट्रीयता के भाव में केन्द्र में संस्कृति और धर्म था, सभी भारतीयों के मन देश का गौरव विद्यमान था।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्त ते भारत भूमि भागे ।³ स्वर्गीय वर्गास्पद मार्ग भूते भविन्त भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

देवगण भी गान करते हैं कि भारत भूमि में जन्म लेने वाले लोग धन्य हैं। स्वर्ग और अपवर्ग—कल्प इस देश में देवता भी देवत्व छोड़कर मनुष्य योनि में जन्म लेना चाहते हैं। हमारी संस्कृति की महानता का रहस्य उसकी सार्वजनीनता में निहित है। हमारे यहां देवताओं की उपासना में भी संस्कृति समन्वय शीलता के दर्शन होते हैं। शिव के स्वरूप में दूसरे संस्कृति का अन्वय स्पष्ट दिखाई देता है। शिव उपासना का सम्बन्ध द्रविड़ संस्कृति से है सिन्धु घाटी सभ्यता से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। गणेश और कार्तिकेय दक्षिण के देवता हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, उसमें अनेक संस्कृतियां मिली हुई हैं, हमने भारतीय संस्कृति के समन्वयशीलता को दिखाने के लिए उपर्युक्त विवेचन किया है। भारत में मुसलमान बाद में आते हैं तथा उनकी संस्कृति भी भारतीय संस्कृति में मिल जाती है।

1. वायु पुराण : पृष्ठ— 25।

2. विष्णु पुराण : पृष्ठ— 27।

3. विष्णु पुराण : पृष्ठ— 21, 31, 24।

भारत की विशेषता है कि जो नवागन्तुक इस देश में बस जाते हैं, उन्हें अपने समाज में खपाने की वह, कोई न कोई राह निकाल लेता है। जब आर्य यहां आये थे, उन्होंने अनेक जातियों को एक समाज में बांधने के लिए जाति की प्रथा निकाली थी पीछे, स्वयं आर्यों का

भारतीयकरण भारत ने उन्हें निवृत्तिवादी बनाकर पूरा किया। किन्तु जाति-प्रथा अब निकम्मी चीज थी। न तो हिन्दू इतने उदार रह गये थे कि मुसलमानों को वे अपनी जाति दीर्घा में बिठा सके, न मुसलमान अपनी इकाई खोने को तैयार थे। निदान, भारत की निवृत्ति इस्लामी तसब्बुफ की राह से हिन्दुओं और मुसलमानों को परस्पर समीप लाने का आन्दोल आरम्भ कर दिया। यहां यह उल्लेख करने योग्य है कि जब सूफी धर्म अपनी बुलन्दी पर था, तब तक भक्ति का आन्दोलन दक्षिण भारत से उत्तर में पहुंच चुका था। इन दोनों आन्दोलनों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की दूरी कम कर दी।

भारत में इस्लाम के दो रूप प्रकट हुए। मुसलमान शासक हिन्दुओं के द्रोही, मन्दिरों के भंजक और प्रतिमाओं के शत्रु थे। लेकिन मुस्लिम सूफी सन्तों हिन्दुओं के प्रति शत्रुता भाव नहीं था। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों का एक नये धर्म में दीक्षित करना चाहते थे, जो आत्मा का धर्म था, जो सच्ची मानवता का धर्म था।

सभी सूफीसन्त धर्म के वाह्याचारों और अनुष्ठानों की उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उनका सारा जोर प्रेम पर था, परमात्मा की भक्ति पर था। इसलिए इस्लामी मुल्ले उनके खिलाफ थे और इसलिए कबीर आदि का विरोध वैदिक धर्म के पंडितों ने भी किया। लेकिन भारतीय जनता का एक वर्ग ऐसा भी था जो वैदिक अनुष्ठानों और आचारों में विश्वास नहीं करता था, जिसके भीतर बहुत दूर, बुद्ध की प्रेरणा काम कर रही थी, जिसने सरहपा-नहपा आदि बौद्धसिद्धों के इस उपदेश को अपना लिया था कि यज्ञ झूठे हैं। पंडितों का आदर करने में कोई पुण्य नहीं है, न एकादशी और मंगल को व्रत रखने से आत्मा का कल्याण होता है। यह विचारधारा अहिंसा को मानती थी। आत्मचिन्तन की प्रक्रिया में विश्वास करती थी और प्रतिमा पूजन तथा तीर्थ यात्रा के विरुद्ध थी।

सूफियों के उपदेश सबसे अधिक इन्हीं लोगों को पसन्द आये और यहां लोग इस्लाम और हिन्दूत्व के बीच प्रथम सेतु हुए। हिन्दू से मुसलमान होने वालों में सबसे अधिक संख्या इन्हीं लोगों की थी और इसी वर्ग के लोग हिन्दू रहकर भी इस्लाम से, विशेषतः उसके सूफी-आन्दोलन से प्यार करने लगे। राजनीति के धरातल पर परस्पर बंटे हुए लोग धर्म के धरातल पर एक होने

लगे। जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर बढ़ने लगी। मुसलमान हिन्दुओं की राम कहानी सुनने को तैयार होने लगे और हिन्दू मुसलमानों की 'दास्ताने-हमजा' हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के बीच साधुता का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया। इस सन्दर्भ में अमीर खुसरो की भारत-भक्ति भी उल्लेखनीय है। खुसरो का जन्म 1253 ई० में हुआ था अर्थात् भारत पर इस्लामी राज्य के आरंभ से 61 वर्ष बाद भारत ने उस मुसलमान को जन्म दिया जो हिन्दुस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमानों का अग्रणी पुरुष था।

अमीर खुसरो अपने गुरु शेख निजामुद्दीन औलिया के मृत्यु पर कहा था— “गोरी सोवत् सेज पर मुख पर डाले केस, चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुं देस।।”

उपर्युक्त दोहे में भारतीय संस्कृति के जिस आधान का रूप विवृत हुआ है उससे यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि भारतीय संस्कृति के गरिमामय प्रकाशन मुसलमानों का अप्रतिम योग है। वह खड़ी बोली के प्रथम पुरोधा है। दिल्ली के आस-पास प्रचलित खड़ी बोली में साहित्य-सृजन का काम, सबसे पहले, खुसरो ने ही आरंभ किया था। उस समय हिन्दू अपना साहित्य डिंगल में लिखते थे। कुछ लोग अप्रभंश का प्रयोग करते थे।

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ— 334।

सांस्कृतिक आयाम में उनके अवदान कई रूपों में है। वे संगीत और वाद्ययंत्रों के नूतन आविष्कर्ता थे। उन्होंने अपने मसनवियों में भारत की प्रशंसा लिखी है। वे सच्चे मन से अपने को भारतीय मानते थे। खुसरो ने कहा था भारत मेरी जन्म भूमि है और मेरा अपना देश है। खुसरो की दृष्टि में निम्नांकित बिन्दु अवलोकन करने योग्य है—¹

1. इस देश के लोगों में ज्ञान और विविध विद्याओं का व्यापक प्रचार है।
2. विश्व की सभी भाषाएं भारतवासी शुद्धता से बोल सकते हैं।
3. ज्ञान सीखने को बाहर के लोगों को भारत आना पड़ता है, किन्तु भारतवासियों को भारत से बाहर नहीं जाना पड़ता।

4. अंकों का विकास भारत में हुआ है। विशेषतः, शून्य का प्रतीक भारत का आविष्कार है। हिन्दसा शब्द हिन्द और असा, इन दो शब्दों के योग से बना है। (खुसरो का ख्याल था कि असा भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ थे)।
5. कलीला व दमना (करटक और दमनक) की कहानी भारत में रची गई और फारसी, तुर्की, ताजी एवं दरी, भाषाओं में उस कहानी का अनुवाद हुआ है।
6. शतरंज के खेल का आविष्कर्ता भारतवर्ष है।
7. भारतीय संगीत अन्य सभी देशों के संगीत से कहीं उच्च कोटि का है।
8. संगीत पर यहां केवल मनुष्य ही न ही झूमते उसे सुनकर हरिण भी झूमने लगते हैं।

खुसरो ने अपनी मसनवी में इस बात की भी चर्चा की है कि भारत में तोते और मैना भी आदमी की बोली बोलते हैं, घोड़े ताल पर कदम उठाते हैं, बकरियां संतुलन के खेल दिखाती हैं और बन्दर रुपये और अठन्नी का भेद बता

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 335।

सकते हैं। भारत को खुसरो ने पृथ्वी का स्वर्ग माना है और लिखा है कि आदम और हौना जब स्वर्ग से निकाले गये, तब वे इसी देश में उतरे थे। भारत के सामने उन्होंने बसरा, सबको तुच्छ बताया है।

इस संदर्भ में तसव्वुफ अथवा रहस्यवाद की चर्चा भी उल्लेखनीय है। यह एक ऐसा धर्म है, जिसमें परमात्मा के ध्यान को महत्व दिया जाता है। इससे हिन्दू एवं मुस्लिम का अन्तर भी समाप्त होता है जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है कि खुसरो निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे अतः सूफी धर्म की भावना उनके रग-रग में धुली हुई थी। इसका प्रभाव उनके राष्ट्रप्रेम तथा मानव प्रेम में संवाहित होता है। तसव्वुफ ईरान ईरानी तसव्वुफ भारतीय वेदान्त के प्रभाव से बढ़ा था। अतएव जब भारत पहुंचा, इस देश में उसे तैयार जमीन मिल गई। यह नया धर्म

बहुत भारतवासियों को परम अनुकूल दिखाई पड़ा। यह उन्हें भी रुचा जो वैदिक धर्म के अनुष्ठानों से विरक्त थे और उन्हें भी जो सामाजिक धरातल पर हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए कोई सम्मिलित राह निकालना चाहते थे। भारत में इस नये आंदोलन के नेता कबीर दास हुए। कबीर की अद्वैतवादी भावना निम्नांकित में ढूंढा जा सकता¹ है—

नाम मैं धर्मी नहीं अधर्मी, ना मैं जती न कामी हो
ना मैं कहता ना मैं सुनता, ना मैं सेवक स्वामी हो
ना मैं बंध ना मैं मुक्ता, ना मैं विरतन रंगी हो
ना काहू से न्यारा हुआ, ना काहू के संगी हो
ना हम नरक लोक को जाते ना हम सुर्ग सिधारे हो
सब की कर्म हमारा कीया हम कर्मन ते न्यारे हो।

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पद— 79 ।

यहां 'सर्वखलु इदं ब्रह्म' की ध्वनि है। यही अभेदवाद है। वेद, वर्णाश्रम धर्म और जात-पात का विरोध उन्होंने उसी निर्भीकता से किया जिस निर्भीकता से बुद्ध ने किया था। उन्होंने हिन्दू अनुष्ठानों की भांति इस्लाम के अनुष्ठानों की आलोचना भी समान रूप से की कबीर ब्रह्म के अद्वैत में विश्वास करते थे अतः आडम्बरों का विरोध स्वाभाविक ही था। कबीर के विचारों में ब्रह्म अभेद की भावना निहित है। वे कहते हैं—

मन लागा उनमन्न सौं गगन पहुंचा जाई।¹
देख्या चंद उनमन्न सौ गगन पहुंचा जाई।।

कबीर जैसे ब्रह्म ऐक्य को देखने वाले के लिए मानव-मानव भेद का अन्तर निश्चित रूप से खलने वाला है, इसलिए अपनी भाषा में व्यंग्य का प्रयोग किया है। उनका यह व्यंग्य हिन्दू

एवं मुसलमानों के दोषों को व्यक्त करने में पूरी तरह समर्थ है—इसी को देखकर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है— “सच पूछा जाय तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य—लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे भी कुछ कह देने वाली शैली और अत्यन्त सादी, किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाश—भंगी अनन्य साधारण है।¹ कबीर की व्यंजना सूफी प्रेम पद्धति के दर्शन होते हैं। उन्होंने प्रेम के प्याले को छक—कर पिया था। कबीर ने प्रेमतत्त्व को प्रेम की कसौटी पर कसकर ग्रहण किया था। सूफियों की भांति कबीर का अद्वैत क्षणिक नहीं है। उनका प्रेम शाश्वत उनकी भावना एक रस है। कबीर में यदि तड़पन है तो अद्वैतता के लिए। ऐसी तड़पन उन्हें सूफियों के भुवन व्यायी विरह में दिखाई पड़ी थी। इसी बिन्दु पर वे सूफी³ थे।

हिन्दू मुस्लिम एकता के तीन बड़े नेता, कबीर, अकबर, महात्मा गांधी हुए हैं। कबीर के विषय में संक्षेप में ऊपर प्रकाश डाला गया है। अकबर की दृष्टि में कोई भी एक धर्म सर्व विद्य पूर्ण नहीं था। उनका विचार था कि सभी धर्मों की

1. सं० श्याम सुन्दरदास: कबीर ग्रन्थावली, पृ० — 113।

2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० 164।

3. डॉ० रामचन्द्र तिवारी : मध्ययुगीन काव्य—साधना पु०— 44।

अच्छी बातों को लेकर एक नया धर्म चलाया जाय जिससे सबको संतोष हो सके। अकबर के प्रयास से हिन्दू—मुसलमान एक— दूसरे के पास आये। उनका अन्तर कम हुआ। जहां तक महात्मा गांधी का प्रश्न है उन्होंने हिन्दू—मुस्लिम एकता के लिए अद्भुत प्रयास किया— उन्होंने अल्ला ईश्वर तेरे नाम का नारा लगाया, इस बात का इतिहास साक्षी है कि महात्मा गांधी ने दोनों की एकता अखण्ड प्रयास किया। उनका यह प्रयास सांस्कृतिक मोड़ का एक कदम है।

सांस्कृतिक विकास के क्रम मुस्लिम कवियों का अभूतपूर्व योगदान है, संस्कृति के उद्गम में साहित्य के पुष्प पुष्पित है। जैसे पीछे कबीर के बारे में उल्लेख किया गया है तथा यह बताया गया है कबीर के काव्य में सूफी सिद्धान्त के तत्व सन्निहित है। सूफी सिद्धान्त का प्रतिपादन अनेक मुस्लिम कवियों के काव्य में प्राप्त होता है। इन कवियों में जायसी का महत्वपूर्ण स्थान है। सूफियों की प्रेम पीड़ा जो फारसी भाषा में व्यक्त हो रही थी उसका रूप भारतीय परिवेश में भी अभिव्यक्त हुआ। इन कवियों को हिन्दी में प्रेम—मार्गी कहा गया है जायसी जो प्रेम—मार्गी

कवियों में प्रमुख है उनकी भाषा अवधी है। जायसी ने इस ग्रंथ में भारतीय संस्कृति का जो रूप प्रस्तुत किया है, उसमें भारतीयता के दिव्य दर्शन होते हैं। इस ग्रंथ में विवाह का वर्णन बिल्कुल हिन्दू प्रथा के अनुसार है तथा अलाउद्दीन के स्वागत में जो भोज होता है, उनमें ऐसे किसी भी भोजन का उल्लेख नहीं है, जो हिन्दुओं के लिए अखाद्य हो। इसके सिवा हठयोग, ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार, आदि का जो वर्णन काव्य में आया है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का मन इस देश की संस्कृति और परम्परा में किस प्रकार रंगा हुआ था और इतना होने पर भी, जायसी के मुसलमान होने पर कहीं कोई भक्ति से की है, जिस भक्ति से हिन्दू कवि, ग्रंथरूप में अपने इष्टदेव की वन्दना करते थे।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 343।

जायसी ने प्रेम की जो अविरल व्यंजना की है, उसमें मानवता का सूत्र पिरोया गया है—

मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी। नाहि त काह छार एक मूठी।।'

धरती पर प्रेम की उपस्थिति के कारण संसार स्वर्गीय बन जाता है। यह प्रेम जो मनुष्य को ईश्वर तक पहुंचा देता है, धरती पर परमात्मा का राज्य भी स्थापित करता है। यह प्रेम ही मानव—मानव को जोड़ता है, यहीं से विश्व संस्कृति का उद्भव होता है।

संस्कृति प्रभाव के अन्तर्गत और भी मुसलमान कवियों का अध्ययन महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारत इन कवियों ने राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया है। इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया है। इस सन्दर्भ में रामधारी सिंह 'दिनकर' का कथन उल्लेखनीय है। हिन्दू—मुस्लिम—एकता का मार्ग और कोई न ही, भारत की राष्ट्रीयता का मार्ग है। यह राष्ट्रीयता पक्की तभी हो सकती है, जब मुसलमान भी अपने को पक्की तभी हो सकती है, जब मुसलमान भी अपने को भारत माता की सन्तान मानें और अपनी भावनाएं और विचार भाषा अथवा उन

भाषाओं में लिखे जिनमें यहां के और लोग लिखा करते हैं। उर्दू भी भारत की ही भाषा है और वह भारतीय राष्ट्रीयता का समर्थ माध्यम बन सकती है यदि उसके लेखक और कवि अपनी प्रेरणाएं भारत के अतीत और वर्तमान से ग्रहण करें। जैसे कबीर, सुसरो, जायसी, कुतबन, रहीम, रसखान और नजीर अकबरावादी ने ग्रहण की थी। भारतीय राष्ट्रीयता की इस आवश्यकता की अनुभूति सबसे पहले अनुभूति अमीर खुसरो की हुई थी। तत्पश्चात् कबीर, जायसी, कुतबन, मंझन और उस्मान ने खुसरो से शिक्षा लेकर अपना सारा साहित्य अवधी भाषा में लिखा यह परम्पराम इन लोगों तक नहीं रुकी। उनके बाद भी हिन्दी ने अनेक मुस्लिम कवि उत्पन्न किये जिनकी रचनाएं हिन्दी साहित्य की कीमती थाती के रूप में विद्यमान है। कतिपय कवियों की पंक्तियों की उदाहृति के द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है। मुसलमान कवियों

1. सं० डॉ० माता प्रसाद गुप्त : पद्मावत, पृ०- 44।

रहीम का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिन्द भाषी भूभाग में सर्व साधारण के मुंह पर रहते हैं। भाषा पर तुलसी का सा अधिकार रहीम का भी है। हिन्दू दर्शन तथा अलंकार शास्त्र का उन्हें उतना ही अच्छा ज्ञान था जितने अच्छे ज्ञान का दावा बड़े से बड़ा हिन्दू विद्वान कर सकता है। अपने धर्म और आध्यात्मिक विश्वास पर सुदृढ़ रहते हुए भी मुसलमान कितना अधिक भारतीय हो सकता है, रहीम इसके जाज्वल्यमान प्रमाण है। एक बार तुलसीदास ने निम्नलिखित पंक्ति लिखकर खानखाना के पास भेजा:¹

सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होय।

गोंद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय।।

रहीम ने हिन्दू कवियों की भांति उपदेश की बातें कहीं है।

रहिमन विद्या बुद्धि नहिं, धरम² जस, भूपर जनम वृथा धरै, पसु बिनु दानु पूछ विषान।

इस बात को संस्कृत भाषा में इस प्रकार कहा गया है— साहित्य संगीत कला विहीनः । साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः, इससे रहीम के सांस्कृतिक बोध का पता चलता है । इसी प्रकार उनका नीतिविषयक यह दोहा भारतीय संस्कृति के अनुकूल है—

रहिमन विपदाहू भली, जो थोर दिने होय³, हित अनहित या जगत में जानिपरत सब कोय ।

वस्तुतः रहीम हिन्दू संस्कृति के उन तत्वों का संस्पर्श करते हैं जहां उनकी भारतीयता विवृत होती है ।

1. विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ० 44 ।
2. विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ० 95 ।
3. विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ० 45 ।

रहीम कौतुकी रचनाएं भी करते थे । इन कैतुकी रचनाओं में शुद्ध संस्कृति और खड़ी बोली का मेल है¹—

दृष्टा तत्र विचित्रता तरुलता मैं था गया बाग में ।

काचित्तत्र कुरंगशाव नयना, गुल तो तोड़ती थी खड़ी ।।

उन्मद् भूधनुषाकटाक्ष विशिः, घायल किया था मुझे ।

तत्सीदामि सदैव मोह जलघौ, हे दिल गुजारो शुकरी ।।

अर्थ: विचित्र वृक्षलता को देखने के लिए मैं बाग में गया था । वहां कोई मृग—शावनि—नयनर खड़ी फूल तोड़ रही थी । भौं रूपी धनुष से कटाक्ष रूपी वाण चलाकर उसने मुझे घायल किया था । तब मैं सदा के लिए मोहरूपी समुद्र में पड़ गया । इससे हे हृदय, धन्यवाद दो ।

रहीम ने “खेट—कौतुक—जातकम्” अपने ज्योतिष ज्ञान को दर्शाया है—²

यदा मुस्तरी ककेटे वा कमाने, यदा चश्म खोर जमीवास माने,

तदा ज्योतिषी क्या कहै क्या पढ़ेगा? हुआ बालका पादशाही करेगा ।

भारतीय ज्योतिष हमारे संस्कृति की अभिन्न है उसे भी इस मुसलमान कवि ने प्रौढ़ता पूर्वक अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः हिन्दू संस्कृति की समरसता मुसलमान कवियों साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर कर व्यक्त किया है।

उपर्युक्त कवियों की भांति अनीस, अहमद, कमाल, जमाल, जलालुद्दीन, ताज, तानसेन, नेवाज, आलम, शेख, मुबारक, रसलीन ने भारतीयता को प्रतिबिंबित किया है। समस्त कृष्ण काव्य के बीच रसखान के कवित्त और सवैये हीरे-मोती की भांति चमकते हैं रसखान के परिचय के पूर्व ताज का जिक्र करना अनिवार्य है। ताज का जन्म 1643 ई० में हुआ था। वे इतनी भावुक थीं कि कृष्ण प्रेम के उत्साह में आकर वे यह भी बोल गयीं कि मैं इस्लाम छोड़कर हिन्दू हो जाने को तैयार हूं। ताज मुसलमान थीं और मुसलमान रहीं थी। किन्तु कृष्ण

1. सं० डॉ० विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ० 165।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 353।

काव्य की महिमा दिखाने के उत्साह में उन्होंने जो कुछ कहा, वह केवल असाम्प्रदायिक कवि ही कह सकता था। ताज का कवित्त इस प्रकार है—¹

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी, तुम दस्त ही विकानी,
बदनामी भी सहौंगी मैं, देव पूजा ठानी मैं निवाज हूं भुलानी,
तजे कलमा—कुरान, सारे गुनन कहौंगी मैं,
स्यामला सलोना सिर ताज सिर कुल्ली दिये
तेरी नेह आग में निदाग हो दहोगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताड़ी सूरत पे, ताड़ नाल प्यारे,
हिन्दुवानी हो रहौंगी मैं।¹

उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। कवियित्री ने अपने को श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया है। सांस्कृतिक अन्वय का इससे अच्छा उदाहरण क्या दिया जा सकता है?

रसखान माधुर्य भाव के कृष्ण के भक्त हैं। उनकी कविताएं मुख्यरूप से दो ग्रंथों प्रेमवाटिका तथा सुजान रसखान में संकलित हैं। पहले में दोहे तथा कवित्त—सवैया हैं। ये कृष्ण के प्रेम में इतने पागल हैं कि श्रीकृष्ण भी पावना भूमि में अपना निवास बनाना चाहते हैं—

मानुष हौं तो वहीं रसखानि बसौं व्रज गोकुल गांव के ग्वारन।

जो पुश हैं तो कहा बस मेरो चरौं निल नन्द की धेनु मंझारन॥

पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छम पुरन्दर धारन।

जौ खग हौं तो बसेरे करौं मिलि कलिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' संस्कृति चार अध्याय पृ० 354।

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास के पृष्ठ 129 से उद्धृत।

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूं पुर को तजि डारौं।

आठहुं सिद्धि नवो निविध के सुख नन्द की गाय चराड़ बिसोरौं॥

रसखानि कबौं इन आंखिन सो व्रज के बन बाड़ा तड़ाग निहारौं।

कोटिक ए कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥²

जहां तक संस्कृतिक अन्वय का प्रश्न है यहां अपने उत्कृष्टतम रूप में व्यक्त हुआ है। रसखान को माधुर्य भाव कितना प्यारा है, इसका अनुमान निम्नांकित पंक्तियों को पढ़कर लगाया जा सकता है—

ब्रह्म में ढूढ्यो पुरानन गानन, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन,

देख्यो सुन्यो कबहुं न कितू वह कैसे सरूप और कैसे सुभायन।

टेरत हेरत हारि पर्यो, रसखानि बतायो न लोग लुगायन,

देखौ दुरौ वह कुंज कुटीर बैठो पलोटत राधिका पायन।।²

सांस्कृतिक परिवेश की अभिव्यक्ति काव्य में होती है। काव्य सांस्कृतिक परिष्करण का मोती है। रसखान के काव्य में प्रेम एवं रूप की प्यास भारतीय संस्कृति की मधुमती पुकार है।

रसखान प्रेम को एक शिखा के रूप में देखते हैं जो वियोग के ताप में सुलगती रहती है। खौलते हुए स्नेह में तपती रहती है, थोड़ी-थोड़ी भीतर भभकती भी रहती है। पर जब प्रिय के आने की बात सुनती है तो जैसे कोई बाती उकसा दे वैसे जल उठती है। तब भीतर की आग बाहर प्रकाश बन जाती है।

वस्तुतः रसखान के भीतर जो प्रेम का प्रवाह है, सार्वभौतिक प्रेम तुमुलनाद है।

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास पुष्ठ 129 से उद्धृत।

अध्याय—1

संदर्भ—ग्रन्थ :-

क्रमांक

- पृष्ठ — 1 1. तुलसीदास : रामचरितमानस, किष्किन्धा काण्ड
- 2 2. मनोविज्ञान परिचय भाग—दो—एन0सी0आर0टी0 पृ0 35
- 4 3. तैत्तिरीयोपनिषद्—द्वितीय अध्याय—गीता प्रेस, पृ0 375
- 4 4. मनोविज्ञान परिचय भाग—दो—एन0सी0आर0टी0 पृ0 36
- 6 5. डॉ0 आबिद हुसैन : भारतीय संस्कृति, पृ0 3
- 7 6. डॉ0 एस0आबिद हुसेन : भारतीय संस्कृति, पृ0 4
- 9 7. डॉ0 द्वारिका प्रसार सक्सेना, कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन, पृ0 279
- 9 8. “ “ पृ0 279
- 9 9. “ “ पृ0 279
9. 10. “ “ पृ0 280
9. 11. डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल—कला और संस्कृति, पृ0 1
9. 12. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—विचार और वितर्क, पृ0 181
- 10 13. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार: भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ0 20
- 10 14. डॉ0 रामजी उपाध्याय: भारत की प्राचीनी संस्कृति, पृ0 2
- 10 15. रामधारी सिंह दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, पं0 653
- 13 16. कठोपनिषद् : प्रथम बल्ली
- 14 15. ऋग्वेद : प्रजापति सूक्त
- 15 16. पाणिनीय शिक्षा, पृ0 41—42
- 17 17. आचार्य बलदेव उपाध्याय: आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृ0 78
- 17 18. बृहदारण्यक उपनिषद् : द्वितीय अध्याय : पंचम ब्राह्मण ।

- 18 19. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ,
पृ0 193
- 18 20. वही वही
- 19 21. पुरुष सूक्त मंत्र-2, ऋग्वेद
- 19 22. आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृ0 194
- 19 22. डॉ0 बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ,
पृ0 196
- 20 23. रामधारी सिंह दिनकर:संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 125
- 20 24. वही वही
- 21 25. वृहदारण्यक उपनिषद, पृ0 5, 19
- 21 26. भगवद्गीता : षष्ठ अध्याय श्लोक-5
- 22 27. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र:रसखान ग्रंथावली, पृ0 110
- 22 28. रामधारी सिंह दिनकर-‘संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 134
- 23 29. रामधारी सिंह दिनकर:संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 115
- 24 30. डॉ0 नीलकण्ठ शास्त्री-‘दक्षिण भारत का इतिहास, पृ0 1
- 24 31. राधारी सिंह, ‘दिनकर’ संस्कृत के चार अध्याय, पृ0 64
- 25 32. वही वही
- 26 33. वही वही
- 28 34. वही वही
- 28 35. वही वही
- 29 36. वही वही
- 30 37. वही वही
- 31 38. वही वही
- 32 39. वही वही
- 32 40. वही वही
- 33 41. वही वही
- 33 42. वही वही

34	43. वही	वही
34	44. वही	वही
34	45. वही	वही
35	46. वही	वही
36	47. वही	वही
37	48. वायुपुराण, पृ० 25	
37	49. विष्णुपुराण, 2/3/24	
38	50. रामधारी सिंह 'दिनकर' संस्कृत के चार अध्याय, पृ० 333	
39	51. वही	वही
40	52. वही	वही
41	53. सं. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—कबीर वाणी, पृ० 79	
42	54. कबीर ग्रन्थावली, पृ० 113, साखी, 15 (परचा को अंग)	
42	55. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी — 'कबीर', पृ० 164	
42	56. डॉ० रामचन्द्र तिवारी—मध्ययुगीन काव्य साधाना, पृ० 44	
43	57. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृत के चार अध्याय, पृ० 343	
43	58. डॉ० माता प्रसाद गुप्त : पद्मावत, पृ० 44	
44	59. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृत के चार अध्याय, पृ० 351	
45	60. विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ० 44 ।	
45	61. वही	वही
45	62. वही	वही
46	विही	वही
46	रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृत के चार अध्याय, पृ० 353	
47	वही	वही
48	आचार्य रामचन्द्रशुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 129	
48	आचार्य रामचन्द्रशुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 129	

द्वितीय अध्याय : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति परम्परा और काव्य

(क) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के प्रकाशन के तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि का अपरिहार्य महत्व है। यह सर्व विदित तथ्य है कि भारतीय संस्कृति समन्वयशील रही है। इस काल में अनेक परम्पराओं एवं धर्मों का विकास हुआ है। धर्म भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। धर्म की अभिव्यक्ति सम्प्रदायों में होती है। सम्प्रदाय ये धर्म को अपने-अपने ढंग से व्यक्त करते हैं। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति कला और साहित्य दोनों में हुई है। धर्म की अभिव्यक्ति साहित्य में विशेष रूप से होती है। यहाँ सर्वप्रथम मध्यकालीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत किया जा रहा है तत्पश्चात् परम्परा एवं काव्य का प्रकाशन किया जायेगा। मध्यकालीन सांस्कृतिक प्रभाव भक्तिकाल में विशेष उल्लेखनीय है। संस्कृति के दो महत्वपूर्ण अंग हैं — धर्म और दर्शन। इन्हीं का प्रकाशन कला और संगीत में होता है। भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणाम स्वरूप भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हुआ था, उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे लोक प्रचलित भाषाएं भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनीं। कालान्तर में भक्ति विषयक विपुल साहित्य की बाढ़ सी आ गयी। यह भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित न थी। शैव, शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन भी इससे प्रभावित हुए।

भारतीय धर्म साधना के इतिहास में भक्ति मार्ग का विशिष्ट स्थान है। वैदिक युग यज्ञ या कर्मकाण्ड से धर्मानुष्ठान होता था तत्पश्चात् प्राकृतिक उपादानों की देवता रूप कल्पना करके उनकी उपासना होने लगी। देवताओं की विनय और प्रार्थना लोगों के दैनिक जीवन की अंग बन गई। इस समय लोगों का ध्यान ऐहिक सुखों पर केन्द्रित था। वे बाह्य विधानों पर अधिक विश्वास करते थे। शुभाशुभ परिणामों में विश्वास के कारण यज्ञादि कर्मकाण्डों में श्रद्धा का अविर्भाव हुआ। श्रद्धा के इस पवाह में प्रथम बहुदेववाद तत्पश्चात् एक देववाद का प्रवर्तन हुआ। भक्त के लिए यह स्वाभाविक हो गया कि वह बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य लाकर अपनी दृष्टि किसी एक में निविष्ट करे। इसी क्रम में बहुदेववाद एकदेववाद में प्रवर्तित हुआ इन्द्र, देव, वरुण, मरुत, अग्नि सबको परमात्मा का अंग माना जाने लगा। प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण के बाद देवताओं का मानवीकरण हुआ। इसी की परिणति अवतारवाद में हुई। हिंस्र तथा कठोर वृत्तियों का स्थान क्रमशः कोमल वृत्तियां होने लगीं¹।

1. ऋग्वेद 1/164/43; 5/3/1-2।

जिसका प्रभाव भक्ति साधना की विधियों पर पड़ना स्वाभाविक था। भ्रमण-संस्कृति द्वारा इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद् में श्रद्धा-भक्ति का अभ्युदय हुआ। वैदिकोपासना ध्यान योग में परिणत हो गयी।

मोनियर विलियम्स के अनुसार 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' से की जा सकती है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति-भावना आर्यों के दार्शनिक आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप क्रमशः श्रद्धा उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य में भाग लेकर व्यापक भाव में परिणत हुई।

आर्य जब भारत आये तो उन्हें यहां की यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, असुर, काव्य, विद्याधर, आदि जातियों की नागर संस्कृति का परिचय मिला। आर्य लोग मुख्यतः सैनिक जीवन के अभ्यासी थे और उनका जातीय ग्रामीण संस्कृति पर आधारित था। दोनों संस्कृतियों के परस्पर मिलन से भक्ति परम्परा का विकास हुआ।

वैदिक भक्ति परम्परा के समानान्तर दक्षिण भारत में द्रविड़ संस्कृति गर्भित पृथक भक्ति परम्परा का विकास हुआ। यह परम्परा ई० पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी, जिसमें शरणागति समर्पण की प्रबल भावना पायी जाती थी और जो कालान्तर में दक्षिणात्य आचार्यों द्वारा उत्तर भारत में लोक प्रिय बनी। ई० सन् प्रारम्भिक काल में ही उत्तर और दक्षिण की दोनों परम्पराओं का मिलन हो गया था, जिसका निदर्शन आड्यारों तथा अडियारों के भक्ति साहित्य में सुलभ है। इसके अन्तर्गत 'पूजा' को भक्ति का मुख्य साधन माना गया है, जिसे शिव की भांति तमिल भाषा का शब्द ठहराया गया है। मायोन तथा 'तिरुमाल' को विष्णु का पर्याय बताया गया है। स्वयं भागवत को भी कन्नड़ प्रदेश में रचित बताया गया है। यह ग्रन्थ मध्यकालीन भक्ति परम्परा का मुख्य प्रेरणा स्रोत है।¹

भक्ति भावना के संदर्भ में पंचरात्र विशेष उल्लेखनीय है। इनका मुख्य उद्देश्य भक्ति-मार्ग का निरूपण करना रहा है। संहिताओं में देवालयों के निर्माण अराध्य देव की प्रतिष्ठा और विधिवत् पूजन अर्चन की व्यवस्था बतायी है। इससे अवतारवाद को प्रचुर प्रश्रय मिला। इधर भ्रमण संस्कृति और साहित्य के विद्वानों ने भी परम्परा से अपना प्राचीन सम्बन्ध सूत्र दिखलाने के यत्न किये हैं, जिन्हें किसी एक ही उत्सक विमान - विमान स्रोत समझा जा सकता है।

1. डा० नागेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ : 172

2. वही : वही पृष्ठ : 88

फिर भी इनमें रागात्मक शरणागति और समर्पण के वैसे विविधतापूर्ण भाव विकसित नहीं हो पाते। भागवत भक्ति का जो विकास दिखाया गया है वह महत्वपूर्ण तथा गंभीर है —

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके शता ।

क्वचित्त्वचिन्महराष्ट्रे गुर्जर जीर्णतां गता¹ ।।

मैं द्राविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में जवान् हुई महाराष्ट तथा गुजरात में कुछ वृद्धावस्था को प्राप्त हुई।

इस प्रकार भक्ति जो धर्म का अंग है जो भक्तिकाल की ऐसी संस्थान है, जिसमें संस्कृति के विभिन्न तत्व स्वतः स्फूरित होते रहते हैं। हम मध्यकालीन संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं। संस्कृति का प्रवाह समाज में होता है। दैनिक जीवन, रीति-रस्म, रहन-सहन, पर्व त्यौहार आदि की दृष्टि से तत्कालीन भारतीय समाज सुविधा सम्पन्न और असुविधा ग्रस्त इन दो वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग राजा-महाराजा, सुल्तान, अमीर सामन्त और सेठ-साहुकार आते थे, जिनमें मनमाने ढंग से वैभव-प्रदर्शन की उल्लासपूर्ण प्रवृत्ति पायी जाती थी। द्वितीय वर्ग में किसान, मजदूर, सैनिक, राज्य कर्मचारी और घरेलू उद्योग-धन्धों लगी सामान्य जनता थी जो प्रथा परम्परा का पालन कर संतोष की सांस ले लिया करती थी। अमीर और सामन्त सूती, रेशमी वस्त्र पहनते थे एवं बहुमूल्य नगीनों से जड़ी सुबहली अंगूठियां धारण करते थे। उनकी पत्नियां रत्नजटित सुनहले कंगन तथा मूंगाजटित केथूर धारण करती थी। समाज में सुव्यवस्था लाने के यत्न होते रहते थे²।

यह विदित तथ्य है कि सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्ताधारा के माध्यम होती है। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियां हैं, इन सबका क्षेत्र विशाल मानव समाज

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ- 98

2. भागवत एकादश स्कन्दः श्लोक : 48

है, जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवन-यापन करता है। भारतीय जीवन में समय-समय पर विदेशी विजातीय तत्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं, परन्तु इन्हीं से होकर ऐसी जीवनी शक्ति का संचार होता रहा है कि हम डूबते-डूबते भी उबरते चले आये हैं, निप्रभ या निस्तेजन होकर नवजीवन की अरुणिमा से महिमा मण्डित होते रहे हैं। इन सबके मूल

में हमारी समन्वय साधना की प्रवृत्ति उजागर रही है, जो ब्राह्मण युग (800 ई०पू० से 600 ई०पूर्व तक) से ही उत्तर भारत में व्यक्त हो चुकी थी। दक्षिण भारत में यह प्रवृत्ति बाद में उभरी। वैदिक देवी-देवताओं के वाह्य विधानों से विदक कर श्रमण-संस्कृति के उन्नायकों ने जीवन का नया पथ खोज निकालने का यत्न आरंभ किया, परन्तु गुप्त साम्राज्य की स्थापना के अनन्तर दोनों कहीं क्षयमान हो गये। मौर्य साम्राज्य के विखराव के पश्चात् ब्राह्मणवाद का नये ओज और तेज के साथ अभ्युदय हुआ। पुष्पमित्र के शासन काल में समाज की सुव्यवस्थित करने के लिए सूत्रों स्मृतियों की व्याख्या तथा रचना होने लगी और गौ ब्राह्मणों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई।' परवर्ती गुप्त काल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और देवी देवताओं तथा देवालियों की स्थापना द्वारा लुप्त प्राय धर्म व्यवस्था को पुनर्जीवित किया गया। उन दिनों वैष्णव धर्म को विशेष प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला और स्मृति ग्रन्थों में लोक प्रचलित विश्वासों तथा मान्यताओं को भी स्थान दिया गया। ब्रह्मणेत्तर भ्रमणादि तत्वों से समन्वित ब्राह्मणवाद को विद्वानों ने नव ब्राह्मणवाद कहा; जिसका स्वरूप वैदिक परम्परा से विच्छिन्न न होकर भी भिन्न अवश्य था। सत्य तो है कि ब्राह्मणवाद का भी अमिश्रित रूप में पुनरुत्थान नहीं हुआ था। बाद में भी ब्राह्मणवाद के अतिरिक्त भ्रमण द्रविड़ तथा आदि वासियों के मत और मान्यताएं परस्पर एकीभूत हो गई थीं। इसकी कुछ सामान्य विशेषताएं इस प्रकार थी— 1. धर्मविशेष का लौकिकीकरण 2. अवतारवाद की स्वीकृति 3. देवलायों में देव प्रतीकों की पूजा 4. तीर्थादि की स्थापना 5. धर्म के भारतीय स्वरूप का संरक्षण। अधिकांश पुराणों की रचना का भी यही काल है। मध्यकालीन हिन्दू जीवन

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 58

प्रणाली पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। पुराणकारों ने समन्वय साधना की प्रवृत्ति को पुनर्जाग्रत किया। परम्परा दृष्टि भेद, रुचि वैचित्य देश काल तथा तत्कालीन समाज से प्रेरणा ग्रहण का उन्होंने तदनुरूप पूजा-उपासना तथा कर्म-काण्डीय पद्धतियों को अपना कर उनमें दार्शनिकता का पुट दे दिया। मूर्ति पूजा तीर्थाटन, अवतारवाद, गो-ब्राह्मण-रक्षा, धर्म शास्त्रों का सम्मान और कर्मफल में विश्वास पौराणिक धर्म की प्रमुख विशेषताएं थीं, जिनमें लोक विश्वास का भी योगदान रहा। साधु-सन्यासियों का सम्मान और स्वर्ग-नरक, श्राद्धपिंडदान आदि इस युग की उल्लेखनीय

विशेषताएं हैं, जिनकी धुरी पर हिन्दू जीवन चक्र चलता रहा और इस्लाम के भारत-प्रवेश से पूर्व तक अवृत्त रूप में प्रचलित रहा।'

मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं। एक वह जो शास्त्रों का समर्थक हैं और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष भी पौराणिक पक्ष है। परन्तु हम बहुधा यह पाते हैं कि दो पक्षों में परस्पर परम्परावलम्बन है। कभी जनघोषित विश्वास शास्त्र सम्मत बन जाते हैं, तो कभी शास्त्र विहित मान्यताएं जनता द्वारा अस्वीकृत हो जाती हैं।

शास्त्र की दुहाई देने की अपेक्षा स्वानुभूति पर निर्भर करना अधिक श्रेयस्कर है। इसी आस्था के कारण विपक्षी अथवा विरोधी के प्रति सहिष्णुता भाव का प्रादुर्भाव होता है और न्यायोचित उदार व्यवहार का शुभारंभ होता है। हमारे यहां आध्यात्मिक उपलब्धि को जीवन का परिष्कार माना गया है, जिसके कारण धर्मानुभूति और दार्शनिक चिन्तन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध जुड़ गया है। उपनिषद् भारतीय दर्शन के उपजीव्य हैं और इसी आधार पर वेदान्त भी विकसित हुआ है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि औपनिषदिक विचारों में सर्पत्र मतैक्य नहीं है। इसमें समन्वय की स्थापना के लिए बादरायण (300 ई०) ने ब्रह्म सूत्रों की रचना की, जिस पर शंकराचार्य (788–820 ई०) ने शारीरिक भास्य लिखा इसमें निरूपित व्याख्या का इतना महत्व हो गया कि सर्वसाधारण में वेदान्त का अर्थ

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 98

शंकर-वेदान्तसमझा जाने लगा। इसमें शब्द प्रमाण को मुख्य मानकर उसे तर्क द्वारा पुष्ट करने का यत्न किया गया है। शंकराचार्य की भांति कुमारिल भट्ट ने भी हमारी विचारधारा को दूर तक प्रभावित किया है। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या-प्रति व्याख्या के रूप में विशिष्टा द्वैत, केवलाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुर्नजन्म आदि के सिद्धान्त प्रायः ज्यों के त्यों रह गये हैं।

ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति, कुल, देशकाल और परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना 'धर्म' है। धर्माचार अपना नैतिकता समाज परक है और धर्म साधना व्यक्तिनिष्ठ है। साक्ष्य और साधना का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है। साधना का विकास रुचि, शिक्षा और संस्कार के अनुसार कई रूपों में होता है। स्थूल रूप में साधना के तीन अंग हैं – देवाराधन, संस्कार मूलक क्रिया और नित्य नैमित्तिक कर्म। देवाराधन के भी दो रूप हैं – आत्मविश्वास मूलक योग और आराध्यानुग्रह मूलक भक्ति।¹

आत्म रक्षा की वृत्ति ने मनुष्य को देवाराधन की ओर प्रवृत्त किया, फलस्वरूप कल्याणकारी शक्तियों को व्यक्तित्व प्रदान करके उन्हें मानवीय इच्छाओं, उद्देश्यों, विचारों, संवेदनाओं से सम्पन्न तथा भावापन्न मान लिया गया। भगवान के सगुण और साकार रूप का इसी प्रकार विकास हुआ।

शक्ति सम्पन्न समर्थ व्यक्तियों की मरणोत्तर कालीन आत्माओं को अलौकिकता प्रदान कर उन्हें कल्याणप्रद शक्तियों से सम्बद्ध कर देने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। कुल देवता और ग्राम देवता इन्हीं की उपज है, जिनके प्रतीक पिण्ड और पदार्थ बने। इसी प्रकार सशक्त तथा सहायक पशु-पक्षियों की आत्माओं से टोटमवाद और फिटिशवाद को प्रादुर्भाव हुआ, जिन्हें

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 99।

2. कार्पेण्टर : कम्पेरेटिव रिलिजन, पृष्ठ 134।

भौतिक आपदाओं का कारण मान लिया गया और उनकी तुष्टि के लिए यातु विद्या और जटिल साधना-विधान का विस्तार हुआ।² संस्कारग्रस्त जनता में आज भी भूत-प्रेत, पिशाच, चुड़ैल, डाकिनी-शाकिनी तथा उनसे माण दिलाने वाले ओझा आदि के झाड़-फूक, गंडा-ताबीज और मंत्र तंत्र की मान्यता पायी जाती है। साध्य की उपेक्षा या साधना पर अधिक बल दिया जाता है जो कभी-कभी जड़ता को जन्म देती है। इसीलिए साधना के विकृत और विस्तृत रूप (कर्मकाण्ड) की आलोचना उपनिषद् काल से लेकर श्रमण युग तक होती रही, जिसे हम सन्त वाणियों में सुनते हैं मध्यकाल में हिन्दू समाज की वृहत्तर इकाई गांव था और लघुता इकाई परिवार जो

जीविका के सम्मिलित साधनों से युक्त था। अयोग्य पति की पत्नि होकर भी नारी सम्बन्ध निर्वाह करने को बाध्य थी।¹ सतीत्व के यथार्थ गौरव से अनभिज्ञ नारी उसकी सन्तान से बना हिन्दू समाज मध्यकाल की विडम्बना रहा है।

इस काल में धर्म साधनों की बाढ़ सी आ गयी और गुह्य साधनाओं के अन्तर्गत कृच्छ्र साधनाएं भी प्रवेश पा गयीं। वाह्याडम्बर तथा कर्मकाण्डादि वाह्य विधान के प्रति व्यंग्य किये जाने लगे। ऐसी परिस्थिति में गुरु गोरखनाथ ने वाह्य साधनों को गौण ठहरा कर मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता पर अधिक बल देना उचित समझा: “अवधू मन चंगा तो कठौती में गंगा, बाध्या मेंल्हा तो जगन्त-चेला।” कबीरादि सन्तों की चेतना भी प्रकाशान्तर से मन की गहना को स्वीकार करती की चेतना भी प्रकाशान्तर से मन की महत्ता को स्वीकार करती जान पड़ती है :

कहे कबीर कृपा भई, गुरु ज्ञान कहा समुझाई।

हृदय भी हरि भेटिये जो मन सुनतै नहिं जाई॥

पहले से चली आ रही सभी प्रमुख धर्म साधनाएं मध्यकालीन धर्म साधना में विद्यमान थी लेकिन मूल रूप में किंचित परिवर्तन था। वृहदारण्यकोपनिषद्

1. कार्पेण्टर : कम्पेरेटिव रिलिजन, पृष्ठ 134।

2. डा० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ 100 से उद्धृत।

(2/4/11) के वेदमार्गी ‘एकायन’ धर्म तथा लोकधर्मी ‘लोकायन’ धर्म जैसी कुछ धर्म साधनाएं भी अवश्य रही होंगी, जिनके नाम लोग भूलने लगे होंगे। फिर शैव, शाक्त, भागवत साधनाएं भी विद्यमान थी। गाणपत्य जैसे प्रमुख धर्मों के अनुयायी भी विद्यमान थे। योग-तंत्र और भक्ति की प्रवृत्तियां भी प्रचलित थीं। ज्ञान में तप और चिन्तन-मनन की प्रधानता थी। योगतंत्र अपने क्रियात्मक विशेषताओं के साथ विद्यमान था। शिव आदि योगी माने जाते थे और पूर्व मध्यकाल में शैव धर्म भारत व्यापी बन गया था, जिसे राजाश्रय के अतिरिक्त लोकाश्रय भी प्राप्त था। इसके प्रमाण शिला लेखों में ढूंढे जा सकते हैं। योग का किसी समय इतना प्रबल प्रभाव था कि ज्ञान

और भक्ति के साथ 'योग' शब्द का जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा था। भक्ति और योग साधना में योग का कोई न कोई तत्व ढूँढ निकालना कठिन नहीं है। यहां तक कि बौद्ध जैन तक यहां से अप्रभावित न रह सके थे। भक्ति मुख्यतः भावना मूलक थी। अन्य धर्मों में भी इसका एक न एक रूप पाया जा सकता था। परन्तु जितना बहुविध विकसित रूप वैष्णव धर्म-विशेषतः भागवत् सम्प्रदाय-में लक्षित हुआ उतना कदाचित् अन्यत्र संभव न हुआ। विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के बीच भी अनेक धर्मों या सम्प्रदायों का बनना मध्यकालीन विशेषता बन गई थी।

मध्यकाल में अरुचि और संस्कार का प्राधान्य था। इस कारण बहुधा सामंजस्य बिगड़ जाता था और सन्तुलन बनाये रखने के लिए बार-बार समन्वय की ओर उन्मुख होना पड़ता था। समन्वय भारतीयों के संस्कार था, इसलिए उसे लाने में विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी दुर्लभ कठिनाई नहीं होती थी। वैदिक वाङ्मय में इसके बीज विद्यमान हैं। 'तंत्रालोक' में भी इसका उल्लेख है "एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परम कारणम्।"¹ शक्ति संगम-तंत्र का यह उदाहरण भी ध्यान देने योग्य है —

कदाचिद्वात्म आत्म ललिता पुरुषा कृष्ण विग्रहा।

लोक सम्मोहनार्थाय स्वरूपं विभ्रती परा।²

1. तंत्रालोक, पृष्ठ 88/1।

2. (सं.) नगेन्द्र द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास में उद्धृत पृष्ठ 100

3. दुर्गा सप्तती, (11/5)

दुर्गा सप्तती (11/5) में भगवती दुर्गा और वैष्णवी को एक ठहराया गया है।

'अध्यात्म रामायण' में भी राम और शिव के बीच परस्पर भक्ति प्रदर्शित की गई है।

यही भावना 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में शिव और श्रीकृष्ण के मध्य व्यक्त हुई है। परवर्ती रचनाओं में ऐसे कई उदाहरण उपलब्ध हैं। 'साधन माला' में वर्णित पद्मनृतेश्वरशिव के रूपान्तर हैं। इसी प्रकार उड़ीसा के पंच सखाओं का 'शून्य पुरुष' ब्राह्मण-श्रमण संस्कृतियों के मिलन की ओर संकेत करता है। मध्य प्रदेश के नाग राजाओं द्वारा अवलोकितेश्वर की पूजा शिव पूजनकी भांति है। एलोरा के समीपस्थ वेरुल के कैलास-मन्दिर में शिव के मूर्ति के शीर्ष स्थान पर बोधि

वृक्ष स्थित है। चम्बा—नरेश अजय पाल के राज्यकाल में उत्कीर्ण ब्रह्मण, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है। इसी प्रकार हरिहर पूजन में भी शैव—वैष्णव धारा का संगम लक्षित होता है। संक्षेप में ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे समन्वयात्मक प्रेरणा से भक्ति आंदोलन अनुप्राणित होता है।

मध्यकालीन धर्मों में हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ईसाई प्रमुख थे, जिनका सम्पर्क द्वारा उन्मुक्त था। लोक विश्वासों पर आधारित लोकधर्म की निष्ठा किसी धर्म विशेष के प्रति नहीं थी। उसका धर्माचार परम्परागत और चमत्कार प्रभावित था। आदिवासियों का धर्म अधिकतर उन्हीं तक सीमित रहता था। सम्पर्क द्वारा थोड़ा बहुत उनमें परिवर्तन होता रहता था। जाने—अनजाने अनुकरण करने में उनमें कोई हिचकिचाहट नहीं थी। स्थूल अभिव्यक्ति में यदि उस समय के धर्म को नहीं थी। स्थूल अभिव्यक्ति में यदि उस समय के धर्म को व्यक्त किया जाय तो हिन्दू और इस्लाम दो ही प्रधान धर्म थे। सिक्खों के देवी देवता प्रायः हिन्दुओं के ही थे पर उनकी आचार पद्धति पर आगे चलकर सैनिक वृत्ति की छाप पड़ी। जैन—धर्म का प्रचार जहां पश्चिम दक्षिण क्षेत्रों में अधिक था। वहां बौद्ध धर्म पूर्वी प्रान्तों में सिमट कर रह गया था। पारसी मत 721 ई० में भारत में अपना पहला कदम रख चुका था। लगभग इसी समय इस्लाम धर्म व्यापारियों के माध्यम से मालाबार पहुंचा था। यहूदी ईसाईयों से पहले ही आ गये थे और ईसाई धर्म फादर टामस द्वारा दक्षिण में प्रवेश पा चुका था।¹

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 101 ।

जिसका प्रचार कार्य परवर्ती काल में प्रारम्भ हुआ। हिन्दू धर्म इस्लाम के सम्पर्क से मात्र व्यवस्थित साधना का केन्द्र न रहकर साधारण साधना का रूपधारण करने लगा था और उसमें आन्दोलनकारी प्रवृत्तियां उभरने लगी थीं। फलस्वरूप प्रायः सभी धर्मों में युगानुरूप परिस्थिति के अनुरूप पन्थों सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों तक सृष्टि होने लगी, जिनका मुख्य उद्देश्य आत्म निरीक्षण और परिस्थिति—परीक्षण द्वारा आवश्यक सुधार करके परम्परागत आचार—विचारों को किसी न किसी रूप में प्रश्रय देकर उन्हें जीवित रखना था। इस प्रयास में वैष्णव धर्म ने भागवत सम्प्रदाय के रूप में नेतृत्व किया और प्रभाव डाला जिसके माध्यम से भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। उसके अनुकरण में अन्य धर्मों ने भी अपनी—अपनी सीमाओं में आवश्यक संशोधन परिवर्द्धन किये। किन्तु धर्म के अन्तर्गत शैव, शाक्त, सौर स्मार्त और गाणपत्य की गणना की जाती थी पंचदेवों वासना के परिणाम स्वरूप इनमें से सौर और गाणपत्य

वैष्णव धर्म के अन्तर्गत हो चले। शेष तीनों में से शैव और शाक्त धर्म कदाचित् वैष्णव धर्म से अधिक प्राचीन थे।

शैव धर्म के अन्तर्गत मध्यकाल में पाशुपत, वीर शैव, लिंगायत और कश्मीरी शैव सम्प्रदाय विख्यात थे और इनके उप सम्प्रदायों तक का गठन होने लगा था। शिव योग साधना के प्रवर्तक तथा आदि गुरु माने जाते हैं। ऐसे ही उप सम्प्रदायों में नाग योगी सम्प्रदाय की गणना भी की जाती है। इसके उन्नायकों ने अपने प्रचार का माध्यम देशी भाषाओं को बनाया और यह उन्हीं की एकान्त विशेषता न थी। वैष्णव धर्मानुयायी स्वामी रामानन्द और उनके अनुयायियों ने भी लोक प्रचलित भाषाओं का आश्रय लेकर उन्हें प्रश्रय दिया। उसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने मतों के प्रचार के लिए क्षेत्रीय भाषाओं को ही अपनाया। परन्तु इस प्रवृत्ति के मूल में एक ओर जहां भ्रमण संस्कृति की प्रेरणा थी, वहां दूसरी ओर यह जन सम्पर्क का परिणाम भी था।

जहां तक वैष्णव धर्म का प्रश्न है वह भक्ति प्रधान है। जो योग साधना का परवर्ती होने के कारण उससे थोड़ा प्रभावित है।'

1. द्रष्टव्य : सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 101।

पांच रात्र मत के माध्यम से तंत्र साधना के तत्व भी किसी न किसी रूप में इसमें समाविष्ट हैं। पांचरात्र मत पर ही मतूर्ति विधान और मन्दिर निर्माण की व्यवस्था मुख्यतः आधारित थी। वैष्णव धर्म-सम्प्रदायों और उप सम्प्रदायों की सृष्टि प्रधानतः इनके आचार्यों अथवा प्रवर्तकों द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने के कारण हुई थी। द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टद्वैत, भेदाभेद शुद्धाद्वैत आदि इन्हीं के परिणाम थे। इनके द्वारा अपनायी गई भक्ति किसी न किसी दर्शन पर आधारित थी, फलतः ये स्वयं एक-दूसरे को पृथक् मानने लगे थे। परन्तु दूसरी ओर ऐसे वैष्णव मतावलम्बी-उप-सम्प्रदायों का भी अस्तित्व था जो किसी दार्शनिक सिद्धान्त पर उतना बल देना उतना अनिवार्य नहीं समझते थे। रामावत, सहजिया, बारकरी, महानुभाव, पंच सखा आदि ऐसे ही उप-सम्प्रदाय थे।

शाक्त धर्म से भी दक्षिण मार्गी और वान मार्गी नामक दो श्रेणियां बन गयीं। कबीर ने वाममार्गी शाक्तों पर अनास्था प्रकट कर आलोचन की थी। हिन्दू धर्म को सुव्यवस्थित करने के

लिए शंकराचार्य ने स्मार्त सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसमें पंचदेवोपासना की व्यवस्था की गई। आगे चलकर इसमें अन्धविश्वास ने स्थान पा लिया, जिससे भक्ति का मूल रूप धूमिल पड़ गया। पारलौकिक फल की आशा में लौकिक मर्यादाओं के बन्धन कसते गये। तीर्थ और मन्दिर व्यापार-केन्द्र से लगने लगे और पण्डों-पुरोहितों के आचार व्यवहार मर्यादा का उल्लंघन कर उच्छृंखलता की कोटि तक पहुंच गये।'

इस क्रम में जैन एवं बौद्ध धर्म के स्वरूप का निरूपण मध्यकालीन संस्कृति का महत्वपूर्ण अवयव है। इसे श्रमण धर्म कहा गया है। बौद्ध एवं जैन के लोकधर्मी होने के कारण निर्गुण भक्ति पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा। जैनियों की तपोनिष्ठ नैतिक आचार पद्धति और बौद्धों के निर्वाण, शून्यतत्व, मध्यम मार्ग आदि का प्रभाव उन पर पड़े बिना न रह सका। मध्यकाल में उक्त दोनों धर्मों में पुराणपंथी परम्पराओं के प्रति असंतोष बढ़ने लगा। फलस्वरूप हासोन्मुख प्रवृत्तियों के बाढ़ को रोकने के लिए सुधारवादी आन्दोलनों की संख्या बढ़ने

1. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 102।

लगी। मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान जैसे उप-सम्प्रदायों को इनमें गिना जा सकता है। यही कारण है कि सन्तों ने इन सम्प्रदायों को फटकारा है क्यों इन सम्प्रदायों ने मूल प्रश्न को छोड़कर वाह्य विधानों का वितण्डा खड़ा कर दिया है। मध्यकालीन आन्दोलन ऐसी बातों के विरोध में जोर पकड़ता जा रहा था, जिसमें सूफी साधकों का महत्वपूर्ण अवदान है।

इस्लाम धर्म में शरा और बेशरा दो प्रकार की कोटियां हैं। इसमें शरा सनातनी है और बेशरा मस्तमौला फकीर जो कभी-कभी पैगम्बर के चमत्कारपूर्ण करिश्मों का आश्रय लिया करते हैं। ये अपने क्रिया-कलापों में इस्लाम के मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा तक कर दिया करते हैं। इनका एक समुदाय 'मजजूब' नाम से प्रसिद्ध है जिसके अनुयायी न तो रोजा-नमाज मानते हैं, न पैगम्बर के प्रति आस्थावान् बेशरा साधक 'मलामाती' कहलाते हैं, जो खुदा के कृपा पात्र समझे जाते हैं। बेशरा सम्प्रदाय के अन्तर्गत मदारी मलंग, कलंदरी, रसूलशाही, लालशाह बाजिया, मूसा सुहागिया आदि कई उप सम्प्रदाय हैं। इनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। भारतीय सूफी मुख्यतः

वेशरा-सम्प्रदाय के हैं जो इस्लाम के अनुयायी होकर भी सनातन पंथी मुसलमानों से सब समय सर्वत्र मेल नहीं खाते।

ऐसे सम्प्रदायों में पांच मुख्य हैं: चिश्ती, कादिरी, सुहरवर्दी, नक्शबन्दी और सत्तारी। चिश्ती सम्प्रदाय के दो उप सम्प्रदाय हैं साबिरी और निजामी। निजामी की भी दो शाखाएं हैं : हिसामी-हाजशाही। इसी प्रकार कादिरी सम्प्रदाय की दो शाखाएं हैं – वहाविया और रजाकिया। इनकी भी प्रशाखाएं हैं – मुकीमशाही और नौसाही। नौसाही के प्रवर्तक हाजी मुहम्मद बतलाये जाते हैं। इनके चार शिष्यों में से दो के नाम पर प्रसिद्ध शाखाएं हैं – पाक रहमानी और सचयारी। इसी प्रकार केशरशाही और वेनवा जैसे दो अन्य सम्प्रदाय भी हैं। पंजाब के ऐसे ही सम्प्रदायों में हुसैन शाही और मियांखेल नामक सम्प्रदाय हैं। सुहरवर्दी सम्प्रदाय के अन्तर्गत जलाली मखदूम, मीरनशाही, दौलाशाही, इस्माईलशाही आदि कई शाखाएं हैं।¹

1. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 103।

नक्शबन्दी सूफियों को सनातनी मुसलमानों को बहुत सम्मान प्राप्त है। औरंगजेब इन्हीं का मुरीद था। इन्हें संगीत, नृत्य के अतिरिक्त पीर-पूजा, समाधि-पूजा और दीपदल जैसी पद्धति स्वीकार्य नहीं है। शत्तारी सम्प्रदाय वाले कादिरों सम्प्रदायों वालों की तरह वस्त्र धारण करते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो बाल नहीं रखते और धार्मिक पाबन्दियों के प्रति उदासीन रहते हैं। यहां यह विचार करने योग्य है कि सूफी सम्प्रदाय भक्ति-आन्दोलन से पूरी तरह प्रभावित है। उल्लेखनीय है कि – सांस्कृतिक क्रम में यह भी भक्ति-साहित्य का प्रभाव अन्य प्रान्तों के धार्मिक सम्प्रदायों को भी प्रभावित किया है, इनमें प्रमुख नाम इस प्रकार हैं— केरल का शास्ता पूजक सम्प्रदाय, बंगाल के धर्म ठाकुर, सहजिया, बाउल, सत्यपीर, कर्ताभाजा आदि सम्प्रदाय, उड़ीसा का पंचसखा सम्प्रदाय, महाराष्ट्र के वारकरो और महानुभाव सम्प्रदाय हैं।

संस्कृति का विकास धीरे-धीरे होता है किन्तु उसके विकास के साथ ही साहित्यिक विकास भी प्रभावित होता है। साहित्यिक विकास के साथ ही अनेक प्रकार की कलाएं भी सांस्कृतिक विकास का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं।

हिन्दुओं की लयात्मक प्रवृत्ति से भिन्न मुसलमानों की औपचारिकता थी। कालान्तर में सहवास के कारण दोनों में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान हुआ। मतभेदों पर मानवीय भावनाओं की विजय हुई और वास्तुकला भी इससे प्रभावित हुई।

भारतीय राजगीर शताब्दियों से पत्थरों के विशाल देवालय तैयार करने के अभ्यस्त थे, किन्तु मध्यकाल में वे इसके आगे विकास न कर सके। वे भवन निर्माण में कड़ियों से काम लेते थे। भारतीय राजगीरों ने मुस्लिम प्रभाव ग्रहण करके मिहराब बनाया। शिखर का स्थान मीनारों से पृथक था। मुस्लिम आदेशों पर भारतीय राजगीरों द्वारा निर्मित भवन भारतीयता की स्पष्ट छाप है।¹ मुस्लिम वास्तुकला कई रूपों में विकसित हुई है, किन्तु भारतीय वास्तुकला अधिकतर देवालयों और हिन्दू महलों तक सामित रही। इस प्रकार उन दिनों की

1. सं० डा० हिन्दी साहित्य का इतिहास पु० 104 ।

वास्तुकला दो रूपों में विभक्त थी। धार्मिक और धर्म निरपेक्ष। वास्तुकला के उदाहरणों में दिल्ली की कुतुबमीनार तथा अजमेर का 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा'। जिसमें किसी परम्परा का अनुसरण नहीं पाया जाता। मकबरों का निर्माण उस युग की विशेषता है। मुस्लिम वास्तु कला का विकास क्रम तीन रूपों में पाया जाता है।

1. दिल्ली-सल्तनत कालीन 2. सूबेदारी अथवा प्रान्तीय व्यवस्था कालीन

3. मुगल कालीन। तैमूर लंग के आक्रमण से दिल्ली-सल्तनत की वास्तुकला प्रभावित हुई किन्तु मुगल काल इस युग के लिए स्वर्ण युग सिद्ध हुआ।

मूर्तिकला² — मध्यकालीन देव मूर्तियां प्रायः परम्परागत थी। भक्ति आन्दोलन के प्रभाव से इनमें विविधता आयी। इसके परिणाम स्वरूप इसमें क्रमशः करुण, कोमल तथा सरस अभिव्यक्तियों का आविर्भाव हुआ। इसके साथ ही लोकोन्मुखी भावनाओं तथा अनुभूतियों का संस्पर्श इन कलाओं में हुआ। मूर्तिकला का क्षेत्र अधिकतर हिन्दुओं तक सीमित रहा बौद्ध और जैन मूर्तिकला के विकास में प्रचलित रूढ़ियों के कारण अधिक विकास गुंजाइश न थी। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियां भी मूर्तिकला के विकास में सहायक नहीं हो सकती थीं।

ललित कलाएं — भक्ति कालीन आन्दोलन के प्रवाह में कला भक्ति की छाप को दर्शाने लगी। काव्य से भिन्न कला क्षेत्र का सर्वेक्षण चार वर्गों में किया जा सकता है : वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत कला। कला सर्जन के मूल में वाह्य वातावरण और परिस्थितियों के चेष्टाओं का निदर्शन प्राप्त होता है। इस काल में कला धार्मिक भावना को अभिव्यक्ति करती है। इस काल की कला में संस्कृति मिथ और इतिहास को समवेत रूप में अंकित करती है।

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 104।
2. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 104।

वास्तुकला — मध्यकालीन वास्तुकला में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क का एक परिणाम उसके नये मोड़ों में लक्षित होता है। इस्लाम के अभियान में जिन देशों को अधिकृत किया गया था, उनमें भारत की स्थिति भिन्न थी। यहां यथार्थवादी तथा आदर्शवादी मतों का द्वन्द्व था। यदि एक कल्पनाशील था तो दूसरा भौतिकता परायण; और दोनों परस्पर विरोधी लगते थे। इनका प्रभाव इनकी कलाओं पर भी पड़ना स्वाभाविक था, जिसका प्रमाण इनके देवालयों तथा मस्जिदों में लक्षित होता है। मस्जिदों का खुलापन देवालयों के घिरापन से सर्वथा भिन्न था। देवालयों की भांति मस्जिदों में विग्रह स्थान नहीं रहता, अपितु मक्का की ओर उन्मुख होना ही पर्याप्त समझा जाता है। वास्तुकला की दृष्टि से देवालय की अपेक्षा मस्जिद का स्वरूप सरल एवं बोध गम्य है¹। देवालय की दीवारों पर दैवी लीलाओं तथा साज सज्जा का अंकन होता है। मस्जिदों में इसके लिए अवकाश नहीं है। वैसे मस्जिदों को भी रंग विरंगों पत्थरों से अलंकृत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार इस क्षेत्र में दोनों के सामंजस्य में पर्याप्त कठिनाई का सामना करना पड़ा है।

इसके विपरीत वे कहीं-कहीं बाधक ही बने हैं। इस्लाम में मूर्तिपूजा का कोई स्थान एवं महत्व नहीं है। पारसी और यहूदी धर्मों में लीला तत्व का कोई महत्व न होने के कारण कला अधिक विकसित न हो सकी। ईसाई धर्म भारतीय मूर्तिकला में कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं बना सका। विघ्न बाधाओं के बीच भी हिन्दू जनता में मूर्तियों का सम्मान निरन्तर बढ़ता ही गया।

भगवान के लीला विस्तार के साथ-साथ मूर्तियों की परिकल्पनाएं तथा भंगिमाएं भी रूपांचित होने लगी।

चित्रकला – चित्र के प्रारम्भिक नमूने गुफाओं में मिलते हैं, जिनसे पुराकालीन भारतीय चित्रकारों की निरीक्षण प्रतिभा और कला कौशल का आभास मिलने लगता है। भारतीय चित्रकला में दर्शन और अनुभूति दोनों का स्थान एवं महत्व है, चित्रकला के तीन पक्ष हैं : चित्र, अर्द्धचित्र, चित्राभास इस कला में

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 104।

षडंग की महत्ता है : रूप विधान रूपभेद, प्रमाण, भाव योजना, सादृश्य और वर्णिका भंग। इस विषय का प्राचीन ग्रंथ 'विष्णु धर्मोत्तर' है। 'विद्धशाल भंजिका' नाटक में भी पूरे मानवीय चित्र का उल्लेख मिलता है, जहां सशक्त रेखाचित्र का उदाहरण उपलब्ध है। प्राकृतिक चित्रों के अतिरिक्त नमूने भी उपलब्ध हैं जो दो प्रकार के हैं : विद्ध और अविद्ध। ऐसे चित्रों में 'बुद्ध का परिनिर्वाण' प्रमुख है। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में भी भित्ति-चित्र की चर्चा है। परवर्ती, विशेषतः मध्यकालीन, चित्रों में विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति मिली है – न केवल मानवीय चित्रों में अपितु प्राकृतिक चित्रों में भी। प्राकृतिक चित्रों की एक अन्य विशेषता बारहमासा रागमाला आदि के लेखांकन में पायी जाती है। मानवीय चेष्टाओं द्वारा भी इस उद्देश्य की पूर्ति की गयी है। नायक-नायिकाओं का चित्रांकन मध्यकालीन चित्रों की एक प्रमुख विशेषता है। राजस्थानी शैली मध्यकाल में लोकप्रिय रही, जिसका ईरानी चित्र कला के मेल-जोल से मुगल शैली में विकास हुआ। यह शैली बहुत सफल तथा लोकप्रिय सिद्ध हुई। हुमायूं के साथ ईरान के दो चित्रकार मीर सैयद अली और अब्दुस्समद युद्ध क्षेत्र की वीरता, दरबारी जीवन के दृश्य जल विहार, वाटिका मनोरंजन और धार्मिक जीवन के विविध प्रसंग मध्यकालीन चित्रों की मुख्य विशेषताएं हैं। इनमें रंग रूप और रेखाओं के सुन्दर विन्यास मिलते हैं। इसके साथ ही ग्रन्थों के अलंकरण और सजावट वह परम्परा भी चलती रही, जो अपभ्रंश काल से चल पड़ी थी। इनमें सन्दर्भगत विवरणों के चित्र भी पाये जाते हैं। परन्तु मध्यकालीन चित्रकला जितनी राजघरानों और अमीरों की विषय रही है, उतनी जन-सामान्य की नहीं। अधिकतर राजाश्रित पेशेवर कलाकार ही इसके

संवर्द्धक रहे। केन्द्रीय राजसत्ता के विखराव के बाद छोटे-मोटे राज्यों में विभक्त हो चुका था, जिसका प्रभाव कला के क्षेत्र पर भी पड़ा और राजाश्रित चित्रकारों द्वारा चित्र शैली की पृथक-पृथक 'कलपें' चल पड़ीं। इनके बीच लोक-कला भी पलती रही जो वनोत्सवों अथवा मांगलिक कार्यों के अवसरों पर अभिव्यक्ति पाती रही हैं।

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 105।

संगीत कला : मध्यकालीन भारतीय संगीत का इतिहास अधिकतर संगीत घरानों का इतिहास है। इस काल में भारतीय संगीत ईरानी संगीत के मेलजोल से एक नया मोड़ आया। देवालयीय संगीत की एक धारा दरबारों में पलकर शास्त्रीयता का रूप ले रही थी और इसकी एक अन्य धारा बढ़ते हुए लोक प्रभाव के कारण लोक संगीत से कन्धा मिला रही थी।¹ ईरानी प्रभाव से ध्रुव पद के मुकाबले में ख्याल पद्धति का प्रचलन हुआ। इस काल में नये-नये वाद्यों के आविष्कार हुए। राज्याश्रय पाकर पृथक-पृथक राज्यों में नये-नये उस्तादों के घराने चल पड़े। उत्तर और दक्षिण के संगीत का भेद जितना घरानों और पद्धतियों का भेद है, उतना भारतीय संगीत का नहीं।¹ भारतीय संगीत की मूल प्रेरणा योग धर्मी स्वर साधना की है, परन्तु इस्लाम में इसे रागात्मक वृत्तियों से गर्भित माना जाता है जिस कारण खुदा के 'जिक्र' और उसकी 'इबादत' में बाधा उपस्थित होने की आशंका बनी रहती है फिर भी सूफियों यहां संगीत प्रायः में भी सहायता मिली। सूफियों में कौव्वालियां प्रसिद्ध रही हैं।

गायन पद्धति की भांति नृत्य पद्धति भी विस्तार पाती रही देवालयीय पद्धति क्षीण होने लगी तथा दरबारी पद्धतियों का सहारा पाने लगी। देवालयीय पद्धति के संगीतों में स्वामी हरिदास अग्रगण्य थे और दरबारी संगीत के प्रमुख उन्नायक उनके शिष्य तानसेन थे। ध्रुवपद शैली को ग्वालियर के राजा मानसिंह ने दरबारी संस्कार, प्रश्रय तथा प्रोत्साहन दिया। इस सन्दर्भ में बैजू वावरा और गोपाल नायक को नहीं भुलाया जा सकता ये इस युग के मूर्धन्य संगीतज्ञ थे।

अन्य क्षेत्रों की भांति मध्यकालीन कला क्षेत्र में भी समन्वय की प्रवृत्ति काम कर रही थी। इससे भारतीय कला में एक नया मोड़ आ गया, जिससे इसमें समृद्धि और सम्पन्नता बढ़ती गयी। संगीत के प्रभाव से काव्य-रचनाएं भी राग और रागिनियों के भेदों का अनुसरण करने लगीं। 'आदि ग्रन्थ' जैसे धार्मिक ग्रन्थ भी प्रचलित राग-रागिनियों के शीर्षकों से युक्त हो गये। यह पहला ग्रन्थ है, जिसमें राग-रागिनियों का विभाजन किया गया है।

इस प्रकार मध्यकालीन संस्कृति विभिन्न रूपों में मानव कलाओं में स्थान पाती रही हैं। यह संस्कृति विपुला एवं विराट है। काव्य शास्त्रीय एवं दार्शनिक परम्परायें संस्कृति के प्रसिद्ध

अंग है। यद्यपि काव्य सीधे इनका प्रतिपादन प्रायः न ही करते किन्तु भक्ति—भावित धारायें इससे अछूती नहीं हैं।

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 105।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, परम्परा और काव्य

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति भक्ति भावित है। संस्कृति का स्वरूप काव्य में विशेष विचारधारा के रूप में आता है। इस काल की प्रमुख विशेषता यह रही है, इस काल में वैष्णव भक्ति का उदय हुआ, वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास का यदि अनुसंधान किया जाय तो उसका बीज वैदिक धर्म में मिलेगा। वैदिक विष्णु देवता को यदि सगुण अवतारी देवता माना जाये तो इसका क्रमिक विकास सहज स्थिति हो जाता है, किन्तु वैदिक विष्णु और भागवत धर्म के स्वीकृत विष्णु देवता में भेद माना जाता है। भागवत धर्म का उदय ईसा से चार—पांच शती पूर्व हो गया था। गुप्त काल में विष्णु के अवतारों की पूजा अर्चना होती थी। इस समय के अभिलेखों में विष्णु के वासुदेव नारायण आदि का उल्लेख इन नामों को प्रमाणित करता है। विष्णु सम्प्रदायों में भागवत—सम्प्रदाय के बाद सात्वत धर्म माना जाता है। वासुदेव को सही इसका प्रवर्तक भी स्वीकार किया जाता है। भागवत और सात्वत शब्द पर्याय के रूप में भी उपलब्ध होते हैं। सात्वत धर्म के बाद पांचरात्र धर्म का स्थान आता है। पांच रात्र में रात्र शब्द का अर्थ ज्ञान है। पंच विध ज्ञान वचन को पंच रात्र कहते हैं। परमतत्त्व, भुक्ति, मुक्ति, योग तथा विषय (संसार) इन पांच विषयों के समवेत ग्रहण को पांच रात्र धर्म कहते हैं। शंकराचार्य आदि विद्वानों ने भी पांच रात्र धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसके सम्बन्धों में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन साम्प्रदायिक मतों के साथ वैष्णव भक्ति मार्ग का वर्णन हमें महाभारत गीता और पुराण ग्रंथों में मिलता है। महाभारत के अनेक प्रकरण वैष्णव धर्म में स्वीकृत भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। गीता महाभारत का एक अंश ही है किन्तु भक्ति के क्षेत्र में उसका स्वतंत्र स्थान बन गया है। साम्प्रदायिक भक्ति—मार्गों के पूर्व गीता और पुराण—संहिता को ही कृष्ण भक्ति का आधार समझा जाता था। गीता में भक्ति का निरूपण प्रत्यक्ष रूप में हुआ है। ऐकान्तिक कृष्ण भक्ति का जैसा

स्वच्छ और स्पष्ट रूप गीता में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। डॉ० वरूआ ने गीता को 'विश्वास तत्व' की प्रमुखता की दृष्टि से भक्ति ग्रन्थ¹ स्वीकार किया है। वैष्णव भक्ति के स्वरूप

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 175।

स्पष्ट और स्वच्छ रूप में उद्घाटित करने में मुनिवर, शाण्डिल्य और देवर्षि नारद के भक्ति सूत्रों का प्रमुख स्थान है। भक्ति क्षेत्र में शाण्डिल्य ने जब भक्ति सूत्रों का निर्माण किया तब भक्ति का व्याख्यात्मक स्तर पर प्रतिपादन हो चुका था। महाभारत, गीता, पुराण आदि इसके प्रमाण हैं। शाण्डिल्य ने सबसे मौलिक बात यह बतायी कि भक्ति पक्ष सभी भक्तों के लिए समान रूप से उन्मुक्त है। द्विजेतर व्यक्ति भी भक्ति मार्ग का अनुसरण कर भगवान की भक्ति कर सकता है। शाण्डिल्य के अनुसार भक्ति शुद्ध रागात्मिका है। परा और अपरा भक्ति के दो रूप हैं।

नारद ने अपने भक्ति सूत्र में भक्ति की उत्कृष्टता बड़े आग्रह के साथ स्थापित की है। दक्षिण भारत के आलवार भक्तों की भक्ति से नारद की भक्ति में बहुत कुछ साम्य है। नारद भक्ति को ईश्वरीय प्रेम की संज्ञा देता हैं। भक्त न चिन्ता करता है न द्वेष करता है, किसी वस्तु में आसक्त होता है। इस प्रेमरूपा भक्ति को पाकर भक्त सिद्ध हो जाता है। संक्षेप में भक्ति सूत्रों ने वैष्णवी-भक्ति भावना को शास्त्रीय धरातल दिया।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि 15वीं और 16वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म को जो आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रहा उसके प्रधान प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य थे।²

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि रामानुज से लेकर जितने भक्त दार्शनिक आचार्य हुए हैं सबका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद और निवर्तवाद से पीछा छुड़ाना था जिसके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ठहरती है। शंकर ने कवेल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म को ही परमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। बल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए की आत्मकृति कहा। अपने को अंश रूप जीवनों में विखरना ब्रह्म भी लीला मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव तिरोभाव की अचिन्त्य शक्ति से जगत के रूप में परिणत भी

होता है और उसको परे भी रहता है। वह अपने सत् चित् और आनन्द, इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित का आविर्भाव रहता है पर आनन्द का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है, चित् और आनन्द दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर पुरुषोत्तम कहलाते हैं। आनन्द का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम रूप में रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएं नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए 'व्यापी बैकुण्ठ' में (जो विष्णु के बैकुण्ठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीडाएं करते रहते हैं। गोलोक इसी व्यापी बैकुण्ठ का एक खण्ड है, जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ है। भगवान् की इस 'नित्य लीला सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।²

शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक।

बल्लभाचार्य ने बात उलट कर सगुण रूप को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसकी तिरोहित रूप कहा। भक्ति की साधना के लिए वल्लभ ने उसके 'श्रद्धा' के अवयव को छोड़कर जो महत्व की भावना में मग्न करता है, केवल प्रेम लिया। प्रेम लक्षण भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में सूरदास की एक वार्ता के अवर्गत प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा या पूज्य बुद्धि को ही आपनुषंगिक या सहायक कहा है —

'श्री आचार्य जी, महाप्रभु के मार्ग को कहा स्वरूप है ? महात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह तो पराकाष्ठा है।

सांस्कृतिक परिवेश से दर्शन एवं साहित्य दोनों का विकास होता है। वैष्णव धर्म के विकास क्रम में वल्लभाचार्य की जो चर्चा की गई है उसके परिप्रेक्ष्य में वल्लभाचार्य के वेदान्त दर्शन पर प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि यह विचारधारा कृष्ण भक्ति परम्परा की महत्वपूर्ण एवं मुख्य धारा है।

वल्लभ सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत या पुष्टि मार्ग कहलाता है। शुद्धाद्वैत का विग्रह षष्ठी तत्पुरुष और कर्मधारय दोनों प्रकार के समासों से किया जा सकता है। षष्ठी तत्पुरुष समास के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ है – शुद्धयोः अद्वैतम् अर्थात् शुद्ध जगत और जीव का ब्रह्म से अद्वैत, जगत और जीव शुद्ध ब्रह्म के ही रूप हैं और ब्रह्म से अभिन्न हैं। कर्मधारय समास के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ है – शुद्ध च तत् अद्वैतम् अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है; शुद्ध का अर्थ है माया सम्बन्ध¹ रहित और अद्वैत का अर्थ है सजातीय–विजातीय–स्वगत द्वैत वर्जित²।

शांकर वेदान्त द्वारा अभिमत भ्रान्तिरूपा सद सदनिर्वचनीया माया ब्रह्म का स्पर्श भी नहीं कर सकती। इस प्रकार की कल्पित माया से ब्रह्म के सजातीय जीव, विजातीय जड़ पदार्थ और स्वगत अन्तर्यामी वस्तुतः ब्रह्म रूप ही है, अतः ब्रह्म इस त्रिविध भेद या द्वैत से रहित अद्वैत तत्त्व ही है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम सार्थक है। इसी नाम पुष्टि मार्ग भी है। पुष्टि का अर्थ है भगवान का अनुग्रह। श्रीमद् भागवत में पोषण या पुष्टि का भगवद् अनुग्रह बताते हुए इसे ही भगवत् प्राप्ति का एक मात्र कारण माना गया³ है। वल्लभाचार्य ने भागवत् के इस रहस्य को अपने पुष्टिमार्ग में सम्पुष्ट किया है। पुष्टिमार्ग, ज्ञान, कर्म, आदि से निरपेक्ष है। यहां भगवदनुग्रह से ही सिद्धि होती है, यत्न तो विघ्न उत्पन्न करते हैं।

वल्लभ मत में ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत तत्त्व है। ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट है एवं धर्माश्रय भी है। ब्रह्म में विरुद्ध धर्मों की स्थिति स्वाभाविक है, मायिक नहीं। ब्रह्म कार्य और कारण दोनों रूपों में शुद्ध है। भगवान श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं³।

1. डॉ० चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 321।

2. वही, पृष्ठ 321–321।

3. वही, पृष्ठ 321–321।

भगवान की शक्ति और महिमा अनन्त है। वे एक भी हैं, अनेक भी हैं। निर्विशेष निर्गुण भी हैं और सविशेष सगुण भी हैं। वे परम स्वतंत्र हैं और भक्ताधीन भी हैं। वे सच्चिदानन्द हैं। वे अणु से अणु और महान से महान हैं। वे अपने सत्, चित, और आनन्द स्वरूप का अपनी इच्छारूपी शक्ति से विविध अंशों में आविर्भाव और विरोभाव करते हुए जड़ जगत्, चेतन जीवों और अन्तर्यामी नियामकों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति वास्तविक है, माया कल्पित नहीं। यह जत् और जीव ब्रह्मरूप होने से सत्य और नित्य हैं। माया ब्रह्म की वास्तविक अघटित-घटना पटीयसी शक्ति है जो उन्हीं में स्थिति रहती है। अविद्या इस माया का भ्रान्तिजनक पक्ष है। इससे जीवों में ज्ञान का तिरोभाव और अज्ञान का आविर्भाव होता है।

ब्रह्म त्रिरूप है। आधि दैविक परब्रह्म, आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म और आधिभौतिक जगत्। गीता में जगत् या प्रकृति को क्षर पुरुष तथा आत्मा को अक्षर पुरुष एवं पर ब्रह्म को क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम कहा गया¹ है। अक्षर ब्रह्म विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान मार्ग द्वारा इसी की प्राप्ति सम्भव है। पुरुषोत्तम परब्रह्म अखण्डानन्द परिपूर्ण है और उसकी प्राप्ति अनन्य भक्ति से पुष्टि मार्ग द्वारा होती है।

सच्चिदानन्द भगवान को जब रमण करने की इच्छा होती है, एक से अनेक रूपों में अभिव्यक्ति की इच्छा होती है, तब स्वयं जगत्, जीव और अन्तर्यामी रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। इसमें भगवान की इच्छा क्रीड़ा या लीला ही एक मात्र हेतु है। यह अभिव्यक्ति वास्तविक है, माया कल्पित नहीं है। यह विवर्त नहीं है, यह विकार युक्त परिवर्तन भी नहीं है।

ज्ञानमार्गीय बिशुद्ध ज्ञान स्वरूप अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, किन्तु आनन्द स्वरूप पुरुषोत्तम की प्राप्ति तो पुष्टिमार्गीय भक्तों को होती है। यह स्वीकृत तथ्य है कि ब्रह्म के सदंश से जीव की बन्धन सामाग्री के रूप में जड़

जगत् का तथा चिदंश से बन्धनीय चेतन जीवनों का निगर्मन होता है। ब्रह्म के अविकृत आनन्दांश से अन्तर्यामी निर्गमित होते हैं, जिनमें सत्, चित्त और आनन्द तीनों का आविर्भाव रहता है। ये अन्तर्यामी जीवों में उनके नियामक बन कर रहते हैं। प्रत्येक जीवन का एक नियामक अन्तर्यामी होता है। अतः अन्तर्यामी भी संख्या में उतने ही हैं जितने जीव होते हैं ये अन्तर्यामी सच्चिदानन्द होने से ये वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप है, किन्तु जीवनों के नियामक बनकर उनकी सहायता करने के कारण इन्हें जीवनों के सामने असंख्य माना गया है। ब्रह्म इन अन्तर्यामी का भी अन्तर्यामी है। ब्रह्म अपने विजातीय जड़ जगत्, सजातीय जीवन और स्वगत अन्तर्यामी इन तीनों रूपों अनुस्थूत है, अतः वह इन तीनों का अन्तर्यामी है। और वह अपने परात् पर रूप में पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण है।

वल्लभ—दर्शन में जगत् प्रपंच में और संसार में एक विलक्षण भेद स्वीकार किया गया है। यह जगत्—या प्रपंच सच्चिदानन्द भगवान की इच्छा से उनके संदृश से आविर्भूत होने के कारण ब्रह्म रूप होने से सत्य तथा नित्य है। नित्य होने से उत्पत्ति विनाश रहित है। जगत् के विपरीत संसार या जीव का जन्म मरण चक्र अविद्या कल्पित है। यह अविद्या पंचपवी (पांच प्रकार की हैं) 1. जीव का स्वरूप ज्ञान 2. देहाध्यास 3. इन्द्रियाध्यास 4. प्राणाध्यास और अन्तः करणाध्यास जब तक अविद्या है तब तक संसार है। ज्ञान के उदय होने पर अविद्या निवृत्ति के साथ संसार की भी निवृत्ति हो जाती है। किन्तु ब्रह्म स्वरूप होने के कारण जगत् या प्रपंच का कभी नाश नहीं होता क्योंकि वह ब्रह्म के समान नित्य है।

वल्लभ मत में इसे 'अविकृत परिणाम' कहा जाता है। भगवान ही अविकृत भाव से जगदादि रूप ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार कटक—कुण्डलादि सुवर्ण के अविकृत परिणाम हैं क्योंकि कटक—कुण्डलादि रूपों में परिणत होने पर भी सुवर्ण में परिणत किया जा सकता है, उसी प्रकार अविकृत भाव से जगदादि रूपों में अभिव्यक्त होने पर भी ब्रह्म में कोई विकार नहीं होता।

कार्य ब्रह्म और कारणब्रह्म दोनों शुद्धब्रह्म रूप होने से एक ही है। जगत् और जीव सत्य और नित्य है। अतः उत्पत्ति—विनाश रहित है। उत्पत्ति का अर्थ आविर्भाव और विनाश का तिरोभाव है। बल्लभ—मत में आविर्भाव का अर्थ 'अनुभव योग्य होना' है। जिस प्रकार अग्नि से स्फलिंग के निकलने को व्यच्चुरण विकिरण या निगर्मन कहते हैं यह निगर्मन उत्पत्ति नहीं है और न स्फलिंग का पुनः अग्नि—प्रवेश उसका विनाश है। अतः व्युच्चरण होने पर भी जगत् या जीवन की नित्यता अक्षुण्ण रहती है। सच्चिदानन्द भगवान के अविकृत सदंश से जड़ जगत् का निगर्मन होता है, इसमें सदंश का आविर्भाव और चिदंश तथा आनन्दांश का तिरोभाव रहता है। जीव अणुरूप हो जाता है और ज्ञानाश्रय भी है। जीव में ऐश्वर्य के तिरोभाव से दैन्य, यश के तिरोभाव से हीनत्व। श्री के विरोभाव से अपकर्ष, ज्ञान के तिरोभाव से देह, आत्मबुद्धि और आनन्द के तिरोभाव से दुःख उत्पन्न होता है। जीव अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें संसारी शुद्ध मुक्त भेद मुख्य है। अविद्या युक्त जीव संसारी है। ये दो प्रकार के हैं, दैव और असुर; दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भक्तों के होते हैं। अविद्या रहित जीवन शुद्ध होते हैं। जब भगवद् अनुग्रह से जीव में तिरोहित आनन्दांश आविर्भाव होता है। तब वह मुक्त होकर भगवान के आनन्द का अनुभव करता है।

पुष्टिमार्ग में भक्ति ईश्वर के अनन्य प्रेम द्वारा उनके प्रति आत्म समर्पण है। इसमें ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त अन्य कोई यत्न या साधन नहीं है। भक्ति का स्थायी भाव प्रेम है। भगवान के महात्म्य के ज्ञान सहित उनके प्रति सुदृढ़ सवांतिशार्या प्रेम ही भक्ति कहलाता है और केवल उसी से मुक्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं। प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण की सेवा भक्ति है। जब चित्त समाधि के समानभगवान में लीन होकर एक रस हो जाय वह भगवदाकार चित्त सेवा रूप है। वास्तव में रसरूप भगवान की रसमय सेवा ही भक्ति का चरमोत्कर्ष है। वस्तुतः श्रीकृष्ण प्रेम की अनाविल धारा कृष्ण भक्ति धारा में प्रवाहित हुई।

इस प्रकार हम पाते हैं कि कृष्ण भक्ति की प्रेम धारा का प्रधान रूप ही देदीप्यमान रहा है। इस धारा का प्रवाह विद्यापति, जयदेव के साथ कृष्ण भक्ति धारा के अष्टछाप के कवियों के काव्य में विद्यमान रहा है। इसी परम्परा के अन्तर्गत मीरा और रसखान भी हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है — कृष्ण चरित्र के गान में गीत काव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई, उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया। आगे चलकर अलंकार काल के कवियों ने अपनी श्रृंगारमयी मुक्तक कविता के लिए राधा और कृष्ण का ही प्रेम लिया।'

विद्यापति मिथिला निवासी थे — जयदेव (उड़ीसा) और चण्डीदास (बंगाल) की परम्परा में उन्होंने चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में राधा-कृष्ण प्रेम की जैसी सरस कोमल अवतारणा की, उसी का परिणाम है कि मूलतः शैव होने पर उन्हें कृष्ण भक्तों की पंक्ति में स्थान दिया जाता है।

उनके द्वारा रचित 'पदावली' की 'सरसता' को लक्षित कर लोक-हृदय और पण्डित समाज ने उन्हें अभिनव जयदेव, मैथिल कोकिल, नवक विशेषर आदि उपाधियों से विभूषित किया। विद्यापति को विहार और बंगाल में ही नहीं, सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र में असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई। विद्यापति का जन्म जिला दरभंगा (विहार) के विसयी ग्राम में एक विद्यानुरागी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता गणपति ठाकुर संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान और राजाश्रित कवि थे। फलस्वरूप विद्याध्ययन और लेखन के संस्कार उन्हें कुल परम्परा से प्राप्त हुए। पिता की भांति विद्यापति ने भी राजाश्रय में काव्य-रचना की तिरहुत के दरबार में उन्हें अपार सम्मान प्राप्त हुआ। उनके द्वारा उचित कृतियों की भाषा के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। उन्होंने एक ओर 'शैव सर्वस्वसार' 'गंगावाक्यावली' 'भूपरिक्रमा' पुरुष परीक्षा आदि संस्कृत

1. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 109

ग्रंथों की रचना की; दूसरी ओर अवहट्ट में रचित 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में क्रमशः राजा कीर्ति सिंह और शिवसिंह की वीरता, उनके द्वारा किये गये युद्धों और उदारता का वर्णन किया और तीसरी ओर मैथिली में 'पदावली' का गान किया। विद्यापति के पदलोकंठ में सुरक्षित

रहे, फलस्वरूप इनके भाषा—रूप में गायक की सुविधानुसार यत्किंचित परिवर्तित होते रहे। यही कारण है कि मैथिली हिन्दी में रचित होने पर भी 'पदावली' में बंगला—प्रभाव विद्यमान है और बंगला साहित्य में भी उसे उतना ही सत्कार प्राप्त है।

जिन पदों में राधाकृष्ण को नायक—नायिका के रूप में ग्रहण कर श्रृंगार वर्णन किया गया है उनमें भी भावुक जन भक्ति की अन्तः सलिला का प्रवाह पाते हैं जनश्रुति है कि महाप्रभु चैतन्य इन पदों को गाते—गाते भाव विभोर होकर मूर्च्छित हो जाया करते थे।

वस्तु तथ्य यह है कि 'पदावली' के पदों में रूप, अभिसार और मिलन का बहुरंगी चित्रण है। कवि ने राधाकृष्ण का नामना उल्लेख अवश्य किया है किन्तु उनकी क्रियायें सामान्य ऐन्द्रिय आसक्ति से युक्त हैं। कवि ने उनके मांसल सौन्दर्य के साथ ही नायक—नायिका के प्रति प्रेम वासना में निमग्न दिखाया है। पदावली में नखशिख सौन्दर्य, मिलन की आकांक्षा, काम के लिए और पूर्व घटित प्रेम—लीलाओं की वियोग काल में स्मृति 'पदावली' के मुख्य वर्ण्य विषय है किन्तु इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि श्रृंगारिक पृष्ठभूमि में भक्ति का विकास भी होता है।

'पदावली' में भाव—वर्णन अत्यधिक मार्मिक, प्रौढ़ तथा सशक्त है। संयोर श्रृंगार के मादक चित्र, चाहे वियोग—व्यथा का मार्मिक वर्णन—हृदय की तरलता और गहराई का सम्मिश्रण दोनों अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान है। तत्त्वतः विद्यापति के प्रेम वर्णन में न तो मनोवैज्ञानिकता का अभाव है न उसमें सामाजिक अस्वस्थता है सौन्दर्य के प्रति आसक्ति और प्रेमानुभूति मानव मन की ऐसी सहज वृत्तियां हैं। ये सहज वृत्तियां परिष्कृत होकर आध्यात्मिक बनती हैं। मनोविज्ञान में इसे उदात्तीकरण (**Sublimation**) कहा गया है।

1. डा० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 197।

डा० रामकुमार वर्मा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' जिसमें एक ओर आराधना तथा दूसरी ओर वासना दिखाई देती है। किन्तु इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि विद्यापति भक्त कवि भी हैं प्रस्तुत है प्रस्तुत पद'

मोर पिया सखि गेल दुरि देश, जौवन दए भेल साल सनेस।

मास असाढ़ उनत नव मेघ। पिया विसलेख रहओं निरथेघ॥

कौन पुरुष सखि कौन से देश। करब मोय तहां जोगिन भेस॥

प्रस्तुत पद में वियोग के प्रेम को भलीभांति समझा जा सकता है।

विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में गूंजती हुई राधाकृष्ण के चरणों पर समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है। उन्होंने श्रृंगार रस पर ऐसी लेखनी उठाई जिससे राधाकृष्ण के जीवन का तत्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है। विद्यापति की कविता गीतिकाव्य के स्वरों में है। गीतिकाव्य का यह लक्षण है कि उसमें व्यक्तिगत विचार, भावोन्माद, आशा—निराशा की धारा अबाध रूप से बहती है। कवि के अन्तर्जगत के सभी विचार, व्यापार और उसके सूक्ष्म हृदयोद्गार उस काव्य में संगीत के साथ व्यक्त रहते हैं। विद्यापति के कविता में श्रृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है, भाव आलम्बन विभाग, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का दिग्दर्शन उनके पदावली में सुन्दर रीति से मिल सकता है। उनके सामने विश्व के श्रृंगार में राधा और कृष्ण की मूर्तिया हैं। स्थायी भाव 'रति' तो पदावली में आदि से अन्त तक है ही। आलम्बन विभाव में नायक कृष्ण और नायिका राधिका का मनोहर चित्र खिंचा गया है। डॉ० राम कुमार वर्मा के विचार इस विषय में उल्लेखनीय हैं — विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है। वे एक कल्पित राज्य में विहार

1. डॉ० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 489।

करते हैं। वे अपनी कल्पना के सौन्दर्य में ऐसे डूब गये हैं कि किसी दूसरी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं जाती। विद्यापति की राधा प्रेम करती है, इसलिए कि वह स्त्री है और स्त्रियां प्रेम करना जानती हैं। राधा प्रेम करती हैं, इसलिए कि कृष्ण सुन्दर हैं और सुन्दरता से प्रेम होना स्वाभाविक है।

जहां तक मांसल प्रेम के चित्रण का वर्णन है केवल उसे ही आधार बनाकर भक्ति को समाप्त नहीं किया जा सकता। डॉ० शिव प्रसाद सिंह विद्यापति में लिखा है कि भक्ति का रूमेष्ट शृंगारिक भूमि में होता है। संभवतः शिव प्रसाद का कथन सत्य के अधिक निकट है।

सूर के प्रसंग में विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं —

कवि विद्यापति की पदावली हमें जो उनका रूप मिलता है सूर के शृंगारी पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। कुछ पदों के भाव एक जैसे हैं।¹

अनखुन माधव माधव सुमिरइत सुन्दर भेलि मधाई
और निज भाव सुभावहि विसरल अपने गुण लुबधाई।।
मोरहि सहचरि कातर ढिटि हेरि छल—छल लोचन पानि
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि।।
राधा सयं जब पनि तहि माधव माधव सयं जब राधा।
दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत बाढ़त बिरह क बाधा,
दुहू हिसि दारू दहन जइसे दगधइ आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान।।

इस पद का भावार्थ यह है कि प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करते—करते राधा कृष्ण रूप हो जाती है और अपने को कृष्ण समझकर राधा के वियोग में

1. डा० राजकुमार वर्मा: हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास— पृष्ठ 490 ।

2. आ० रामाचन्द्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 110

‘राधा राधा’ रटने लगती है फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह में संतप्त होकर फिर कृष्ण—कृष्ण करने लगती हैं। इस प्रकार अपनी सुध में रहती हैं, तब भी, नहीं रहती हैं, तब भी विरह अवस्थाओं में उन्हें विरह का ताप सहना पड़ता है। उनकी दशा उस लकड़ी के भीतर के कीड़े सी रहती है, जिसके दोनों छोरों पर आग लगी हो।

सूर का निम्नलिखित पद भी इसी भाव का है —

सुनौ स्याम ! यह बात और कोउ क्यों समझाय कहै ।

दुहुं दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै ।

जब राधे, तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै ।

जब माधव हैव जाति सकल तनु राधा बिरह दहै ।

उभय अग्र इव दारु कीट ज्यों सीतलाताहि चहै ।

सूरदास अति विकल बिरहिनी कैसेहु सुखन लहै ।।¹

कृष्ण भक्ति परम्परा में विद्यापति का उल्लेख किया जा चुका है। यहां 'मध्ययुगीन भक्ति सम्प्रदायों में कृष्ण' का परिचय देना आवश्यक है।

मध्य युग में कृष्ण भक्ति का प्रचार ब्रज मंडल में बड़े उत्साह और भावना के साथ हुआ। इस संदर्भ में वल्लभ निम्बार्क, राधा वल्लभ, हरिदासी और चैतन्य सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्द—स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म है। वे सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। वे व्यापक, नाशरहित, सर्वशक्तिमान, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, स्वजातीय विजातीय—भेद—रहित है और उनके अनन्त रूप हैं। इस जगत में वही निमित्त कारण हैं और वे सम्पूर्ण विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। वे श्रीकृष्ण अपनी आनन्द—प्रदायिनी शक्तियों को अपने में प्रसारित करके अनेक अप्राकृतिक लीलाएं किया करते हैं, उन्हीं के समान उनकी लीलाएं

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ— 110

भी नित्य हैं। उनकी लीलाओं का कोई प्रयोजन नहीं है—स्वयं लीला ही उनका प्रयोजन है। निम्बार्क सम्प्रदाय में कृष्ण के वामांग में सुशोभित राधा के साथ कृष्ण की उपासना का विधान है। समस्त वस्तुओं के मूल स्रोत कृष्ण ब्रह्म ही हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए कृष्ण अवतार धारण करते हैं। ब्रह्म और शिव भी कृष्ण की वन्दना करते हैं। उनके चरणारविंद को छोड़कर

जीवों के लिए अन्य गति नहीं है। दैन्य भाव से उनकी कृपा प्राप्त होती है और फिर प्रेम मूला भक्ति द्वारा जीव का कल्याण होता है। राधा वल्लभ—सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण का प्रमुख स्थान नहीं है, राधा ही प्रमुख है। श्रीकृष्ण आनुवंशिक रूप से वर्णित है, किन्तु इस वर्णन में कृष्ण के भीतर सभी शक्तियों का समाहार अवश्य लक्षित होता है। वृन्दावन विहारी कृष्ण ही रसिक किशोर—रूप में एक मात्र नित्य विहारी पुरुष है। उनकी पराप्रकृति भी राधा है, जो चित—अचित विशिष्ट आह्लादिनी निज शक्ति—रूपा है। सारा चराचर जगत इन्हीं रसिक युगल किशोर का प्रतिबिम्ब है।

भगवान कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम परात्पर ब्रह्म के भी आदि कारण ईश्वर के भी ईश्वर हैं। श्रीकृष्ण का वृन्दावन विहारी, मथुरावासी और द्वारकावासी के रूप में वर्णन मिलता है। ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति और पराक्रम को अन्तर्लीन कर प्रेम और माधुर्य की साक्षात् मूर्तिबन्धन वे गोप—गोपियों के साथ लीलारत रहते हैं। वे रघुपति होकर रसराज शृंगार के सौन्दर्य मण्डित रूप का विस्तार करने वाले हैं। इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण का उपास्यनाम 'राधा वल्लभ' है।

हरिदासी सम्प्रदाय (सखी सम्प्रदाय) में भी श्रीकृष्ण का स्वरूप लगभग इसी प्रकार वर्णित है। स्वामी हरिदास ने नित्य विहारी कृष्ण की निकुंज लीलाओं का गान किया है। इस सम्प्रदाय में निकुंज बिहारी कृष्ण सर्वोपरि है। ये कृष्ण न तो सृष्टि रचना प्रक्रिया में पड़ते हैं, न प्रभुताधारण कर संसार के क्रियाकलाप के प्रति दायित्व रखते हैं। अन्य अवतारों की भांति दुष्ट, दलन, राक्षस—विध्वंस आदि कार्य वे नहीं करते। सृष्टि—रचना, लय स्थिति आदि के समस्त कर्म उन्होंने

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 199।

ईश्वर पर छोड़े हैं जो कृष्ण से लघु माने गये हैं। ठकुराई से दूर रहकर निकुंज लीला में रत रहना ही कृष्ण का स्वभाव है। सहज शृंगार रस में लीन होकर निकुंज—लीला—परायण कृष्ण की उपासना और नित्य विहार वर्णन ही सहचारी या सखी का काम्य है।

गौड़ीय सम्प्रदाय : गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण को ब्रजेन्द्र कुमार ने कहा है और यह माना है कि वे ब्रज में गोलोक की लालाओं—सहित—विहार करते हैं। वे परम

तत्त्व, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण आनन्दरूप हैं, श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियां हैं, उनमें एक आह्लादिनी शक्ति है। राधा इसी शक्ति का रूप है। 'चैतन्य चरितामृत' में राधा और कृष्ण के स्वरूप तथा शक्तियों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन मिलता है जो गौड़ीय सम्प्रदाय को स्पष्ट करने में समर्थ है। इसमें ब्रजेन्द्र कुमार कृष्ण और गोलोक वासी कृष्ण में अभिन्नता स्वीकार की गयी है और कृष्ण की किशोरावस्था का ही वर्णन है, अतः लीलाओं का आधार कान्ता भाव या माधुर्य भाव है।

उपर्युक्त विवेचन में हम जो कृष्ण भक्ति के आधार पाते हैं, उसमें वल्लभ सम्प्रदाय सबसे महत्वपूर्ण है। अष्टछाप के कवि इसी सम्प्रदाय के समर्थक हैं।

श्री वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टि मार्गीय भक्ति की स्थापना की थी, उसका जिन हिन्दी-भक्त-कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें अष्टछाप के कवि कहा जाता है। वैसे तो पुष्टिमार्ग को स्वीकार करने वाले अनेक भक्त उस समय विद्यमान थे, किन्तु जिन आठ कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आशीर्वाद की छाप लगायी थी वे अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आठ कवियों में चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे — कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्द दास और कृष्णदास। अन्य चार गोस्वामी विट्ठलदास नाथ के शिष्य थे। गोविन्द स्वामी, नन्ददास, क्षीतस्वामी और चतुर्भुज दास। ये आठों भक्त श्रीनाथ जी की नित्य लीला में अन्तरंग सखाओं के रूप में सदैव उनके साथ रहते थे। इसी मान्यता के आधार पर इन्हें अष्टसखा कहते हैं। गोवर्धन में श्रीनाथ जी की प्रतिष्ठा के बाद आठो सखा वहां सेवा के लिए प्रस्तुत हो गये। इन आठों कवियों में सूरदास सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सूरदास की शिक्षा आदि के विषय में किसी ग्रन्थ में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता, केवल इतना ही हरिराय जी ने लिखा है कि वे गांव से चार कोस दूर रहकर पद-रचना में लीन रहते थे और गान विद्या में प्रवीण थे। भक्त मंडली उनके पद सुनने एकत्र हो जाती थीं। उनके पद विनय और दैन्यभाव के होते थे, किन्तु श्री वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने पर उन्हीं की प्रेरणा से सूरदास ने दास्य-भाव और विनय के पद लिखना बन्द कर दिया तथा सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की पद रचना करने लगे। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने उनके द्वारा रचित पच्चीस पुस्तकों की सूचना दी है। जिनमें सूरसागर, सूर सारावली, साहित्य लहरी, सूर पचीसी, सूर

रामायण, सूर साठी और राधा रस केलि प्रकाशित हो चुकी हैं। वस्तुतः 'सूर सागर' और 'साहित्य लहरी' ही उनकी श्रेष्ठ कृतियां हैं। 'सूर सारावली' को अनेक विद्वान अप्रामाणिक मानते हैं, किन्तु ऐसे विद्वान भी हैं जो इसे 'सूरसागर' का सार अथवा उसकी विषय-सूची मानकर इसकी प्रामाणिकता के पक्ष में हैं। 'सूरसागर' की रचना 'भागवत' की पद्धति पर द्वादश स्कन्धों में हुई है।¹

रूप चित्रण के लिए नखशिख-वर्णन को सूर ने अनेक बार स्वीकार किया है। ब्रज के पर्वों, त्योहारों, वर्षोत्सवों आदि का भी वर्णन उनकी रचनाओं में है।

सूर की समस्त रचना पद रचना है। ब्रजभाषा के अग्रदूत सूरदास ने इस भाषा को जो गौरव गरिमा प्रदान की, उसके परिणामस्वरूप ब्रजभाषा अपने युग में काव्य-भाषा में चित्रात्मकता, अलंकारिकता, भावात्मकता, सजीवता, प्रतीकात्मकता तथा बिम्बात्मकता पूर्ण रूप से विद्यमान है। सूर ने ब्रजभाषा को ग्रामीण जनपद से हटाकर नगर और ग्राम के सन्धि स्थल पर बिठा दिया है।

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 201 ।

संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता भी ब्रजभाषा को सुन्दर और सुन्दर सुगम बनाने में सक्षम है। ब्रजभाषा की ठेठ माधुरी, संस्कृत और अरबी-फारसी के साथ सजीव एवं जीवन्त बन गई है। सूर का यह भाषा सौन्दर्य उनकी भक्ति पद्धति का प्रसाद है।

सूर की भक्ति पद्धति का मेरुदण्ड पुष्टिमार्गी भक्ति है। भगवान् भी भक्त पर कृपा का नाम ही पोषण है : 'पोषणं तदनुग्रह' पोषण के भाव को स्पष्ट करने के लिए भक्ति के दो रूप बताये गये हैं—साधन रूप और साध्य रूप। साधन-भक्ति में भक्त का प्रयत्न करना पड़ता है किन्तु साध्य रूप में भक्त सब कुछ विसर्जित करके भगवान की शरण में अपने को छोड़ देता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति को अपनाने के बाद प्रभु स्वयं अपने भक्त का ध्यान रखते हैं, भक्त तो अनुग्रह पर भरोसा करके शान्त बैठ जाता है। इस मार्ग में भगवान के अनुग्रह पर ही सर्वाधिक

बल दिया जाता है, भगवान का अनुग्रह ही भक्त का कल्याण करके इस लोक से युक्त करने में सफल¹ होता है :

जा पर दीना नाथ ढरै
सोई कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जापर कृपा करै।
सूर पतित तरिजाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै।

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए सूर की भक्ति-पद्धति में अनुग्रह का ही प्राधान्य है — ज्ञान, योग, कर्म, यहां तक कि उपासना भी निरर्थक समझी जाती है। उन्होंने भगवदासक्ति के एकादश रूपों का वर्णन किया है।

‘साहित्य लहरी’ सूरदास के प्रसिद्ध दृष्टकूट पदों का संग्रह है। इसमें अर्थ गोपन-शैली में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, साथ ही अलंकार निरूपण की दृष्टि से भी इस ग्रंथ का महत्व है।

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 203।

सूर काव्य का मुख्य विषय कृष्ण भक्ति है। ‘भागवत’ पुराण को उपजीव्य मानकर उन्होंने राधा-कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन ‘सूरसागर’ में किया है। ‘भागवत’ के द्वादश स्कन्धों से अनुरूपता के कारण कुछ विद्वान इसे ‘भागवत’ का अनुवाद समझने की भूल कर बैठते हैं, किन्तु वस्तुतः सूर के पदों का क्रम स्वतंत्र है। वैसे उनके मन में ‘भागवत’ पुराण की पूर्ण प्रतिष्ठा है। उन्होंने कृष्ण चरित्र के उन भावात्मक स्थलों को चुना है जिनमें उनकी अन्तरात्मा की गहरी अनुभूति पैठ सकी है। उन्होंने श्रीकृष्ण के शैशव और कैशोर वय की विविध लीलाओं का चयन किया है, संभवतः यह साम्प्रदायिक दृष्टि से किया गया हो। सूर की दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप पर ही अधिक रही है, उनके द्वारा दुष्टदलन आदि का वर्णन सामान्य रूप से ही किया है। लीला वर्णन में कवि का ध्यान संभवतः भाव चित्रण पर रहा है। विनय और दैन्य-प्रदर्शन के प्रसंग में जो पद सूर ने लिखे हैं, उनमें भी उच्च कोटि के भावों का समावेश है।

सूर के भाव चित्रण में वात्सल्य—भाव को श्रेष्ठतम कहा जाता है। बाल—भाव और वात्सल्य से सने मातृभाव के प्रेमभावों के चित्रण में सूर अपना सानी नहीं रखते। बालक की विविध उत्कंठाओं और भावनाओं के वर्णन में सूरदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। वात्सल्य—भाव के पदों की विशेषता यह है कि उनको पढ़कर पाठक जीवन की नीरस और जटिल समस्याओं को भूलकर उनमें मग्न हो जाती है दूसरी ओर भक्ति के साथ श्रृंगार को जोड़कर उनके संयोग एवं वियोग पक्षों का जैसा मार्मिक वर्णन सूर ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रवास—जनित वियोग के सन्दर्भ में भ्रमर गीत—प्रसंग तो सूर की काव्यकला का उत्कृष्ट निदर्शन है। इस अन्योक्ति एवं उपलम्भ मेघा का परिचय प्राप्त होता है। सूरदास के भ्रमरगीत में केवल दार्शनिकता और आध्यात्मिक मार्ग का ही उल्लेख नहीं है, वरन् उनमें काव्य के सभी श्रेष्ठ उपकरण उपलब्ध होते हैं। सगुण भक्ति का ऐसा सफल प्रतिपादन अन्यत्र देखने में नहीं आता। इस प्रकार सूर काव्य में प्रकृति सौन्दर्य, जीवन के विविध पक्षों, बाल चरित्र के विविध प्रसंगों, क्रीड़ाओं, गोचारण, रास आदि का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है।

‘नारद भक्तिसूत्र’ के अनुसार आसक्ति के एकादश रूप इस प्रकार हैं — गुण महात्म्या सक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, संख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और विरहासक्ति। यद्यपि सूर ने इन सभी का वर्णन किया है, किन्तु उनका मन सख्य, वात्सल्यरूप, कान्त और तन्मयासक्ति में अधिक रमा है। तन्मयासक्ति का उदाहरण देखिये:

“उर में माखन चोर गड़े। अब कैसेहूँ निकसत नहिं ऊधौ, तिरछै हैव जु अड़े”।।¹

परम विरहासक्ति भ्रमर गीत के पदों में बड़ी समीचीन शैली में व्यक्त हुई है। अष्टछाप के अन्य कवियों में परमानन्ददास तथा कुम्भनदास ने भी इस विषय पर पद लिखे हैं। प्रेमासक्ति में विरह की स्वीकृति इस सम्प्रदाय में प्रारम्भ से मिलती है। भक्ति के दार्शनिक स्वरूप की ओर सूर का ध्यान बराबर बना रहा। सिद्धान्त पक्ष की स्थापना में उन्होंने बल्लभाचार्य के शुद्धद्वैत का ध्यान रखा और ब्रह्म, जीव आदि का वर्णन करते समय सूक्ष्म बातों का भी यथास्थान उल्लेख किया। इतना ही नहीं, ईश्वर, माया, जीव, काल और सृष्टि रचना का विशद वर्णन करके उन्होंने

अपने भक्ति सिद्धान्तों को इतना पुष्ट और परिपूर्ण बना दिया कि उसमें एक आरे जहां गहन दार्शनिकता आ गयी है वहां दूसरी ओर जीवन की कोमल भावनाओं के कारण सुकुमारता, भावुकता और तल्लीनता की भी कमी नहीं है। उनके भक्तिकाव्य के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात करके यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि उनकी भक्ति-पद्धति का प्रमुख आधार पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त 'भगवदनुग्रह' ही था और इसी को केन्द्र बिन्दु मानकर वे वात्सल्य आदि की प्रेम व्यंजना करने में लीन रहे। भक्ति कृपा की प्राप्ति का साधन उन्होंने प्रेम को माना। बाद में प्रेमाभक्ति को अपनाकर उन्होंने भगवत्प्रेम को ही भक्ति का मेरुदण्ड मान लिया और प्रेम की परिपूर्णता के लिए विरह को आवश्यक मानकर विरह के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया :

1. सूरसागर: भ्रमर गीत।

ऊधौ विरहौ प्रेम करै। ज्यों बिनु पुट पर गहत न रंग को रंग न रसैपरै।

ज्यों घर दहै बीज अंकुर गिरि ते सत फरनि फरै।

सूरदास ने प्रेम और विरह के द्वारा सगुण मार्ग से कृष्ण को साध्य माना है। उनके कृष्ण-सखा रूप में भी सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं।

विष्णु, हरि, राम आदि सब कृष्ण ही के नाम हैं। निर्गुण ब्रह्म के ये सगुण नाम हैं और इनमें भेद बुद्धि सूरदास को अभीष्ट नहीं उन्होंने जहां राम कथा का उल्लेख किया है, वहां यही आशय है कि दोनों ही कृष्ण के रूप हैं; इनमें कोई भेदभाव नहीं है। उन्होंने जहां राम कथा का उल्लेख किया है, वहां यही आशय है कि दोनों ही कृष्ण के रूप हैं, इनमें कोई भेदभाव नहीं है। राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः कवि ने उन्हें शेष महेश शंभु नारद आदि की स्वामिनी कहा है। निर्गुण-सिन्धु में अवगाहन को साधारण जन के लिए कठिन मानकर सूरदास ने सगुण कृष्ण भक्ति का पथ प्रशस्त किया : कौन काज या निर्गुण सो चिर जीवहु कान्ह हमारे।' पुष्टिमार्ग में स्वीकृत रागानुगा भक्ति ही उन्हें इष्ट रही है और उसके दोनों भेदों-कामरूपा और सम्बन्ध रूपा-का उन्होंने वर्णन किया है।

सख्य भक्ति का 'सूर सागर' में दो रूपों में प्रस्फुटन हुआ है। पहले रूप के अन्तर्गत गोप-ग्वालों के साथ कृष्ण का सखा रूप में विचरण करना और कृष्ण के अतिरिक्त किसी और में ध्यान न रखना वर्णित है। गोप ग्वालों का कृष्ण के साथ ऐसा अटूट प्रेम सम्बन्ध है, जिसमें न तो ऊंच-नीच का भेदभाव है और न किसी प्रकार का दुराव-छिपाव : दूसरा रूप है – गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम भाव: उसमें विरहजन्य वेदना के कारण सूरदास ने तल्लीनता की मात्रा अधिक व्यक्त की है। विरह में विभोर गोपियों की व्यथा का सजीव वर्णन भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों में देखने को मिलता है। भ्रमरगीत के पदों में गोपियों की मार्मिक विरह भावना, सगुण निर्गुण विवेचन, ज्ञान और भक्ति के तारतम्य तथा भक्ति की

1. सूरसागर : भ्रमरगीत।

सीमाओं का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है वह सूरदास की भक्ति पद्धति के दार्शनिक एवं भावुक दोनों रूप सामने लाने में समर्थ है।

सख्य भक्ति के साथ सूरदास ने भक्ति को सुगम और सर्वजन-सुलभ बनाने के लिए वात्सल्य भाव द्वारा भी भगवान की आराधना-उपासना की है। सख्य भाव की अपेक्षा वात्सल्य भाव में भक्त को इष्टदेव का सामीप्य अधिक प्राप्त होता है। बाल लीला की रस मग्नता इतनी अधिक होती है कि कृष्ण का वैभव और उनकी असीम शक्ति का ज्ञान कुछ समय के लिए तिरोहित हो जाता है, जैसे बालक के पास उसके माता-पिता, बन्ध सखा आदि।

यशोदा और नन्द के द्वारा जिस वात्सल्य भाव का चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें श्रीकृष्ण के अति मानवीय कृत्यों के प्रति अधिक आतंकपूर्ण प्रभाव तथा अतिमहत्व न होने से भक्त को भगवान के समीप जाने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है।

वैष्णव सम्प्रदाय में माधुर्य भाव की भक्ति को अन्य प्रकार की भक्ति पद्धतियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है। कारण यह है कि व्यक्तिगत सम्बन्ध की निकटता और अनन्यता की दृष्टि से माधुर्य भाव में जो उत्कर्ष है, वह अन्य प्रकार की भक्ति में परिलक्षित नहीं होता। विभिन्न लीलाओं के प्रसंग माधुर्य भाव को प्रकट करने वाले मनोरम प्रसंग हैं, जिनमें भगवान की असीम शक्ति को प्रतिरूप में वर्णन करके गोपियां सुखी होती हैं। दानलीला आदि में असन्दिग्ध

शब्दों में सूर ने गोपियों के द्वारा माधुर्य के अवलम्बन के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य सभी रूपों की अवहेलना करके यह प्रदर्शित किया है कि अनन्य भाव की चरम परिणति गोपियों के माधुर्य भाव में ही हो सकती है। गोपियों के द्वारा कृष्ण की प्राकृत और अतिप्राकृत दोनों प्रकार की गौरव-गरिमा का उपहास करके यह दिखाया गया है कि उनका प्रेम उनकी इन्द्रियों और मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर निर्भर है, जिसका आधार कृष्ण का मनोहर रूप तथा उनकी प्रेम-प्रेषण लीलाएं हैं। माधुर्य-भाव की भक्ति के सम्बन्ध में अतिश्रृंगारिक और वासना प्रधान होने का जो भ्रम फैला हुआ है, उसका निवारण भी सूर की माधुर्य भक्ति वाले पदों से हो जाता है। यह स्मरख रखना चाहिए कि सूर की भक्ति पद्धति में जिस माधुर्य भाव को स्थान मिला है, वह मुख्य रूप से लीलाओं पर आधारित है। किन्तु इसी कारण उसे केवल ऐन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। भ्रमर गीत में गोपियों की उक्तियां केवल ऐन्द्रिक सुख को व्यक्त नहीं करतीं, वरन् वे उनके हृदय की पवित्रता, निश्चलता, अनन्यता और उदारता का परिचय देती हैं। ज्ञान मार्ग के पथिक उद्धव द्वारा सगुण प्रेम की भक्ति को स्वीकार करना इस बात का प्रमाण है कि यह भक्ति पद्धति वासना या श्रृंगार की अश्लीलता से सर्वथा रहित थी और उसमें माधुर्य भाव की प्रधानता होने पर भी तन्मयता की चरम उपलब्धि भक्तों को हुई थी।¹

‘भंवरगीत’ नन्ददास के परिपक्व दर्शन-ज्ञान, विवेक-बुद्धि, तार्किक शैली और कृष्ण-भक्ति का परिचयात्मक काव्य है। इसके पूर्वार्द्ध में गोपी-उद्धव संवाद है और उत्तरार्द्ध में कृष्ण-प्रेम में गोपियों की विरह दशा का वर्णन है। इस रचना का मूल उद्देश्य निर्गुण-निराकर ब्रह्म की उपासना का खण्डन करते हुए साकार कृष्ण की भक्ति की स्थापना करना है। पूर्वार्द्ध कवि की विचार वृत्ति का द्योतक है और उत्तरार्द्ध रागात्मिका सरस वृत्ति का परिचय देता है। दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी काव्यात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है। ‘भागवत पुराण’ में वर्णित भाव भी कवि की वाणी से नवीन एवं मोहक रूपधारण करके ही आये हैं। इससे नन्ददास का पाण्डित्य निदर्शित होता है।

‘सिद्धान्त पंचाध्यायी’ कृष्ण की रासलीला से सम्बन्ध रखने वाली रचना है। इसमें कृष्ण, वृन्दावन, वेणु, गोपी, रास आदि ग्रन्थों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। रासलीला के

आध्यात्मिक पक्ष के उद्घाटन में इस ग्रंथ से अच्छा प्रकाश पड़ता है। रासलीला के लौकिक श्रृंगार भाव को कवि ने पारलौकिक ध्येय की ओर उन्मुख रखा है।

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 205।

नन्ददास के सम्पूर्ण ग्रन्थ परिमार्जित ब्रजभाषा में है। मधुर और परिचित शब्दों का चयन कवि की विशेषता है। नन्ददास को 'जड़िया' कहा जाता है, जिसका कारण उनका सुन्दर एवं उपयुक्त शब्द चयन ही है। बनाव, लुनाई, रावरे, नीकी, आनि आदि प्रचलित शब्दों का सुष्ठु प्रयोग 'जड़िया' नन्ददास में भरा पड़ा है। लोकोक्ति मुहावरों पर भी कवि का पूर्ण अधिकार था। संगीत-प्रवीण होने के कारण शब्दों के चयन में लय, स्वर आदि का ध्यान रखने से उनके काव्य में प्रांजलता और प्रवाह की सृष्टि हुई है। सरस एवं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना में जैसी ललित¹ एवं मोहक पदावली नन्ददास के काव्य में मिलती है।

उपर्युक्त सर्वेक्षण के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास जिस कृष्ण भक्ति की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं नन्ददास भी उसी क्रम में अपनी काव्य-परम्परा का विस्तार करते हैं। नन्ददास ने अपने कृष्ण भक्ति की जो आध्यात्मिक व्याख्या की है उससे वे सूर के बाद के स्थान के अधिकारी हो जाते हैं। उनकी अन्य विशेषता भाषा सम्बन्धी परिमार्जन है। वे विट्ठल दास के प्रेरणा से प्रेरित होकर कृष्ण भक्ति परम्परा का विस्तार करते हैं जो वल्लभाचार्य के बाद आते हैं।¹

नन्ददास : अष्टछाप में सूर के पीछे इन्हीं का नाम लेना पड़ता है। इनकी रचना भी बड़ी सरस और मधुर है। इनके सम्बन्ध में यह कहावत प्रसिद्ध है कि और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रास पंचाध्यायी' है जो रोला छन्दों में लिखी गई है। इस पुस्तक में, कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादि युक्त साहित्यिक भाषा में विस्तार के साथ वर्णन है। अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पर विन्यास इनकी रचना में देखे जा सकते हैं। नन्ददास जी

ने विधिवत् शास्त्रानुशीलन किया था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके द्वारा रचित पन्द्रह ग्रंथों को देखकर उनका रचना-वैविध्य स्पष्ट हो जाता है। इन ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं —

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 209।

अनेकार्थ मंजरी, मान मंजरी, रस मंजरी, रूप मंजरी, विरह मंजरी, प्रेम बारह खड़ी, श्याम सगाई, सुदामा चरित, रूक्मिणी मंगल, भवैरगीत, रास पंचाध्यायी, सिद्धान्त-पंचाध्यायी, दशमस्कन्ध भाषा, गोवर्धन लीला नन्ददास-पदावली। 'अनेकार्थ मंजरी' एक प्रकार का पर्याय-कोश ग्रंथ है। इसके मंगलाचरण में शुद्धाद्वैत सम्बन्धी दार्शनिक विचारों को प्रकट किया गया है। 'मान मंजरी' में भी 'अमर कोश' के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची लिखे गये हैं। चमत्कार यह है कि छन्द के भी प्रथम पंक्ति में पर्यायवाची है और दूसरी में कवि ने उस शब्द का प्रयोग कर दूती द्वारा राधा के श्रृंगार का वर्णन किया है। यह ग्रंथ नन्ददास के भाषा विषयक प्रौढ़ ज्ञान और पाण्डित्य को प्रदर्शित करता है। 'विरहमंजरी' भावात्मक काव्य है। इसमें कृष्ण के वियोग में एक ब्रजवासी की विरह-दशा का वर्णन है। 'रूप मंजरी' नन्ददास का लघु आख्यान काव्य है। सुदामा चरित की कथा 'श्रीमद् भागवत' से ग्रहीत है। इस लोकप्रिय कथानक को कवि ने कृष्ण भक्ति के फलक पर अवस्थित कर सख्यभाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

'रास पंचाध्यायी' नन्ददास की श्रेष्ठ कृतियों में गिनी जाती है। इसमें लौकिक एवं पारलौकिक प्रेम को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है। वाह्य रूप में यह काव्य लौकिक गोपी प्रेम को ही लेकर चलता है, किन्तु प्रच्छन्न रूप से आध्यात्मिक कृष्ण प्रेम भी इसमें अनुस्यूत है जिसे भक्तगण सहज ही पालते हैं। वियुक्त आत्मा (गोपी)। रासलीला के माध्यम से रस रूप परमात्मा (कृष्ण) से मिलने के लिए प्रयत्नशील है। 'रास पंचाध्यायी' भाषा विषय प्रतिपादन शैली उद्भावनाओं की दृष्टि से नन्ददास की 'जड़िया' उपाधि को सार्थक बनाती है।²

प्रेम-पीर से व्यथित एक गोपी की उक्ति दृष्टव्य है :

1. सं० डा० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० 116।

जब ते प्रीति श्याम ते कीनी।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नैंकहु नींद न लीनी॥
सदा रहत चितचाक चख्यो सो और कछू न सुहाय।
मन में रहे उपाय मिलन को इहैं विचारत जाय।
परमानन्द पीर प्रेम की काहू सो न कहिए।
जैसे विथामूक बालक की अपने तन—मन रहिए।

वियोग—शृंगार के वर्णन में परमानन्द दास ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। मान की अवस्थाओं का वर्णन भी गोपियों के माध्यम से सफलतापूर्वक किया गया है। राधाकृष्ण के नखशिख—वर्णन में भी इन्होंने रुचि ली है। भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा का माधुर्य, दीप्ति, कान्ति और छटा इनके पदों में सर्वत्र व्याप्त है। चित्रात्मकता, आलंकारिता और प्रान्जलता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। गेय पदों में रचना करने के साथ—साथ दोहा—चौपाई शैली का भी यत्र तत्र प्रयोग लक्षित होता है। अष्टछाप के कवियों काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सूरदास और नन्ददास के बाद इन्हीं का स्थान है।

कृष्णदास : 'वल्लभ दिग्विजय' के वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि वल्लभाचार्य ने मथुरा के विश्राम घाट पर निवास करते हुए कृष्णदास को 1510 ई० में अपनी शरण में लिया और दीक्षा देकर पुष्टिमार्ग भक्तों तथा अष्टसखाओं में शामिल किया। मन्दिर की प्रबन्ध व्यवस्था को दृढ़ता से चलाने के कारण इनके विपक्षी या निन्दक भी पैदा हो गये थे।

कृष्णदास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ सुकवि और गायक भी थे। इन्होंने बाल लीला, राधाकृष्ण प्रेम प्रसंग, रूप सौन्दर्य आदि का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, शताधिक फुटकर पद ही उपलब्ध हैं।

कृष्णदास का एक पद एक जनश्रुति के साथ सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है।

कहते हैं कि यह पद उनके द्वारा गोवर्धन लायी गयी वेश्या द्वारा गाया गया। पद गायन समाप्त होते ही वेश्या के प्राण विसर्जित हो गये।¹

मो मन गिरधर छवि पर अटक्यौ।
ललित त्रिभंगी अंगन पर चलि, गयो तहांई ठटक्यौ
सजल स्याम धन चरनशील है, फिर चित्त अनतन भटक्यो,
'कृष्णदास' कियो प्रान निछावर, यह तन जग सिर भटक्यौ।

कृष्णदास के पदों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। उनके श्रृंगार पूर्ण पदों में भाषा की प्रान्जलता द्रष्टव्य है। सुन्दर तत्सम ललित पदावली से संयुक्त भाषा का अपना आकर्षण है। यह ध्यान देने योग्य है कि इनकी मातृभाषा गुजराती थी। अष्टछाप के कवियों में कुंभनदास का नाम भी उल्लेखनीय है। भक्तमाल में उनके चरित्र का उल्लेख नहीं है। एक बार सुन्दर कंठ स्वर से प्रभावित होकर उन्हें सीकरी आने का निमंत्रण दिया तथा ये वहां गये। वहां पहुंचकर उन्होंने अकबर को यह पद गाकर सुनाया।

भक्तन की कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पन्हैया टूटी विसर गयो हरिनाम॥
जाको देखे दुःख लागै ताकौ करन परो परनाम।
कुंभनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठो धाम॥

अकबर उनकी भगवद् भक्ति से प्रसन्न हुआ और उनसे अनुरोध किया कि वे कुछ मांग लें। सबसे पहले उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि भविष्य में उन्हें सीकरी मत बुलाना।

कुम्भनदास जी की शिक्षा के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता उनकी रचनाओं में भी पाण्डित्य की झलक नहीं है। साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का बोध उन्होंने बल्लभाचार्य की संगति में रहकर प्राप्त लिया था, क्योंकि बल्लभाचार्य के

1. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 117।

2. वही : पृष्ठ : 209

के अष्टछापी शिष्यों में प्रथम शिष्य थे और सिद्धान्तों के ज्ञान के बिना पद रचना कठिन थी। उनके द्वारा रचित किसी स्वतंत्र ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। कांकरोली विद्या-विभाग से प्रकाशित पद संग्रह में उनके 186 पद हैं। उनके पदों में श्रीनाथ की साम्प्रदायिक भक्ति की छाप स्पष्ट लक्षित होती है।

परमानन्द दास : परमानन्द अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका जन्म कन्नौज (उत्तर प्रदेश) में एक निर्धन काव्य कुंज ब्राह्मण-परिवार में हुआ था इनकी रचनाओं का प्रकाशन 'परमानन्द सागर' परमानन्द के पद' और 'वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन पद-संग्रह' के नाम से हुआ है। इनके अतिरिक्त 'दानलीला' और चरित भी इनके द्वारा लिखे बताये जाते हैं। परमानन्द जी के सर्वाधिक पद बाल लीला विषयक हैं। लीला वर्णन में रसवती भावात्मक लीलाओं पर इनका ध्यान अधिक रहा है। इनके पदों में प्रबन्धात्मकता नहीं है। शुद्ध मुक्तक की भांति उनका रसास्वादन किया जा सकता है। कृष्ण के ईश्वरीय पक्ष का वर्णन न करके इन्होंने केवल माधुर्य पक्ष की लीलाओं का गान किया है। इनकी प्रेमानुभूति लौकिक न होकर कृष्ण विषयक है। बाल मनोविज्ञान के सुन्दर चित्र इनके काव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। पूर्वराग-अवस्था की वियोग वेदना और मिलन की उत्कट कामना की व्यंजना इनके पदों की अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

गोविन्द स्वामी-का जन्म राजस्थान के भरतपुर राज्य के अन्तर्गत आंतरी गांव में 1505 ई0 में हुआ था। इनके परिवार के विषय में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु इनकी रचनाओं तथा प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है कि ये गृहस्थ थे और इनकी एक पुत्री भी थी। संसार से वैराग्य होने के बाद ये ब्रजमण्डल के महावन नामक स्थान में आकर बस गये थे और वही रहकर भजन कीर्तन में लीन रहते थे। किसी गायक के मुख से इनका बनाया पद सुनकर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी प्रभावित हुए थे। 1535 ई0 में इन्होंने गोस्वामी अष्टछाप में सम्मिलित हो गये। गोविन्द स्वामी ने किसी स्वतंत्र ग्रन्थ का प्रणयन

नहीं किया। भजन कीर्तन के लिए पद ये समय-समय पर लिखते थे, उन्हीं का संकलन 'गोविंद स्वामी के पद' के नाम से प्रसिद्ध है। मुख्यतः इन्होंने राधाकृष्ण की श्रृंगार लीला विषयक पद-रचना की है। इनके द्वारा रचित 600 पद बताये जाते हैं इनमें 252 पद पुष्टि सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित हैं। इनके काव्य की भाषा ब्रज है किन्तु उसमें लालित्य और सौष्टव वैसा नहीं जैसा सूरदास, नन्ददास की रचनाओं में मिलता है।

छीत स्वामी : छीत स्वामी (1515-1585) मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, घर में जजमानी और पंडागिरी होती थी। प्रसिद्ध है कि ये बीरबल के पुरोहित थे। यौवनावस्था में ये उदंड प्रकृति के थे। ये गोस्वामी विट्ठलनाथ के सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद ये गोवर्धन के निकट पूंछरी नामक स्थान पर एक तमाल वृक्ष की छाया में रहते थे। काव्य और संगीत में इनकी इन्हीं विशेष रुचि थी, अतः सारा समय कार्यों में व्यतीत करते थे। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं मिलता। इन्होंने स्फुट पदों की रचना की। कविता साधारण कोटि की है फिर भी भक्ति-भाव से पूर्ण है। उनकी निम्नलिखित पदों में ब्रजधाम के प्रति आस्था व्यक्त है।¹

अहों विधना ! तो पै अंचरा पसार मांगो

जन्म-जन्म दीजो मोटिं याही ब्रज वसिनौ

चतुर्भुज दास-चतुर्भुज दास नाम से चार कवि प्रसिद्ध हैं किन्तु अष्टछाप के चतुर्भुज दास के साथ पुष्कल प्रमाण हैं। ये कुम्भनदास के छोटे पुत्र थे। इनका जन्म 1530ई० तथा मृत्यु 1585 ई० में हुई थी। इन्होंने गान विद्या की शिक्षा अपने पिता कुम्भनदास से प्राप्त की थी। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। ये वाल्यकाल से काल रचना करने लगे थे। इनके स्फुट पदों को ही 'चतुर्भुज कीर्तन-संग्रह' कीर्तनावली और दानलीला शीर्षकों से प्रकाशित किया गया है। चतुर्भुज दास की रचना में श्रृंगार की छटा विद्यमान है। कृष्ण जन्म से

1. सं०, डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 211।

लेकर गोपी विरह तक ब्रजलीला गान इन्होंने किया है। श्रीनाथ जी के मन्दिर में जिस प्रकार के पद गाये जाते थे, उन्हीं के अनुकरण पर इन्होंने पद लिखे हैं।

यू तो कृष्ण भक्ति के और अनेक सम्प्रदाय हैं किन्तु हम अष्टछाप के कवियों के परिचय के पश्चात् मीरा एवं रसखान का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। भक्तिकाल (कृष्ण भक्तिकाव्य) में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं, जिन्होंने सम्प्रदाय विशेष में न बंधकर राधा कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का स्वतंत्र रूप से वर्णन किया। इनमें मीराबाई और रसखान प्रभु हैं।

मीराबाई : मीराबाई के सम्बन्ध में वाह्य एवं अन्तः साक्ष्य उतना मौन अथवा अनिश्चित नहीं, जितना अन्य मध्ययुगीन कवियों के सम्बन्ध में है। उनके स्वरचित विविध पद उनके जीवन पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों तथा उनके अन्य परिणामों के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। उनके भक्ति-पदों की सर्वजन मनोहारिणी रसवत्ता ने उन्हें अल्पकाल में ही इतना लोकप्रिय बना दिया कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वर्गों के सन्तों, भक्तों, कवियों तथा रचनाकारों ने अपनी कृतियों में उनकी चर्चा कई रूपों में की है। विभिन्न भक्तमालों एवं वार्ता ग्रन्थों में भी मीरा सम्बन्धी अनेक साक्ष्य प्राप्त हैं। राजपूताना के कतिपय प्रशस्तिपत्रों अभिलेखों, दानपत्रों और कुछ प्राचीन चित्रों में उनके जीवन से सम्बन्धित कई तथ्य उपलब्ध है। मीराबाई के नाम के सम्बन्ध में रूप में उच्चारण पश्चिमोत्तर भारतीयों के प्रकृति के अनुसार है।¹

मीरा के जन्म स्थान और वंश के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। यह मान्यता सर्व सम्मत है कि उनका जन्म 'मेड़ता' समीपवर्ती गांव 'कुड़की' में राठौर वंश की मेड़तिया शाखा में हुआ था। इस शाखा के प्रवर्तक राव दूदा थे। मीरा उन्हीं के पुत्र राव रत्न सिंह के घर पैदा हुई। कर्नल हाड ने भ्रमवश मीरा को राव दूदा की पुत्री लिखा है जिसका अनुकरण अनेक परवर्ती विद्वानों ने भी किया। अब यह भ्रान्ति निमूल सिद्ध हो चुकी है। मीरा के पिता रत्न सिंह को

1. सं०, डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 231।

कुड़की में न रह पायीं क्योंकि उनकी दो वर्षों की अवस्था में ही उनकी माता का देहान्त हो गया। राव रत्न सिंह सदैव युद्धरत रहने के कारण पुत्री के लालन-पालन में असमर्थ थे, अतः राव दूदा नहीं मीरा को अपने पास मेड़ता ले आये। राव दूदा तलवार के धनी होने के साथ-साथ

परम वैष्णव भक्त भी थे। उन्हीं की छत्रच्छाया में रहकर बालिका मीरा के हृदय में गिरधर गोपाल के प्रति अनन्य आस्था उत्पन्न हुई। मीरा का चचेरा भाई जयमल भी भक्त प्रकृति का राजकुमार था। निरन्तर युद्ध और मृत्यु से होली खेलने वाले राजपूतों के यहां उन दिनों शिक्षा-दीक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। अतः पारिवारिक वातावरण समाज में प्रचलित लोक गीत एवं यदा-कदा राजमहलों में आने वाले सिद्ध सन्यासियों या रमते योगियों के भक्तिमय उपदेश ही मीरा के पाठशाला बने। लोक गीतों की मधुरता एवं राजसी कला-प्रियता ने उन्हें अनायास संगीत प्रेमिका बना दिया तो साधु संगीत के प्रभाववश उनका हृदय भक्ति और वैराग्य की ओर आकृष्ट हुआ, जिसकी अनुगूँज उनकी रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है।

मीराबाई का विवाह चित्तौड़ के राजा राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से 1516 ई० में हुआ। दुःसंयोगवश विवाह के सात वर्ष पश्चात् ही भोजराज का स्वर्गवास हो गया। जिससे मीरा के अर्न्तमन में विद्यमान अब तक अप्रकट अन्तः संघर्ष प्रकट रूप से उसके जीवन का अंग बन गया। मीरा तत्कालीन प्रथा के अनुसार सती नहीं हुई। उन्होंने कहा –

जगसु मिथ्या री सजनी हांवा हो मिट जासी।

वरन् कर्यां हरि अविनाशी म्हारों काल-व्याल न खासी।।

मीरा अब तथाकथित लोक बन्धनों से मुक्त हो गई।

राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी विक्रम सिंह को मीरा का यह आचरण असह्य लगा। उसने मीरा को असंख्य यातनाएं दीं, पर

1. सं०, डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 285।

मीरा का प्रभु प्रेम अचल रहा। मीराबाई पुष्कर-यात्रा पर गयीं। वहां से लौटती हुई वृन्दावन चली गईं। वहीं इनकी भक्ति धारा माधुर्योपासना के रस में समाहित हुई। वहां इनकी भेंट प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त जीवन गोस्वामी से हुई, जो इनकी प्रेम निष्ठा से बड़े प्रभावित हुए। वृन्दावन में गिरधर गोपाल के गीत गाते-गाते न जाने मीरा को कब और कब कैसे यह आभास हुआ कि उनके नटवर नागर तो कभी वृन्दावन जी मन्दिर को छोड़कर द्वारका जा विराजे हैं। यह आभास

होते ही मीरा वहां से द्वारका चली गई। वहीं रणछोड़ जी के मन्दिर में भगवान की मूर्ति के सम्मुख एकाग्र भाव से भजन कीर्तन करते हुए मीरां ने शेष जीवन व्यतीत किया। मीरां ने स्फुट पद लिखे हैं जो 'मीराबाई के पदावली' के नाम से प्रकाशित हैं।

मीराबाई के काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छवास का साकार रूप है। उनकी वृत्ति एकान्ततः और समग्रतः प्रेम—माधुरी में रमी है। अपने आराध्य 'गिरधर गोपाल' की विलक्षण रूप छटा के प्रति उनकी अनन्य आसक्ति अनेकत्र शब्दधारा बनकर फुट पड़ी है। कृष्ण प्रेम में मतवाली मीरा ने मन ही मन उनके मधुर मिलन के स्वप्न संजोकर तज्जन्य आनन्द की अनेक विद्य व्यंजना की है, किन्तु उनकी कविता का प्रमुख रस विप्रलम्भ श्रृंगार है। उनकी विरह भावना का कोई ओर छोर नहीं। उनका एक—एक उनके हृदय की आकुलता का परिचय देता है—¹

विरहनी बावरी सी भई।

ऊँची चढ़ि अपने भवन में टेरल हाय दर्ई।

ले अंचरा मुख अंसुवन पोंछत उधरे गात सही।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर विछुरत कछु न कही॥

वियोग श्रृंगार के अतिरिक्त मीरा काव्य में शान्त रस की भी व्यंजना हुई। सांसारिक धन—वैभव की क्षण भंगुता का वारम्बार उल्लेख करते हुए उन्होंने निर्वेद भाव की अभिव्यक्ति है।

1. सं०, डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 236।

उनकी भक्ति भाव पद्धति और शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से सारयुक्त है, किन्तु उनमें शास्त्र दृष्टि स्पष्टतः सीमित और भाव पक्ष सबल है। वास्तव में माधुर्य और दैन्य भाव उनके काव्य में घुल मिलकर एक हो गये हैं। मीराबाई के काव्य की भाषा सामान्यतः राजस्थानी—मिश्रित ब्रज है। उनके पदों में गुजराती भाषा का विशेष पुट है। खड़ी बोली और पंजाबी का भी उनकी कविता में पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। संगीत एवं छन्द विधान की दृष्टि से मीरां का काव्य उच्च कोटि का है। उनके पद विभिन्न राग रागिनियों में बद्ध है। काव्य में अलंकारों की सायास योजना कहीं दिखाई नहीं देती। अनुभूति के सहज मार्मिक प्रवाह में, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार स्वतः उनकी वाणी का अनुसरण करते चले हैं।

वस्तुतः हम देखते हैं कि मीरा का हृदय कृष्ण भक्ति में रंगा हुआ था। वे कृष्ण के माधुर्य रूप की उपासिका थीं।

रसखान : रसखान के काव्य में प्रेम की वेगवती धारा प्रवाहित होती है उसमें इतना प्रचंड वेग है कि पाठक को अचानक बहा ले जाती है। इस महान कवि के जन्म-समय, शिक्षा-दीक्षा, कार्य-व्यवसाय निधन-काल आदि के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। फिर भी, विद्वानों ने उनकी रचनाओं के कतिपय संकट सूत्र ग्रहण कर उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं :¹

देखि गदर हित साहब, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-वंश की, ठसक छोरि रसखान॥
प्रेम निकेतन श्री बनहिं, आई गोवर्धन धाम।
लहयो सरन चित चाहिके, जुगल सरूप ललाम॥

इन पंक्तियों में 'गदर' और 'दिल्ली श्मशान बन जाने' का समय विद्वानों ने 1555 ई० अनुमानित किया है क्योंकि इसी वर्ष मुगल-सम्राट हुमायूँ ने दिल्ली के सूवंशीय पठान शासकों अपना खोया हुआ शासनाधिकार पुनः हस्तगत किया था।

1. सं०, डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 236।

इस प्रकार इस घटना का काल 1555 ई० है, जिसके आधार पर रसखान का जन्मकाल 1533 ई० मानना समीचीन प्रतीत होता है। जहां तक निवास स्थान की बात है 'प्रेमवाटिका में स्वयं कवि द्वारा दिल्ली छोड़कर गोवर्धन धाम जाने के उल्लेख से उनका जन्म स्थान एवं प्रारम्भिक निवास दिल्ली के आस-पास मानना उपयुक्त है।

यह स्वीकार किया जाता है कि रसखान ने गोस्वी विट्ठलनाथ जी से गोस्वामी बल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत दीक्षा ली थी। उनके काव्य में अन्य बल्लभानुयायी कृष्ण भक्त कवियों जैसे प्रेम माधुरी एवं भक्ति शैली से इस बात की पुष्टि होती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भी उन्हें वल्लभ सम्प्रदायानुयायी बताया गया है। 'मूल गुसाई चरित' में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा स्वरचित 'रामचरित मानस' की कथा सर्वप्रथम रसखान को सुनाने का उल्लेख है : "जमुना तट पै त्रय वत्सर लौं रसखान जाई सुनावत भौ" रसखान-काव्य के प्रायः सभी

समीक्षक इस बात पर सहमत हैं कि 'प्रेम वाटिका' (1614) उनकी अन्तिम काव्य कृति है। संभवतः इसकी रचना के कुछ ही वर्ष पश्चात् 1618ई० के लगभग उनका देहावसान हो गया होगा।'

रसखान का सम्पूर्ण कृतित्व अभी तक प्राप्त नहीं है। 'प्रेम वाटिका' और 'दान लीला' नामक विशिष्ट आकारवद्ध कृतियों के अतिरिक्त उनकी सम्पूर्ण वाणी मुक्तग सवैया में आबद्ध है, जिन्हें विभिन्न संग्रहकर्ताओं ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार संकलित किया है। वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचलित संकलन 'सुजान रसखान' है। इधर कल्याण के 'सन्तवाणी अंक' में रसखान की एक अन्य लघु कृति 'अष्टयाम' प्रकाशित हुई है। इस प्रकार रसखान की प्रमुखतः चार रचनाएं प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। सुजान रसखान, प्रेम वाटिका, दानलीला, अष्टयाम। 'सुजान रसखान' स्फुट छन्दों का संग्रह है, जिसमें 181 सवैया, 17 कवित्त, 12 दोहे तथा 4 सोरठे हैं।

1. सं० डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 237।

उन छन्दों का प्रतिपाद्य भक्ति, प्रेम, राधाकृष्ण की रूप माधुरी, वंशी-मोहिनी एवं कृष्ण लीला सम्बन्धी सरस प्रसंग है। 'प्रेम वाटिका' के अन्तर्गत कवि ने राधा कृष्ण को प्रेमोधान के मलिन-माली मानकर प्रेम के गूढ़ तत्त्व का सूक्ष्म निरूपण किया है। यह 53 दोहे की लघु कृति है। 'दान लीला' केवल 11 छन्दों का छोटा सा पद्य-प्रबन्ध है, जिसमें कवि ने प्रसिद्ध पौराणिक प्रसंग का राधाकृष्ण संवाद के रूप में चित्रित किया है। 'अष्टयाम' में संकलित कई दोहों के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के प्रातः जागरण से रात्रि शयन पर्यन्त उनकी दिनचर्या एवं विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन है।

रसखान भक्त कवि है। वस्तुतः वे 'भक्त' और 'कवि' से भी पहले एक सहृदय भावुक व्यक्ति है। उनका अन्तर प्रेम-ताप की उष्णता से विगलित होकर मानो विविध भाव सरणियों के रूप में उमड़ पड़ा है। उनकी इस एकान्तिक प्रेममयी उमंग ने उनके काव्य को सचमुच 'रस की खान' बना दिया है। बादशाह वंश के जन्मजात मुसलमान रसखान ने स्वयं को राज्य लिप्सा जन्य द्वन्द्व से मुक्त कर जिस श्रद्धा, प्रेम और भक्तिमय रस सागर में निमज्जित किया, उसी में उनके वाणी का विलास यशधन के निमित्त था। उन्होंने तो अनन्त अलौकिक रस के आगार

श्रीकृष्ण के लीला-गान के रसास्वादन में ही स्वयं को कृत-कृत्य समझा : “त्यों रसखानि वही रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि, सो है रसखानि।” प्रेम तत्व के निरूपण में रसखान को अद्भुत सफलता मिली है। उनका प्रेम वर्णन बड़ा सूक्ष्म, व्यापक एवं विशद है। उनके काव्य का प्रमुख रस श्रृंगार है, जिसके आलम्बन है — श्रीकृष्ण उनके रूप पर मुग्ध राधा एवं गोपिकाओं की मनः स्थिति के चित्रण के माध्यम से रसखान ने श्रृंगार की मधुर अभिव्यंजना की है। श्रृंगार के उपरांत रसखान-काव्य में चित्रित दूसरा प्रमुख रस वात्सल्य है। श्रीकृष्ण के बाल-रूप की माधुरी का वर्णन उन्होंने यद्यपि गिने-चुने छन्दों में ही किया है, पर उनकी काव्यात्मक गरिमा सूर और तुलसी के बाल वर्णन की समता करने भली-भांति सक्षम हैं। उसका एक निदर्शन नीचे प्रस्तुत है

1. सं०, डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 238।

धूरि परे अति सोभित स्याम जू कैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
 खेलत खात फिरैं अंगना पग पैजनि बाजति पीरी कछोटी।
 वा छवि को रसखानि विलोकत बारत काम कला निधि कोटी।
 काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सो ले गयो माखन रोटी¹।

रसखान की काव्य-भाषा शुद्ध, परिमार्जित एवं साहित्यिक ब्रज है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण के सहज समावेश ने उनकी काव्य भाषा को अत्यन्त सरस और सजीव बना दिया है। विभिन्न लाक्षणिक प्रयोगों के कारण इसमें जो चुटीलापन आ गया है, उससे उसकी अर्थवत्ता और बढ़ गयी है। शुद्ध चमत्कार से मुक्त रहकर रसखान ने सिद्ध कर दिया है कि सरल और स्वाभाविक भाषा में रचित काव्य सहृदयों के हृदय को अधिक आनन्द प्रदान कर सकता है। अलंकार-मोह का उनके काव्य में सर्वथा अभाव है। वे प्रेम एवं श्रृंगार के कवि हैं, अतः उन्होंने अपने विषय के अनुरूप सवैया, कवित्त एवं दोहा-छन्द वृत्ति का सूचक है। वे किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्त में आबद्ध नहीं हैं। उनका प्रेम निरूपण सूफियों की प्रेम पद्धति का अनुकरण न होकर स्वच्छन्द है। उनका श्रृंगार-चित्रण किसी रीति, विशेष में सीमित नहीं है। उनकी भक्ति हृदय की मुक्त साधना है और उनका श्रृंगार-वर्णन भावुक हृदय की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। उनके काव्य में उनके

स्वच्छन्द मन के सहज उद्गार हैं। इसीलिए उन्हें स्वच्छन्द काव्यधारा का प्रवर्तक कहा जाता है।

वस्तुतः रसखान के काव्य में प्रेम का स्वरूप सदैव सहृदयों एवं समीक्षकों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में रसखान के प्रेम तत्व का अनुसंधान है। यहां परम्परा के क्रम में रसखान का परिचय मात्र दिया गया है। आगामी अध्याय में रसखान की रचनाओं का सांगोपांग विवेचन किया जायेगा।

(ख) संस्कृति समन्वय की विराट् चेष्टा :- मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का पूर्व- मध्ययुग भक्तिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। 'भक्तिकाल' शब्द ही

1. सं० विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र : रसखान रचनावली, पृष्ठ 24।

अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने वाला है अर्थात् इस काल में भक्तिपरक रचनाओं की प्रधानता रही है। कुछ विद्वानों ने इस काल को हिन्दी-साहित्य का 'स्वर्ण-युग' कहा है। उनकी दृष्टि में हिन्दी-काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल में उपलब्ध होता है। वस्तुतः निर्गुण और सगुण धाराओं में प्रवाहित होने वाला यह काव्य गुणवत्ता और परिणाम दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। काव्य-विधाओं के आधार पर भी इस काल को हम अन्य कालों के काव्य से अधिक समृद्ध पाते हैं, जिस समय इस काल के लिए 'स्वर्ण-युग' शब्द का प्रयोग किया गया था तब उन विद्वानों के समक्ष वर्तमान युग का प्रचुर साहित्य नहीं था अर्थात् यह शब्द आज से लगभग अर्द्धशताब्दी पूर्व प्रयोग में आया था और तत्कालीन सीमाओं में भक्तिकाल से श्रेष्ठ काव्य की कल्पना करना सम्भव नहीं था।

निर्गुण सन्त-काव्य :- भक्तिकाल का प्रारम्भ निर्गुण सन्त-काव्य से होता है। इस धारा के कवियों में उन सन्त कवियों का स्थान है, जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण-निराकार ईश्वर की भक्ति का सन्देश दिया। भक्ति के क्षेत्र में ये सन्त कवि भारतीय निर्गुण-भावना के समीप होते हुए अद्वैत-दर्शन के प्रतिपादक थे, किन्तु दर्शन की मात्र पीठिका ही उन्हें स्वीकार्य थी; दार्शनिक मतवाद या भेदाभेद के प्रपंच से उनका साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं था। सामाजिक स्तर पर इन सन्तों ने पाखण्ड एवं अन्धविश्वासों का पूरी दृढ़ता के साथ खण्डन

किया। मिथ्याआडम्बरों के प्रति जैसी अनास्था इन सन्त कवियों ने व्यक्त की, वैसी न तो पहले कभी कोई समाज—सुधारक कर सका था और न ही परवर्तीयुग में ही किसी का वैसा साहस हो सका। इन सन्त कवियों का एक बड़ा भाग निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखता था, किन्तु आचरण की पवित्रता और आचरित सत्य की प्रतिष्ठा के कारण इनकी वाणी का प्रभाव समाज के उच्च वर्ग पर भी पड़ा था। निर्गुण सन्तों के द्वारा तत्कालीन समाज में एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का उदय हुआ और परम्परागत रूढ़िवादिता पर इन्होंने गहरा

1. सं० डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 268।

प्रहार किया। विद्वान दार्शनिक पण्डितों का प्रभाव एक सीमित शिक्षित वर्ग तक था, किन्तु इन कवियों की वाणी का प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ा और समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति इनसे प्रभावित हुए।

सन्त कवियों के पास धर्म, दर्शन, भक्ति और चरित्र—निर्माण के लिए अपना निजी सन्देश था। धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता के ये घोर विरोधी थे, दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत—दृष्टि से एकेश्वरवाद के समर्थक थे; भक्ति के क्षेत्र में ये कर्मकाण्ड रहित निष्ठा और समर्थन में विश्वास रखते थे और चरित्र—विकास के लिए आचरित सत्य को जीवन—निर्माण की कसौटी मानते थे।

इसके साथ ही सन्तों में समन्वय—दृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, नानक, दादू, हरिदास निरंजनी आदि सन्तों ने जिस रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं उनका आधार कोई एक विचारधारा या मतवाद नहीं है। अद्वैतवाद, वैष्णवों की भक्ति—भावना, सिद्धों—नाथों की सहज—सरल साधना आदि का जिस पद्धति से इन्होंने समन्वय किया था, वह सर्वजन—सुलभ थी, फलतः सामाजिक स्तर पर इनका समन्वय ग्राह्य बन गया था। सन्तों ने शास्त्र—वचन को प्रमाण नहीं माना। शास्त्र की अवहेलना एक कठोर चुनौती थी, लेकिन अनुभूति को प्रमाण मानने से शास्त्र मर्यादा भी शिथिल हो गयी। मानव को परम्परागत रूढ़ शास्त्र—परम्परा से मुक्ति केवल इन निर्गुण सन्त कवियों की आमानुभवमयी दृढ़ वाणी से ही मिली थी। वस्तुतः ये कवि अपने युग के मिथ्याआडम्बरों और धार्मिक रूढ़ियों के खोखलेपन से परिचित होकर ही सत्य के उद्घाटन

का साहस कर सके थे। जिसे एक बार सत्य का बोध हो जाता है, वह किसी मिथ्या आ अननुभूत तथ्य को प्रमाण नहीं मानता।

इस युग के सन्त कवि ईश्वर की सत्ता और सर्वशक्तिमत्ता में अटूट विश्वास रखने के कारण अत्यन्त निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी और सत्यवादी थे। किसी भी धर्म की मिथ्या धारणाओं का खण्डन करते समय इनके मन में भय का संचार नहीं होता था। कबीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मैं चौराहे पर सिर पर कफन बांधकर खड़ा हूँ, सत्य को प्रकट करते समय मुझे किसी का भय नहीं है, जिसमें सत्य को प्रकट करने का साहस हो वह मेरे साथ आये। ऐसे क्रान्तिकारी विचारों का उद्बोध करना उस युग में सम्भव हो सका, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।¹

यह ठीक है कि इन कवियों ने काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, जीवन के विद्यालय में सत्य और अनुभूत सत्य का पाठ ही पहले पढ़ते रहे, किन्तु कविता के माध्यम से इन्होंने जो कुछ लिखा वह काव्यहीन भी नहीं है, जिस साधारण और सहज भाषा को इन्होंने अपनाया था, वह जन-भाषा थी और साधारण जनता के अधिक निकट होने के कारण लोकप्रिय थी। इस भाषा की लोकप्रियता का यही प्रमाण है कि इनकी रचनाएं जनता के दैनिक व्यवहार और बोलचाल में सूक्तियों के रूप में स्थान पा गयी है। आज भी इन सन्तों की उक्तियों का प्रयोग हम व्यावहारिक भाषा में करते हैं।

एक बात और ध्यातव्य है। इन सन्तों ने अपने युग में जिन धारणाओं और मान्यताओं का खण्डन किया, उन्हीं को इनके नाम पर परवर्ती युग में पन्थ या मत के रूप में स्थान मिला। कबीर-पन्थ, नानक-पन्थ, मलूकदासी, शिवनारायणी आदि पन्थों का उदय इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि सन्तों की साधना उनके बाद पुनः पूजा का विषय बन गयी। गुरुपूजा तो इन पन्थों में अनिवार्य ही हो गयी। नानक के नाम से सिख-मत का उदय हुआ, तो कबीर के नाम से कबीर-पन्थ चल पड़ा। वस्तुतः जनता की मनोवृत्ति अन्धानुकरण की होती है। वीर-पूजा की भावना भी उसे पन्थ बनाने में प्रेरक होती है। इसी माताग्रह के कारण परवर्ती शिष्य-परम्परा मूल उद्देश्य से दूर जा पड़ती है। यदि प्रेरक होती है। इसी मताग्रह के कारण परवर्ती

शिष्य-परम्परा मूल उद्देश्य से दूर जा पड़ती है। यदि निर्गुण सन्त-काव्य परम्परा के भक्त कवियों की वाणी के मूल उद्देश्य पर विचार जाये, तो वह मानव-समाज के सामूहिक कल्याण की वाणी है। दूसरे शब्दों में उसे धर्म-निरपेक्ष सत्योन्मुखी वाणी कह सकते हैं। सन्तों ने तथाकथित जाति या वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार न कर मानवमात्र को

1. सं० डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 269।

एक धरातल पर खड़ा किया था। उनकी दृष्टि में मानववाद ही एक ऐसा स्तर था, जिस पर समाज की व्यवस्था संभव था। जिस लक्ष्य को ये सन्त कवि प्राप्त करना चाहते थे, वह सार्वजनिक हित से समन्वित सर्वजनसुलभ ध्येय था। अतः अपने युग में इन्होंने एक व्यापक वैचारिक क्रान्ति को जन्म देकर भारतीय जनता के समक्ष एकेश्वरवाद, सदाचार, सत्य, समता और शाश्वत धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया था। अवतारवाद, पूजा-सेवा, रोजा, नमाज, मन्दिर-मस्जिद, तीर्थ-व्रत आदि को इन्होंने स्वीकार नहीं किया।

प्रेमाख्यानक काव्य :- निर्गुण सन्त कवियों के साथ ही उस युग में एक दूसरी काव्यधारा भी प्रवाहित हो रही थी, जिसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में 'प्रेमाख्यानक काव्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस धारा के कवियों का विस्तारपूर्वक पहले वर्णन किया गया है। भक्तिकाल को 'स्वर्ण-युग' बनाने में इस धारा के कवियों का योगदान भी किसी से कम नहीं है। प्रेमाख्यानक काव्य की दो धाराएं प्राप्त होती हैं—एक धारा के कवि आध्यात्मिक प्रेम अर्थात् ईश्वरीय प्रेम का वर्णन करने में अपने कवि-कर्म की सार्थकता समझते हैं, दूसरी धारा के कवि लौकिक प्रेम के आख्यानों को कविता के माध्यम से अंकित करते हुए उसे किसी अन्य लोक की अथवा अध्यात्म की कथा नहीं बनाते। इस दूसरी धारा के कवियों को हिन्दी-साहित्य में वह श्रेष्ठ स्थान प्राप्त नहीं हो सका जो पहली धारा के कवियों को प्राप्त है।

आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न प्रेमाख्यानकारों में सूफी-सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले सन्तों का बाहुल्य है। इन सन्तों ने भारतीय हिन्दू जनता में प्रचलित कथाओं के आधार पर प्रबन्धकाव्यों की रचना की और हिन्दू धर्म में स्वीकृत देवी-देवताओं का भी अपने काव्यों में

उल्लेख किया। भारतीय जन-मानस में व्याप्त प्रेम-कथाओं को स्वीकार करने का सम्भवतः यही प्रमुख कारण था कि हिन्दू जनता भी सूफी प्रेमाख्यान-काव्यों से कथा के स्तर पर तादात्म्य कर सके। कुछ विद्वानों ने एक अन्य प्रच्छन्न कारण की कल्पना की है। उनके

1. सं० डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 270।

मतानुसार सूफी सन्त कवि इस्लाम धर्म के प्रचार के लिए काव्य-प्रणयन में लीन हुए थे। किन्तु इन प्रबन्धकाव्यों के अनुशीलन से ऐसा उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। एकेश्वरवाद की भूमि पर इस्लाम की भावना की प्रतिष्ठा अवश्य होती है। मुल्ला दाउद, जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान, शेख नबी आदि सूफी कवियों के काव्य तथा हिन्दू कवियों में नन्ददास, नारायणदास, पुहकर आदि की रचनाएं आध्यात्मिक प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा में प्रमुख हैं। दक्खिनी हिन्दी में भी प्रेमाख्यात्मक परम्परा में लिखे आख्यान-काव्य उपलब्ध होते हैं। निजामी, मुल्ला वज़ही, गवासी, तवई आदि दक्खिनी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं।

सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा के कवि निर्गुणोपासक थे, किन्तु ईश्वर विषयक वर्णनों में प्रतीकात्मक शैली को स्वीकार करने के कारण सगुण का आभास भी उनके काव्य में प्राप्त होता है। सूफी-सम्प्रदाय में आत्मा सदैव परमात्मा की प्राप्ति के लिए व्याकुल रहती है। इस व्याकुलता में ईश्वर का प्रेम ही उसका एकमात्र सम्बल है। यह प्रिय-वर्णन काव्य में नायक-नायिका के प्रेम-वर्णन के सदृश ही है।

सूफी कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का प्रयास किया है। यह प्रयास प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में देखा जा सकता है। इतना अवश्य है कि इस्लामी दर्शन और मुस्लिम संस्कृति की श्रेष्ठता पर इन कवियों का ध्यान सतत रहा है। कबीर को यह श्रेय प्रदान किया गया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का कोई प्रयास नहीं किया था। यदि यह प्रयास कहीं काव्य के माध्यम से लक्षित होता है, तो इन्हीं प्रेमाख्यानों में ही काव्य के माध्यम से भावात्मक एकता का यह प्रयास हिन्दी-भक्ति-साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूफी कवि जायसी के 'पद्मावत' की समीक्षा करते हुए उसके प्रेम और मानवतावादी प्रभाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन—दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सामान्य प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियां हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखलाया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था, प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास उन्होंने नहीं दिया। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी रही, वह जायसी द्वारा पूरी हुई।”

संक्षेप में सूफी सन्त—काव्य—परम्परा का समस्त काव्य सांस्कृतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक स्तर पर अपने पूर्ववर्ती काव्य में सर्वथा भिन्न, किंतु जन—मानस के अति निकट है और समाज को आडम्बर से मुक्त करने वाला है। उसका सन्देश ईश्वर—प्रेम के साथ मानवतावाद से भी परिपूर्ण है। भाव और भाषा के धरातल पर यह काव्य सर्वजनसुलभ और संवेद्य है, इसलिए इस काल को 'स्वर्ण—काल' कहा गया है।

सगुण भक्तिकाव्य :- भक्तिकाल का श्रेष्ठतम काव्य सगुण भक्तिकाव्य ही है। सगुण भक्ति का विवेचन करते हुए हमने राम और कृष्ण की भक्ति—परम्परा का विस्तार से वर्णन किया है। उन भक्त कवियों का विवरण भी हमने दिया है, जो किसी सम्प्रदाय—विशेष से सम्बद्ध न होकर स्वतंत्र, उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करने वाला है, जहां वह भगवान् को अपने अति निकट सगुण रूप में देख सकता है। रूप, गुण, शील और सौन्दर्य की मूर्ति भगवान् को अपने समीप देख पाने की लालसा भक्त की सहज इच्छा है। इस इच्छा की पूर्ति पहली बार इसी काव्य के माध्यम से हुई।

सगुण भक्तिकाव्य में मध्ययुगीन हिन्दू जनता में जिस रूप में ईश्वर—विश्वास पैदा किया, वह अद्भूत और अभूतपूर्व था। हिन्दू जाति नैराश्यपूर्ण मनोदशा में जीवित थी, उसके लिए काव्य—रूपी संजीवनी का प्रयोग इन भक्त कवियों द्वारा किया गया और वह चमत्कारी सिद्ध हुआ। अवसाद,

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृष्ठ 67 (संस्करण 2002, लोक भारती प्रकाशन)

कृष्ण, निराशा और दैन्य भावना से मुक्त होकर हिन्दू जाति ईश्वर के सगुण अवतारी रूप में आश्रय पा सकी, यह भक्तिकाव्य की सबसे बड़ी देन कही जाएगी।

इस काल के भक्त कवियों ने लोक-मानस को आश्वस्त करने में माता-पिता, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, भाई-बहिन, राजा-प्रजा आदि पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों का वर्णन किया और उनको आदर्श की भित्ति पर प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' इस दिशा में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। लोक-मर्यादा की स्थापना के लिए इससे उत्तम ग्रन्थ न तो हिन्दी में पहले लिखा गया था और न इसके बाद लिखा गया। तुलसी के अन्य ग्रन्थ भी भक्ति प्रेम और समन्वय की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। उन्होंने अपने प्रकार के समन्वय पर बल देकर समाज को विश्रुंखल होने से बचाया था। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के आभ्यन्तर वैमनस्य को दूर करने का जैसा स्वस्थ एवं संयत प्रयास तुलसी ने काव्य के माध्यम से किया, वैसा हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कभी नहीं हुआ। काव्य-रूपों की दृष्टि से भी उन्होंने अपनी प्रतिभा और मेधा का परिचय दिया। उस समय हिन्दी-कविता में जो काव्य-विधाएं प्रचलित थीं, प्रायः सभी का तुलसी ने अपनी रचनाओं में प्रयोग किया। महाकाव्य, मुक्तक, पद-शैली, दोहा-शैली, कवित्त-सवैया -शैली आदि काव्य-रूपों में जैसी सफलता तुलसी को प्राप्त हुई, वैसी किसी अन्य कवि को प्राप्त नहीं हो सकी।

इसी युग में कृष्णभक्त कवियों की विशाल परम्परा हिन्दी-साहित्य में उदित हुई। अष्टछाप के कवियों में सूरदास, नन्ददास और परमानन्द ने अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा जो काव्य-सर्जना की, वह अप्रतिम है। अष्टछाप के कवियों ने मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति को परिष्कृत करने के लिए जो भाव-सम्पदा अपने काव्य में प्रस्तुत की, वह अनेक दृष्टियों से समृद्ध और सुन्दर है। कुछ आलोचकों ने सूरदास आदि कवियों को सिद्धावस्था का कवि कहकर वह स्थान नहीं दिया है जो प्रयत्न-दशा का वर्णन करने वाले कवि तुलसी को दिया है। सूरदास की भक्ति का आधार पुष्टि अर्थात् भगवत्कृपा है। इसी कृपा के सहारे मनुष्य अपने दुःख-दैन्य से मुक्ति प्राप्त कर

सकता है। अनुग्रह और प्रपत्ति का यह मार्ग मानव का सबसे बड़ा सम्बल है। इस सम्बल को खोज निकालने का श्रेय इन्हीं कृष्णभक्त कवियों को है।¹

वैष्णव कृष्णभक्त कवियों की एक बड़ी देन है—साम्प्रदायिक स्तर पर कृष्णभक्ति का विविध रूपों में पल्लवन। इस काल में वल्लभ—सम्प्रदाय आदि अनेक सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ और इन सम्प्रदायों के शताधिक कवियों ने राधा—कृष्ण की विविध लीलाओं का बड़ी मनोहारी शैली में वर्णन प्रस्तुत किया। इन वर्णनों में भाषा और भाव का सौन्दर्य अपने चरम् उत्कर्ष पर पहुंचा और भक्तजन को उसे पढ़कर हार्दिक परितोष हुआ।

काव्य—शिल्प की दृष्टि से भक्तिकाल का काव्य बहुत ही समृद्ध है। यह ठीक है कि भक्त होने के कारण इन कवियों की मूल प्रेरणा का स्रोत काव्यशास्त्र न होकर भक्ति—भाव ही था, किन्तु कुछ सन्त कवियों को छोड़कर राम—कृष्ण—परम्परा के सभी कवि उच्च कोटि के कवि थे। काव्यशास्त्र का उन्हें सम्यक् ज्ञान था और उसका प्रयोग भी उनकी रचनाओं में हुआ है। इन कवियों ने छन्द और अलंकार का ध्यान रीति कवियों के समान नहीं रखा, किंतु इस काव्य को छन्द—अलंकार—विहीन भी नहीं कहा जा सकता। तुलसी और सूर के काव्य में तो अप्रस्तुत—विधान का सौन्दर्य अपने पूर्ण निखार पर है। शायद ही कोई ऐसा अलंकार हो, जिसका सुष्ठू प्रयोग इन कवियों ने न किया हो। काव्य और संगीत का समन्वित सम्मिश्रण यदि कहीं अपने आकर्षक रूप में हुआ है, तो भक्तिकाल काव्य में ही। लय, स्वर, ताल, यति, गति आदि की साधना के बाद पल—शैली में जो काव्य इन कवियों ने रचना वह परवर्ती के लिए अनुकरणीय बन गया। वस्तुतः कृष्णभक्ति—काव्य भगवान् को रिझाने के लिए गेय शैली में ही लिखा गया था। संकीर्तन के लिए इन पदों का प्रतिदिन मन्दिरों में प्रयोग होता था, अतः संगीत का सन्निवेश इस काव्य में स्वाभाविक था।

1. सं० डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 270।

काव्यशास्त्र की कसौटी पर यदि इस काल के काव्य की समीक्षा की जाये तो हम देखेंगे कि सौन्दर्य—विधायक सभी तत्व इस युग के काव्य में भरपूर मात्रा में उपलब्ध हैं। रस, रीति,

ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि का प्रयोग इन कवियों ने जिस सहजता के साथ किया है, वैसी सहजता के साथ रीतिकालीन कवि भी नहीं कर सके। रीतिकालीन कवियों का काव्य प्रयत्न—सापेक्ष होने से सहज नहीं रह गया है।

भक्ति—भावना को सम्प्रदाय या मत—पन्थों में असम्पृक्त रखते हुए काव्य—रचना करने वाले श्रेष्ठ कवि भी इस काल में उत्पन्न हुए। मीरा, रहीम, रसखान, सेनापति आदि कवियों का काव्य साम्प्रदायिक नहीं है; किन्तु भक्ति, ईश्वर—प्रेम और प्रकृति—प्रेम जिस उदात्त भूमि पर इनकी रचनाओं में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। मीरा का कृष्ण—प्रेम अथवा कृष्ण—भक्ति समर्पित व्यक्तित्व की सुन्दरतम झांकी है। रसखान का कृष्ण और ब्रज के प्रति प्रेम हिन्दी—साहित्य में अप्रतिम है। रहीम की नीतिविषयक रचनाएं व्यवहार के स्तर पर आदर्श हैं। सेनापति का प्रकृति—वर्णन शुद्ध आलम्बन का प्रकृति—वर्णन है, जिसमें प्राकृतिक उपादान सजीव हो उठे हैं। इस प्रकार के सुन्दर और संश्लिष्ट प्रकृति—वर्णन रीतिकाल में भी उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार गुण और परिणाम दोनों की दृष्टि से कथ्य तथा कथन को पूर्ण उत्कर्ष प्रदान कर आनन्द और कल्याण—निःश्रेयस और अभ्युदय के समन्वय द्वारा इस युग के कवियों ने जो कीर्तिमान स्थापित किये, वे परवर्ती युगों में प्रायः दुर्लभ ही रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के हर क्षेत्र में संस्कृति समन्वय की विराट चेष्टा है।

(ग) मध्यकालीन संस्कृति के मूल तत्व :-

हिन्दू—मुसलमानों की एक गंगा—जमुनी संस्कृति (**Composit Culture**) की में पहला कदम बारहवीं शती ई० में उठाया गया जब उत्तर भारत में तुर्कों का आगमन हुआ। इसके पूर्व अरब व्यापारी मालाबार तटीय क्षेत्र में संपर्क स्थापित कर चुके थे, किन्तु इसका सांस्कृतिक प्रभाव उसी क्षेत्र तक सीमित रहा। आठवीं शती ई० के आरंभ में अरबों ने सिंध पर विजय प्राप्त की थी किन्तु वे कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सके। सांस्कृतिक संश्लेषण की प्रक्रिया बारहवीं शती के उत्तरार्ध में आरंभ होकर साढ़े छः सौ वर्षों तक लगातार चलती रही जो अनेक मानव गतिविधियों

को अपने में समेटती रही, जैसे भाषाएं, साहित्य, संगीत, चित्रकारी, वास्तुकला, धर्म और सामाजिक आदान-प्रदान। साथ ही साथ मुस्लिम प्रभुत्व वाला एक मिला जुला शासक वर्ग (**Composit Governing Class**) भी विकसित हुआ, किंतु राजनीतिक गतिविधियों से प्रभावित होने के कारण यह विकास उतना नियमित नहीं रहा।¹

सोलहवीं शती ई० में अकबर ने जिस मुगल साम्राज्य की स्थापना की वह गैर संकीर्णतावादी विचारधारा (**Non-sectarial Ideology**) पर आधारित था। इससे भारत में मिली-जुली संस्कृति के विकास को बड़ा बल मिला। सत्रहवीं शती के अंत तक मुगल साम्राज्य के अंतर्गत समस्त भारतीय सांस्कृतिक संरक्षण दिये जाने से भी यह प्रक्रिया सुचारु रूप से चलती रही। उपर्युक्त दोनों बातों के फलस्वरूप एक मिले-जुलेशासक वर्ग का उदय हुआ जिसने पुनः सांस्कृतिक संश्लेषण का सुदृढ़ किया। अठारहवीं शती में मुगल सत्ता के पतनोन्मुख हो जाने पर भी इस मिली-जुली संस्कृति का विकास नहीं रुका। इसके विपरीत लखनऊ, मुर्शिदाबाद, हैदराबाद, पूना और बाद में मैसूर जैसे नवोदित राज्यों के अभिजन वर्गों के संरक्षण में यह और फूली-फली।

1. डॉ० हरिचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत-भाग-2, पृष्ठ 532।

भाषा और साहित्य

दसवीं शती ई० के लगभग इस्लामी इतिहास में तुर्कों के महत्वपूर्ण होने के साथ ही फारसी सांस्कृतिक परम्पराओं का पुनः प्रचलन होने लगा। अतः अब तुर्कों ने उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त की तो भारतीय उप महाद्वीप में भी फारसी भाषा का प्रवेश हुआ। फिर सदियों तक मुसलमानी शासन के कारण फारसी देश की राजभाषा के रूप में स्थापित हो गई। इस प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण कदम था सुल्तान सिकन्दर लोदी (1418–1517) द्वारा प्रशासन का पूर्ण रूप से फारसीकरण। इससे प्रशासकीय सेवा में सम्मिलित होने के इच्छुक हिन्दुओं के बीच फारसी का प्रचलन सुनिश्चित हो गया। जब मुगलों ने समस्त भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया तो यह प्रक्रिया और जो पकड़ गई। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम तो यह हुआ कि हिंदू भी फारसी भाषा में साहित्य की रचना करने लगे। इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं ईश्वरदास नागर की रचना फुतुहात-ए-आलमीगिरी और भीमसेन बुरहानपुरा की नुस्ख ए दिलकुश। ये दोनों रचनाएं औरंगजेब के शासनकाल का इतिहास हैं।

भारत में फारसी भाषा के प्रसार के साथ ही एक महत्वपूर्ण बात यह भी हुई कि यहां की उदीयमान क्षेत्रीय भाषाओं जैसे पंजाबी, कश्मीरी, सिंधी, बंगला, मराठी और हिंदी की अनेक बोलियों और फारसी के बीच आदान-प्रदान होने लगा। इस प्रक्रिया में इन भारतीय भाषाओं ने अपना मूल व्याकरण का ढांचा तो सुरक्षित रखा किंतु फारसी के अनेक शब्द और मुहावरे आत्मसात कर लिए। इस मूल समानता को ध्यान में रखते हुए आवश्यक है कि विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं और उर्दू में भेद किया जाए। उर्दू के विकास के अंतिम चरणों में इसके कतिपय विशिष्ट लक्षण दिखाई देते हैं। विशेषरूप से मराठी भाषा ने भाषा के अनेक शब्दों को जिनमें अरबी मूल के शब्द भी सम्मिलित हैं, ग्रहण किया जिनमें अधिकांश सैन्य अथवा प्रशासनिक शब्दावली के हैं, जैसे वतन, तरफ दबीर, और पेशवा। ब्रजभाषा एवं अवधी जैसे हिंदी की बोलियां ने भी फारसी शब्दावली का खुल कर प्रयोग किया, जैसा कि मलिक मुहम्मद जायसी (मृत्यु 1547 ई०) के पद्मावत, तुलसीदास (1532–1623ई०) के रामचरितमानस और कबीर (1440–1518ई०) की रचनाओं से प्रकट है। यही बात पंजाबी और कुछ सीमा तक बंगला पर भी लागू होती है। पंजाबी

पर फारसी भाषा का असर गुरु नानक और उनके उत्तराधिकारियों के भजनों एवं कथनों में देखा जा सकता है।

अपने विकास की आरंभिक अवस्था में उर्दू भी अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की भांति ही थी। तेरहवीं शती के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के समय से दिल्ली में बोली जाने वाली हिंदी बोली अरबी और फारसी शब्दों को अपनाने लगी थी। इस मिश्र बोली की क्षमता का इस्तेमाल करने वाले पहले महत्वपूर्ण लेखक थे—अमीर खुसरो (मृत्यु 1325ई०)। वे इसे जबान-ए-दिल्ली कहते थे। कालांतर में इसे रेख्ता (अरबी एवं फारसी शब्दों की भरमार के कारण) या हिन्दवी और अन्ततः अठारहवीं शती के अंत तक इसे उर्दू—जिसका शाब्दिक अर्थ है खेमे की भाषा कहा जाने लगा।

जब चौदहवीं शती के उत्तरार्ध में तुर्कों की शक्ति का विस्तार दक्षिण भारत तक हो गया तो उर्दू भी अपने आरंभिक रूप में वहां पहुंची और वहां की स्थानीय भाषाओं के साथ आदान-प्रदान के फलस्वरूप इसने एक नई सी भाषा का रूप धारण कर लिया जो “दकनी” कहलाई। सूफी संत गंसूदराज मृत्यु (1420ई०) और गोलकुण्डा के दो शासक मुहम्मद अली कुतबशाह (1580–1612) और अब्दुला कुतब शाह (1626–72) दकनी भाषा ने हिंदवी और दकनी के बीच संपर्क को और दृढ़ किया। अठारहवीं शती के आरंभ से ही फारसी के प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह के परिणाम स्वरूप दिल्ली में उर्दू को एक सम्पूर्ण साहित्यिक भाषा बनाने के विधिवत प्रयास होने लगे थे। इस आंदोलन की प्रमुख हस्तियां थीं सिराजुद्दीन अली खान आरजू (1689–1750), शाह हातिम (1699–1793), ख्वाजा मीर दर्द (1719–85), मिर्जा, मजहर जान-ए-जानान (मृत्यु 1781), मुहम्मद रफी सौदा (1713–81) और मीर तकी मीर (1722–1810)। आश्चर्य की बात तो यह है कि फारसी प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह करते हुए भी ये साहित्यकार फारसी में ही शब्दावली, बिंब विद्यान (**Imagery**) और साहित्यिक विधाओं को लेकर ही विकसित हुई उर्दू को समृद्ध कर रहे थे। साथ ही साथ वे अपनी शब्दावली में से प्रचलन के योग्य ऐसे शब्दों को चुन-चुन कर निकाल रहे थे जिन्हें वे आम जनता की बोली समझते थे। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि अब उर्दू अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की भांति कभी लोकप्रिय भाषा नहीं हो सकती थी। इन सब के बावजूद

उर्दू गंगा-जमुनी संस्कृति का अच्छा प्रतीक बनीं और इसके समर्थकों में हिंदू (विशेष रूप से उन्नीसवीं और बीसवीं शती में) और मुसलमान दोनों ही रहे।

अनेक मुसलमान शासकों ने संस्कृत एवं प्रांतीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन दिया जिसमें भारतीय संस्कृति में एक समृद्ध विविधता का समावेश हुआ। संस्कृत में लिखी गई राजतरंगिणी, जो कि एक ऐतिहासिक विवरण है, कश्मीर के सुल्तान जैनुल आबिदीन (1420–1470) की आज्ञा से संकलित किया गया था। आबिदीन ने कश्मीरी भाषा के विकास को भी प्रोत्साहन दिया। उसी के शासनकाल में कश्मीरी की पहली धर्मनिरपेक्ष कविता 'बनासुरबाधा' की रचना हुई। इसी प्रकार उदयराज ने अपने संरक्षक गुजरात के सुल्तान मुहम्मद बेगड़ा (1458–1511) के शासनकाल को अमर करने के लिए संस्कृत में राजविनोद महाकाव्य की रचना की। गुजराती का प्रथम गीतिकाव्य 'बसन्तविलास' सुल्तान कुतुबुद्दीन अहमदशाह (1551–1558) के शासनकाल में रचा गया। महाभारत का पहला बंगला अनुवाद गौर के नसीरुद्दीन नुसरत शाह (1285–1519) की आज्ञा से भगवद्गीता का बंगला में अनुवाद किया और 'गणराज खान' की उपाधि प्राप्त की। गोलकुंडा के कुतुबशाही शासकों ने तेलुगू को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। इब्राहिम कुतुब शाह (1550–1580) ने तपतिसम्बरनमु उपाख्यानमु के रचनाकार गंगाधर को अपना दरबारी कवि और पल्लमेतु सामायाजी कवि का राज्य कवि बनाया था।

बादशाह अकबर बड़ा साहित्य संरक्षक था। अबुल फजल के अनुसार उसके पुस्तकालय में संस्कृत, फारसी, अरबी, यूनानी और कश्मीरी भाषाओं में लिखी गई पुस्तकें थीं। अबुल फजल का यह भी कहना है कि "भाषाविद् हिंदी, यूनानी अरबी और फारसी पुस्तकों का अन्य भाषाओं में अनुवाद करने में लगे रहते हैं। "संस्कृत के अन्य श्रेष्ठ ग्रंथों का फारसी में अनुवाद किया गया। इन अनूदित रचनाओं में महाभारत ('रज्मनामा' या 'युद्धों का विवरण के नाम से) रामायण, अथर्ववेद, पंचतंत्र और भास्कर का गणित शास्त्र संबंधी ग्रंथ लीलावती सम्मिलित हैं। इसी संदर्भ में फैजी द्वारा मसनवी नल-औ-दमन नाम से नल दमयंती कथा की रचना और 'अयार दानिश' के नाम से अबुल फजल द्वारा कालियदमन का अनुवाद भी उल्लेखनीय है।

अकबर के उत्तराधिकारी भी भारतीय साहित्य के संरक्षक बने रहे। जहांगीर (1605–1627) ने चित्रमीमांसाखंडन (अलंकार शास्त्र पर ग्रंथ) एवं आसफ विजय (नूरजहां के भाई आसफ खां की स्तुति) के रचयिता जगन्नाथ को “पंडितराज” की उपाधि से सम्मानित किया था। वंशीधर मिश्र और हरिनारायण मिश्र शाहजहां (1628–58) के दरबार के संस्कृत कवि थे। शाहजहां को अनेक रचनाएं समर्पित की गईं, जिसमें प्रमुख हैं, मुनिश्वरदास द्वारा रचित सिद्धान्त सर्वभौम और भगवती स्वामी की काव्यवृत्तबोध। औरंगजेब के शासनकाल (1658–1707) में रचे जाने वाले संस्कृत ग्रंथ हैं, रघुनाथ रचित मुहुर्तमाला जो कि मुहुर्त संबंधी ग्रंथ है, और चतुर्भुज का ‘रसकल्पद्रुम’ जो औरंगजेब के चाचा शाइस्ता खान को समर्पित है।

हिन्दू-मुसलमानों की मिली-जुली संस्कृति का जैसा स्पष्ट विकास भारतीय संगीत के क्षेत्र में देखने को मिलता है वैसे अन्यत्र नहीं। अमीर खुसरो को भारतीय संगीत में अनेक फारसी एवं अरबी तत्वों के समावेश का श्रेय दिया जाता है, जिनमें क्वाल (जिसे कव्वाली का मूल भी माना जाता है) और तराना जैसे गायिकी के नए रूप सम्मिलित हैं। इस समय से लेकर मुगल काल के समय तक भारतीय राजाओं के दरबार में भारतीय संगीत के साथ-साथ विदेशी संगीत, विशेष रूप से ईरानी संगीत सुना जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय संगीत में परिवर्तन तो हुआ किंतु स्वरूप बना रहा।

कट्टरपंथियों के विरोध के बावजूद मुस्लिम शासन के अंतर्गत भारतीय संगीत फला-फूला। अनेक शासकों ने संगीत को प्रोत्साहन दिया जिनमें से कुछ तो संगीत संरक्षक होने के साथ-साथ स्वयं ही गुणी कलाकार भी थे। कहा जाता है कि सुल्तान मुहम्मद शाह तुगलक (1324–51ई0) सेवा में 1200 संगीतकार रहते थे और जो 1000 गुलाम संगीतकारों के अतिरिक्त थे। कश्मीर के सुल्तान जैन-उल-आबिदीन ने संगीत शास्त्र पर एक ग्रंथ लिखे जाने की आज्ञा दी थी, जो आज उपलब्ध नहीं है, सुल्तान हुसैनशाह शर्की (1458–1528), जो मूलतः जौनपुर का था, स्वयं का एक महान कलाकार था और संगीत के क्षेत्र में आविष्कर्ता के रूप से खुसरो के बाद उसी का स्थान आता है। संगीत में उसकी महत्वपूर्ण देन “ख्याल” की गायकी है। अपनी पारंपरिक धार्मिक आस्था के बावजूद सुल्तान सिकंदर लोदी संगीत में अच्छी रुचि रखता था। उसी के संरक्षण में ‘लहजत-ए-सिकन्दर शाही’ की रचना हुई जो कदाचित भारतीय

संगीत पर पहला फारसी ग्रंथ है। यह संस्कृत ग्रंथों पर आधारित है और इसका स्वरूप पारंपरिक है। इसी दिशा में हिंदी का एक अधिक प्रगतिशील ग्रंथ है मान कौतुहल जिसका संकलन ग्वालियर के राजा मानसिंह (1486—1516) के दरबारी संगीतकारों ने किया था। इस ग्रंथ में उन सभी आविष्कारों का विवरण मिलता है जो अमीर खुसरो के जमाने से भारतीय संगीत के क्षेत्र में होते आए थे।

मुगल सम्राटों, अकबर, जहांगीर और शाहजहां के काल में संगीत संरक्षण अपने चरम पर था। दरबारी संगीतकारों के अतिरिक्त बड़े-बड़े नौबत भी बने जिनमें वात एवं तालवाद्य होते थे। ये नौबत प्रायः नियमित अंतराल से नक्कारखानों या नौबतखानों में बजते रहते थे जो प्रायः महलों और मंदिरों के प्रवेश द्वारा पर स्थित होते थे। अकबर के संगीत संरक्षण के संबंध में अबुल फजल लिखता है : “पादशाह सलामत संगीत की ओर बड़ा ध्यान देते हैं और उन सब लोगों को संरक्षण प्रदान करते हैं जो मोहक का अभ्यास करते हैं। उनके दरबार में अनेक संगीतकार थे जिनमें हिन्दू, ईरानी, सूरानी, कश्मीरी, स्त्री और पुरुष कलाकार थे।”

अबुल फजल अकबर के दरबार के छत्तीस प्रमुख संगीतकारों की तालिका देता है। साथ में उनकी विशेषज्ञता के क्षेत्रों का भी उल्लेख है। इनमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित हैं। ग्वालियर के मियां तानसेन को वह इनमें अग्रणी मानता है और उसका वर्णन इस प्रकार करता है : “पिछले एक हजार सालों में भारत में उसके जैसा गायक नहीं हुआ है।” इस तालिका में मालवा का भूतपूर्व शासक बहादुरशाह भी सम्मिलित है। अबुल फजल की तालिका में अनेक वाद्य-यंत्रों का भी उल्लेख है, जिनमें प्रमुख हैं बीन, तंबूरा, सरमंडल, रबाब और ने (बांसुरी)।

सत्रहवीं शती के आरंभ में दक्षिण में बीजापुर के सुल्तान इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय के संरक्षण में दक्षिण में संगीत फूला-फला। आदिलशाह स्वयं भी प्रसिद्ध कवि था। उसकी कविताएं किताब-ए-नौरस शीर्षक से संकलित है जो विभिन्न रागों में गाई जाने के उद्देश्य से रची गई थीं। तथापि, इन्हें ‘मकाम’ कहा गया है जो भारतीय एवं अरबी संगीत धाराओं के साम्य को दर्शाता है।

औरंगजेब के शासनकाल में संगीत का विकास थोड़े समय के लिए अवरूद्ध रहा जिसका कारण औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता बताया जाता है। ऐसा भी कहा जाता है—संगीत को संरक्षण न देने पर भी औरंगजेब संगीत में रुचि रखता था और इसके सिद्धांत पक्ष को अच्छी तरह समझता था। बहादुरशाह (1707–1712) और विशेष रूप से मुहम्मदशाह (1719–48) के समय में संगीत का पुनरुद्धार हुआ। मुहम्मदशाह स्वयं भी प्रसिद्ध गायक था और उसने अनेक 'खयाल' रचे जिनमें से कुछ आज भी प्रचलित हैं। मुहम्मदशाह के संरक्षण में सत्रहवीं शती के एक महत्वपूर्ण संगीत संबंधी ग्रंथ "संगीत परिजात" का संस्कृत से फारसी में अनुवाद हुआ। मुगल साम्राज्य का पतन हो जाने पर संगीत आंचलिक राज्यों के दरबारों में परवरिश पाता रहा, हालांकि इतने शानदार स्तर पर नहीं। उन्नीसवीं शती के आरंभ में जयपुर के महाराजा प्रताप सिंह के दरबारी संगीतकारों ने संगीतसार नामक एक संगीत ग्रंथ का संकलन किया। 1813 ई० में पटना के एक सामंत मुहम्मद रिजा ने नगमात-ए-असाफी की रचना की जिसे उत्तर भारत में आधुनिक भारतीय संगीत का अग्रदूत माना जाता है।

वास्तुकला

उत्तर भारत में तुर्कों के आगमन से पहले हिंदू वास्तुकला की शैलियों और विधियों की लंबी परम्परा विकसित हो चुकी थी। बारहवीं-शती के अंत तक जो नए तुर्क विजेता भारत में आए, भवनों के प्रकार एवं निर्माण-संबंधी उनके अपने ही विचार थे। किंतु इस्लामिक वास्तुकला में प्रशिक्षित कारीगरों के अभाव में उन्हें हिन्दू वास्तुकला में प्रशिक्षित कारीगरों से ही काम चलाना पड़ा। अतः मुसलमानी शासन के आरंभिक काल में निर्मित-भवनों में हिंदू वास्तुकला का पर्याप्त प्रभाव देखने को मिलता है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता। कालांतर में यहां के वास्तुशिल्प भी मुसलमानी वास्तुकला की विधियों, जैसे कि मेहराब और गुंबद बनाने की कला में माहिर हो गए। साथ कतिपय मुसलमान शासकों एवं अभिजनों का सामान्य प्रयास रहा कि उनके भवनों में हिंदू, बौद्ध और जैन वास्तु शिल्प का भी समावेश रहे ताकि भारतीय वास्तुकला केवल संकीर्ण रूप से इस्लामिक कला होकर ही न रह जाए। इस्लामी वास्तुकला में भारतीय वास्तुकला के समावेश की मात्रा विभिन्न संरक्षकों के हिसाब से विभिन्न रही। कुल मिलाकर मिली-जुली हिन्दू-मुस्लिम वास्तुकला की यह प्रवृत्ति विकसित होती रही है, हां इसका अनुपात सब जगह एक सा नहीं रहा।

तुर्की द्वारा भारत में पहले पहल निर्मित भवनों में हिंदू प्रभाव दिखाई देता है, उदाहरण के लिए इल्तुतमिश (1210-36ई0) का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा, जिसकी मेहराबें “सच्ची” शैली (अर्थात् फैली हुई चाप वाली) में न होकर एक दूसरे पर झुके हुए शिला खंडों वाली हिंदू शैली में निर्मित है। दिल्ली सल्तनत के काल में मुसलमानी भवनों में हिंदू वास्तुकला के जिन महत्वपूर्ण लक्षणों का समावेश हुआ उनमें प्रमुख हैं गुंबद पर कलश का जोड़ा जाना, जैसा कि सुलतान गयासुद्दीन तुगलक (1320-24ई0) के मकबरे पर देखा जा सकता है, छज्जा, जिसका प्रयोग पहली बार खान-ए-जहां तिलंगानी के मकबरे पर देखा गया, और स्तंभों एवं पेविलियन वाली छत्ती, जिसका प्रयोग पहली बार सुल्तान मुबारक शाह सैयद (1434) के मकबरे पर किया गया।

हिंदू विचारों का प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप से गुजरात सल्तनत (1411–1572) की भवननिर्माण कला पर देखा जा सकता है। अहमदाबाद एवं खंभात (कैम्बे) की जामा मस्जिदों पर, चंपानेर की बड़ी मस्जिद और ढोलका की हिलाल खान मस्जिद पर यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इन मस्जिदों की शैली हिंदू और जैन मंदिरों से बहुत मिलती-जुलती है। हिंदू-मुसलमान वास्तुकला के कतिपय महत्वपूर्ण उदाहरण दक्षिण में देखने को मिलते हैं। सुल्तान फिरोज शाह बहमनी (1422 ई०) और गुलवर्गा में स्थित सूफी संत गेसूदराज के मकबरों पर झुकी हुई पत्थर की मेहराबें ईरानी प्रभाव दर्शाती हैं। हिंदू शैली के पक्ष और चाप-स्कंदों का मेल किया गया है। गोलकुंडा में सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह द्वारा निर्मित नए किले में इस्लामी मेहराब के साथ शुद्ध हिंदू आकृतियों जैसे हंस, तोता, सिंह शावक, मोर इत्यादि का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार सुल्तान अली आदिलशाह प्रथम (1558–80) द्वारा बीजापुर में निर्मित जामा मस्जिद के किनारे-किनारे पीपल के पेड़ों का घना झुंड उकेरा गया है। पीपल का पेड़ हिंदू प्रतीक है।

सम्राट अकबर द्वारा निर्मित भवनों में इस्लामिक हिंदू, बौद्ध और जैन, अनेक वास्तुशैलियों का समावेश हुआ है। आगरा के किले के जहांगीरी महल में मुसलमानी और हिंदू वास्तुशैलियों का संश्लेष स्पष्ट दिखाई देता है। इस भवन के बाहरी हिस्से में मेहराबों और मेहराबदार आलों की भरमार है जो जो फारसी शैली के हैं, और इसके भीतरी भाग का अलंकरण शुद्ध हिंदू शैली में किया गया है। फतेहपुर सीकरी की अनेक इमारतों के अलंकरण में भी हिंदू शैली की प्रेरणा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, विशेष रूप से जोधाबाई के महल मरियम सुल्ताना एवं राजा बीरबल के आवास गृहों, दीवान-ए-खास और शेख सलीम चिश्ती की दरगाह में। पंचमहल की पिरामिड जैसी संरचना एवं सिकंदरा स्थित स्वयं अकबर के मकबरे में बौद्ध वास्तुशिल्प का प्रभाव झलकता है। (अकबर के मकबरे का निर्माण उसके उत्तराधिकारी जहांगीर ने पूरा किया था) इसके भीतरी भाग के अलंकरण में मुसलमानी, हिंदू और इसाई प्रभाव देखने को मिलता है। यहां ईश्वर के निन्यानवे नामों के साथ-साथ “अल्लाह अकबर” और जला जलालुहू के साथ ही हिंदू स्वास्तिक एवं मसीही क्रॉस भी अंकित है जो अकबर के सकलवादी धार्मिक दृष्टिकोण को दर्शाते हैं।

अकबर की मृत्यु (1605 ई०) के पश्चात् मुगलों ने जिन भवनों का निर्माण कराया उनमें से किसी-किसी में और वह भी अलंकरण में ही थोड़ा बहुत हिंदू प्रभाव दिखाई देता है, अन्यथा

कुल मिलाकर इनमें अकबर द्वारा बनवाई गई इमारतों की तुलना में इस्लामी-करण ही अधिक दिखाई देता है। उदाहरण के लिए नूरजहां द्वारा बनाए गए (1627–28ई0) ऐतिमाद्-उद्दौला के मकबरे में फारसी मेहराबों और मेहराबदार आलों के साथ हिंदू कलश और छतरियों का भी प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार शाहजहां के समय में बनाए जाने वाले भवनों में संगमरमर में बंगाली छप्पर का प्रभाव उत्पन्न किया गया जो किनारों से झुका हुआ होता है। शाहजहां के समय में ही नौ शिखरों वाले पर्णालाकृत मेहराब (**Poliated Arch**) का समावेश हुआ जिनमें से प्रत्येक शिखर (**Cusp**) को अपने आप में एक छोटी मेहराब कहा जा सकता है। यह शैली हिंदू मंदिरों का प्रभाव दर्शाती है जिसमें शिखर का छोटा रूप स्वयं शिखर के मुख्य बाह्य अलंकरण का भाग होता है। कुल मिलाकर, आगरा, दिल्ली और लाहौर में शाहजहां द्वारा निर्मित भवनों में हिंदू और इस्लामिक वास्तुकला के सुंदर समन्वय के दर्शन होते हैं। फिर भी, इनका मुख्य स्वरूप इस्लामिक ही रहा, भले ही वे ताजमहल हो या दिल्ली और आगरा की जामा मस्जिदें। औरंगजेब के समय से भवनों का इस्लामिक स्वरूप अधिक दृढ़ होकर उभरा किंतु यहां भी कहीं-कहीं हिंदू शैली आ गई है जैसाकि लालकिले दिल्ली की मोती मस्जिद (1642ई0) के लंबे शिखरों और झुके हुए कोनों से ज्ञात होता है। आमेर के किले में कछवाहा राजपूत शासकों द्वारा निर्मित दीवान-ए-आम और जयमंदिर राजपूत-मुगल वास्तु शैली के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। बुंदेला सरदार बीर सिंह देव (1605–26) द्वारा ओरछा और दतिया में निर्मित दो महलों की वास्तुशैली भी उल्लेखनीय है जिसके समग्र हिंदू प्रभाव को छोटी-बड़ी मेहराबों द्वारा संतुलित किया गया है। दक्षिण भारत के मदुरै में तिरुमल नायक के महल (1645) में विशाल प्रस्तर स्तंभों, शिखरयुक्त मेहराबों, पार्श्व की गैलरियों और गचकारी (**Stucco**) अलंकरण में हिंदू मुगल और यहां तक कि ब्रिटिश वास्तुकला का मिलाजुला प्रभाव देखा जा सकता है। मराठा वास्तुकला में इस्लामिक वास्तुकला की विशेषताओं को अपनाया गया है जैसे कि गुम्बद, मीनार और तीन ओर से खुले बरामदे। यह शैली मंदिरों के निर्माण में प्रयुक्त हुई हैं और जेजुरी का खांडोवा मंदिर इसका अच्छा उदाहरण है। इन्हीं विशेषताओं को कतपय समाधियों के निर्माण में भी प्रयुक्त किया गया है। जैसे कि संभाजी जाधव की समाधि में। अठारहवीं शती के अंत तक मुगलों के अनुकरण पर मराठे भी भवनों के साथ बगीचा लगाने लगे थे जिनमें पगडंडियां, नहरें और फव्वारे होते थे।

अठारहवीं शती पंजाब की सिख वास्तुकलाओं और हिंदू-मुसलमान शैलियों के समन्वय का एक और उदाहरण है, जैसे अमृतसर का स्वर्ण मंदिर (1764ई0) जिसमें छतरियों, मेहराबदार आलों के साथ सभी अलंकृत गुंबदों एवं शिखरयुक्त मेहराबों का प्रयोग हुआ है।

चित्रकला

चित्रकला की हिंदू और फारसी शैलियों के बीच आरंभिक आदान-प्रदान के अवशेष गुजरात में मिलते हैं। यहां मुगलकाल से पूर्व के सूक्ष्म चित्र मिलते हैं जिनका प्रयोग कल्पसूत्र और कालिकाचार्य कथा जैसे जैन धर्म ग्रंथों के चित्रण में किया गया है। सूक्ष्म चित्रकारी का प्रयोग बंसल विलास जैसे धर्मनिरपेक्ष ग्रंथों को साज्जित करने के लिए भी हुआ है। यह भी इस बात का प्रमाण है कि उस काल तक हिंदू और फारसी शैलियों में आदान-प्रदान आरंभ हो चुका था।

अकबर के कला संरक्षण में हिंदू और फारसी शैलियों की एक मिली-जुली कलम का विकास हुआ। इस संबंध में अबुल फजल का कहना है “अपनी युवावस्था से ही पादशाह सलामत का इस कला के प्रति रुझान रहा है और वे इसे पूरा प्रोत्साहन देते हैं”। अतः यह कला फली-फूली है और अनेक चित्रकारों ने बड़ा नाम कमाया है। प्रत्येक सप्ताह दारोगा और बाबू लोग पादशाह सलामत के सामने सभी चित्रकारों के चित्र पेश करते हैं, वे चित्रों की कलाकारी की श्रेष्ठता के अनुरूप उन्हें पारितोषिक प्रदान करते हैं या उनका मासिक वेतन बढ़ाते हैं।

अबुल फजल अकबर के दरबार के अनेक चित्रकारों का उल्लेख करता है, जिनमें दशवंत अग्रणी था और जिसे अबुल फजल उस युग का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार मानता है। अकबर की निगरानी में अनेक हिंदू गैर हिंदू विषयों से संबद्ध ग्रंथों की चित्रसज्जा की गई है जिनमें प्रमुख है.....हम्जानमा, चंगेजनामा, जफरनामा, रज्मनामा (अर्थात् महाभारत) रामायण और नलमन। अकबर के संरक्षण में पनपने वाली एक अन्य कला थी भित्तिचित्रकारी (**Fresco Painting**)। फतेहपुर सीकरी के कतपय भवनों के भित्तिचित्रों में पारंपरिक विषयों के अतिरिक्त बौद्ध और मसीही विषय भी देखने को मिलते हैं जो अकबर के सकलवादी धार्मिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

देशी और विदेशी मिश्रशैलियों से बनी मुग़ल कलम जहांगीर के शासनकाल में अपने चरमोत्कर्ष पर थी। अपने संस्मरण तुजुक-ए-जहांगीरी में वह लिखता है :

“चित्रकला से मुझे इतना प्रेम है और चित्रों का मूल्यांकन करने का मुझे इतना अभ्यास हो गया है कि जब कोई चित्रकृति मेरे सामने लाई जाती है तो देखते ही बता सकता हूँ कि वह किस चित्रकार की रचना है। और यदि मेरे सामने ऐसी तस्वीर लाई जाए जिसमें अनेक चित्रकारों ने काम किया हो तो मैं उसमें से प्रत्येक चित्र को देखकर बता सकता हूँ कि कौन सा चित्र किस चित्रकार ने बनाया है। यदि किसी चित्रित चेहरे पर आंखें और भौहें किसी अन्य चित्रकार ने बनाई हों तो भी मैं बता सकता हूँ कि मूलचित्र किसका है और उस पर आंखें और भौहें किसने चित्रित की हैं।”

जहांगीर के समय तक ग्रंथों की सूक्ष्म चित्रकारी से सज्जित करने की कला (**Manuscript Illustration**) का स्थान धीरे-धीरे छवि चित्र (**Portrait**) बनाने की कला लेने लगी थी और वही मुग़ल कला की पहचान मानी जाने लगी थी। यूरोपीय कला के प्रभाव ने मुग़ल कला को और समृद्ध किया। मुग़ल कला में परिप्रेक्ष्य का बढ़ता हुआ प्रयोग, सम्राटों और राजकुमारों के सिरों के आस-पास प्रकाश पुंज का चित्रण और माता मरियम एवं बालक यीशु मसीह विषयों के चित्रण में यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। छवि चित्र बनाने की कला शाहजहां और औरंगजेब के शासनकाल में भी फलती-फूलती रही। सत्रहवीं शती के अंत में दक्षिण में मुग़लों के प्रवेश के साथ वहां चित्रकला की मुग़ल अथवा शाही शैली का एक आंचलिक रूप विकसित हुआ जिसे दकमी कलम कहा जाता है।

राजपूतों की चित्रकला की अपनी शैली थी जिसे राजस्थानी कलम कहा जाता है और यह मुग़लों से भी पुरानी है। किंतु जब सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में राजपूतों का मुग़लों से सक्रिय आदान-प्रदान हुआ तो राजस्थानी कलम भी मुग़ल कला के प्रभाव से अछूती न रह सकी। किंतु यह प्रभाव शैली तक ही सीमित रहा। विषयवस्तु को इसने प्रभावित नहीं किया। मुग़ल चित्रकला के विषय या तो अभिजनों से संबंधित होते थे या धर्मनिरपेक्ष होते थे, जबकि

राजपूत कलम में राजाओं एवं अभिजनों को चित्रित तो किया जाता था किंतु लोकप्रिय और धार्मिक विषयों पर ही अधिक बल दिया जाता था।

अठारहवीं शती में जब चित्रकारों को मुगल और राजपूती संरक्षण मिलना कम हो गया तो पश्चिमी और मध्य हिमालय की तलहटी में भारतीय चित्रकला के नए केंद्र उभरे क्योंकि अनेक चित्रकार यहां आकर बस गए थे। गुलेर, बसोली, चम्बा, जम्बू और कांगड़ा के सरदारों के दरबारों में रहने वाले चित्रकारों की कृतियां ही तथाकथित पहाड़ी कलम कहलाती हैं।

धर्म

धर्म के क्षेत्र में कुछ सीमा तक पारम्परिक आदान-प्रदान एवं संश्लेषण हुआ किंतु यह लोक-आस्थाओं और सामाजिक व्यवहार तक ही सीमित रहा। दूसरी और शुद्धतः बुद्धिवादी स्तर पर संश्लेषण के सभी प्रयास छिटपुट और सतही रहे, पारंपरिक हिंदू धर्म और पारंपरिक इस्लाम संपूर्ण मध्य युग में एक दूसरे से अलग-थलग ही रहे।

सोलहवीं शती में अकबर पादशाह ने मुगलों की सुदृढ़ दृष्टि से उदारवादी विचारधारा अपनाई जिसके मूल में सभी धर्मों एवं जातीय समूहों के बीच सामान्य शांति (सुलह-ए-कुल) का सिद्धांत था। उसकी अपनी वैयक्तिक धार्मिक धारणा भी इसी दिशा में प्रेरित थीं जिसकी चरम परिणति उसकी निजी धार्मिक आस्था में हुई जिसे वह तौहीद-ए-इलाही कहता था।

धार्मिक संश्लेषण का ऐसा ही अन्य प्रयास मुगल शहजादा दारा शिकोह (मृत्यु 1659ई०) ने भी किया। स्वयं तो दारा शिकोह सूफियों की कादिरी शाखा से संबद्ध था किंतु उसकी रुचि सूफीमत से परे संस्कृत, हिंदू पुराणों एवं रहस्यवाद के साथ ही मसीही मत के भक्ति गीतों, उपदेशों और इंजिल के अध्ययन में भी थी। उसकी रचनाओं में प्रमुख हैं मजमा-ए-अल-बहरायन (दो महासागरों का मिलन), जो हिंदू धर्म एवं सूफीमत की तकनीकी शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन है। उसी ने भगवद्गीता और योगवशिष्ट का और सीर-ए-अकबर (महान रहस्य) नाम से बावन उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करवाया था। संभव था कि अवसर मिलने पर दारा शिकोह अकबर की तुलना में कहीं गंभीर और स्थायी धार्मिक संश्लेषण को साकार करता। किंतु

शाहजहां के पुत्रों के बीच गद्दी के लिए मचने वाली जंग में दाराशिकोह की मृत्यु ने इस संभावना को सदा के लिए समाप्त कर दिया।

मध्ययुग के कतिपय सूफी संतों ने हिंदू विचारों एवं व्यवहारों, विशेषतः युग में रुचि दिखलाई। किंतु इसने भी किसी ठोस बौद्धिक संवाद या धार्मिक संश्लेषण को जन्म नहीं दिया। हिंदू धर्म के जिन तत्वों को वे ग्रहण करते थे वे अत्यंत चुनिंदा होते थे और उसमें भी बड़ी काट-छांट होती थी क्योंकि कट्टर इस्लामिक व्यवस्था के अंतर्गत उन्हें अधिक स्वतंत्रता नहीं थी। सूफियों के चिश्ती साबिरी शाखा का शेख अब्दुल कुदुस गंगोही (मृत्यु 1538) नाथ योगियों के सर्वेश्वरवादी विचारों (**Patheistic Ideas**) को मानते थे। उनकी सर्वेश्वरवादी रचना रश्दनामा में “अलख” उपनाम से उनकी हिंदी कविताएं संकलित हैं। एक कविता में ईश्वरी (खुदा) और निरंजन को एक दर्शाया गया है। इसके बावजूद सुल्तान सिकंदर लोदी और बाबर पादशाह को लिखे गए उनके पत्रों से स्पष्ट है कि वे भी भारत में शरीया की स्थापना चाहते थे।

भारत में योग को सीधे अपनाने वाली एकमात्र महत्वपूर्ण सूफी शाखा थी शक्तारी सिसिला। शक्तारी वनों में योगियों की भांति फल-फूल खाकर रहते थे और कठोर शारीरिक एवं आध्यात्मिक साधनाएं करते थे। शारीरिक साधना के अंतर्गत विशिष्ट यौगिक आसन करने होते थे। इस पंथ के सबसे महत्वपूर्ण प्रतिनिधि थे ग्वालियर के शेख मुहम्मद गौस (मृत्यु 1563 ई०) जिन्होंने हठयोग के एक संस्कृत ग्रंथ अमृतकुंड का नए सिरे से अनुवाद किया और उसे बहर-उल-हयात नाम दिया। एक अन्य सूफी पंथ मदारी ने भी अपने यौगिक व्यवहारों को अपनाया। मदारी अपने शरीर पर भस्म लपेटते थे, लंबे बाल रखते थे और भांग के आदी होते थे। जिस प्रकार सूफियों ने हिंदू विचारों और व्यवहारों को किसी सीमा तक अपना कर भी इस्लाम के प्रति अपनी मूल आस्था नहीं छोड़ी, उसी प्रकार कुछ हिंदू पंथों ने मूल रूप से हिंदू रहते हुए भी इस्लाम की कतिपय बातों को ग्रहण कर लिया। लेकिन बौद्धिक अर्थ में इस संपर्क का स्वरूप भी सतही था।

इसका सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण कबीरपंथियों में मिलता है जो कबीर (मृत्यु लगभग 1518ई०) के अनुयायी थे। कबीर ने हिंदू और मुसलमान जनसामान्य को मिलाने के लिए

सकलवाद का जो आधार प्रस्तुत किया वह सामान्य होने के कारण मूलतः हिंदू धर्म के अंतर्गत ही आता है। उनके लिए राम ही ईश्वर का नाम था। मुसलमानी परंपरा कबीर को एक चिश्ती सूफी शेख तकी का शिष्य मानती है किंतु हिंदू परंपरा के अनुसार ये दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वंदी थे। कबीर ने हिंदी कविता के माध्यम से हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उनकी कविता में अनुप्रास की आकर्षक छटा है, जैसे कृष्ण-करीम, हरि-हजरत, और मुहम्मद-महादेव आदि। उन्होंने अपनी कविता में अन्य अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा बिस्मिल्लाह के लिए बिस्मिल (ईश्वर के नाम पर) और बहिश्त (स्वर्ग) के लिए भिश्त शब्द प्रयुक्त किए हैं। कबीर ने मुल्ला-अजान, मूर्तिपूजा, पशु बलि और जाति प्रथा की समान रूप से निंदा की है। उनके 'बीजक' में संकलित उनकी कविताओं से स्पष्ट है कि उन्हें हिंदू चिंतन, ग्रंथों और रीति-रिवाजों का अंतरंग ज्ञान था जबकि मुस्लिम आस्थाओं के संबंध में उनका ज्ञान सतही था। कबीरपंथी हिंदू और मुसलमान में बंटे हुए हैं और कबीर के प्रति श्रद्धा के अतिरिक्त उनमें कोई अन्य समानता दिखाई नहीं देती।

भक्तिकाल के हिंदी कवियों में दादू दयाल (1544-1603) सूफियों के सबसे अधिक निकट हैं। वे सूफियों की संगत में रहते थे और ईश्वर के प्रकाश (नूर) संबंधी सुहरावर्दियों की संकल्पना से विशेष रूप से प्रभावित थे जिसका भक्ति में लीन हो जाने के संदर्भ में उल्लेख उनकी रचनाओं में बार-बार मिलता है। दादू दयाल को किसी भी अन्य भक्त कवि की तुलना में इस्लाम का अधिक ज्ञान था। हिंदी, गुजराती और मराठी रचनाओं के अतिरिक्त कतिपय फारसी कविताएं भी उनकी बताई जाती हैं। समन्वयवाद उनके काव्य की विशेषता है। उदाहरण के लिए उनका कहना है : “दोनों भाईयों हिंदू और मुसलमान के एक से हाथ और पैर हैं, दोनों के कान और आंखें हैं।” कबीर की भांति दादू भी हिन्दुओं और मुसलमानों

दोनों के ही धर्म ग्रंथों को प्रामाणिकता अस्वीकार करते हैं और पुरोहित, मुल्ला तंत्र की भर्त्सना करते हैं और कबीर की ही भांति वे भी निर्गुण राम के रूप में ही ईश्वर को देखते हैं।

अनेक अर्थों में नानक (1469–1539) के उपदेश कबीर से मिलते-जुलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की भांति नानक भी इस्लाम के एकेश्वरवाद और समतावाद से प्रभावित थे। कबीर की ही भांति वे भी उस परम के लिए मिश्रित हिंदू मुसलमानों शब्दावली का प्रयोग करते हैं जैसे हरि, राम, अल्ला, खुदा और साहिब। नानक ने जिस सिख पंथ की स्थापना की उसका मौलिक स्वरूप पर्याप्त सकलवादी था, किंतु सत्रहवीं और अठारहवीं शती में यह मुगल-विरोधी आंदोलन के रूप में विकसित हुआ जिससे इसका स्वरूप अधिकाधिक रूप से कट्टर हिंदू होता गया। इसी प्रकार महाराष्ट्र के कतिपय भक्त कवियों के उपदेशों में भी इस्लाम के साथ बौद्धिक तुलना में भावनात्मक आदान-प्रदान ही अधिक मिलता है। चौदहवीं शती के संत नामदेव ने हिंदू और मुसलमानों की समान रूप से आलोचना की है, “हिंदू अंधा है तो मुसलमान काना। जानने वाला दोनों से अधिक बुद्धिमान है। वह (नामदेव) तो उस नाम का सेवक है जिसका न कोई मंदिर है, न मस्जिद।” इसके बावजूद नामदेव के हिंदू संस्कार इस बात से प्रकट हैं कि मूलतः वे हिंदू देवता विठोबा के उपासक हैं। सबसे प्रभावशाली मराठा संत तुकाराम (जन्म 1608 ई०) के भजनों में यदा-कदा सूफी शब्दावली का प्रयोग मिलता है।

कुछ ऐसे मूलतः हिंदू पंथ भी थे जिन्होंने उपर्युक्त आंदोलनों की तुलना में हिंदू और इस्लाम के तत्वों को मिलाने का कहीं अधिक प्रयास किया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हुसैनी ब्राह्मणों में मिलता है, जो शिया शहीद हुसैन को मानते थे किंतु वे चिश्ती सूफी, ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती को भी देवता मानते थे। वे मुहम्मद को अवतार मानते थे, मुसलमानों की भांति रमजान के महीने में रोज़े रखते थे और अपने मृतकों को दफनाते थे। वे केवल मुसलमानों से ही दान लेते थे। साथ ही वे अपने भाल पर बाह्य धर्म के जातिसूचक चिह्न भी धारण करते थे। ऐसा

ही एक अन्य दृष्टांत रामसांचियों का है जो रामचरण के अनुयायी थे, जो मुसलमानों की भांति दिन में पांच बार नमाज़ पढ़ते थे और जातिप्रथा की भर्त्सना करते थे। किंतु कहना पड़ता है कि यह समन्वयवाद हिंदू धर्म इस्लाम के बीच किसी ठोस बौद्धिक संश्लेषण पर आधारित नहीं था और इसका प्रभाव भी सीमित था।

लोक संस्कृति (**Popular Culture**) एवं सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में ही हिंदू-मुसलमानों के बीच विस्तृत और स्थायी आदान-प्रदान संभव हो सका। अनेक सूफी संत हिंदू और मुसलमानों में समान रूप से पूजनीय हुए और आज भी 'उर्स' में हिंदू-मुसलमान मिलकर भाग लेते हैं। सूफियों के अतिरिक्त अनेक ऐसे अज्ञात धार्मिक मूल के स्थानीय देवी-देवता और संत भी हुए जिनकी हिंदू और मुसलमान दोनों ही पूजा करते रहे हैं—उदाहरण के लिए 'परि झारियां (वनों का संत) जिनकी पूजा सिंध में की जाती है, गुजरात में पूज्य सलार मसूद गाज़ी, लाल शहबाज, जो मूलतः वाममार्गी (**Heterodox**) कलंदर थे, किंतु जिन्हें सिंध के कुछ हिंदू विष्णु का अवतार मानते हैं और बंगाल के कसाईयों के संरक्षक संत जिन्हें मुसलमान गाज़ी मियां और हिंदू सत्यवीर के नाम से पूजते हैं। इसी प्रकार बंगाल के कुछ मुसलमान हिंदुओं की ही भांति शीतलामाता की पूजा करते हैं।

लोकप्रिय उत्सवों एवं संस्कारों के स्तर पर भी किसी सीमा तक हिंदू-मुस्लिम संवाद बना। मुहम्मद शाह तुगलत (मृ० 1351ई०) और अकबर जैसे मुस्लिम शासकों ने होली, दशहरा, दीपावली जैसे हिंदू त्यौहारों में भाग लेकर इसका उदाहरण प्रस्तुत किया। बंगाल और अवध के नवाब धूमधाम से जन्माष्टमी मनाते थे। गोलकुंडा के कुतुबशाही शासकों के काल में अनेक हिंदू मुहर्रम में हिस्सा लेते थे और इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि कुछ तो मुहर्रम के दौरान जन्म लेने वालों बच्चों का नाम ही शिया शहीद इमाम हुसैन के नाम पर रख देते थे।

अविभाजित बंगाल में मुसलमानों की दावतों में हिंदू भी शरीक होते थे और ग्रामीण क्षेत्रों में मुसलमान हिंदुओं की दुर्गापूजा में भाग लेते थे। गांवों और कस्बों में हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के मेलों में सम्मिलित होते थे।

मध्यकालीन बंगाल में हिंदुओं ने कुरान से शकुन विचारने की प्रथा को अपना लिया था और ग्रामीण मुसलमान विवाह इत्यादि शुभ कार्यों के लिए ब्राह्मणों से शुभ मुहूर्त निकलवाते थे। लोकस्तर पर इस्लाम यहां इतना घुलमिल गया था कि विवाह संस्कार का अनेक रस्में जिसमें मंगनी भी सम्मिलित है (जो कि एक हिंदू मूल का शब्द है।) मुस्लिम समाज ने अपना ली थी। मुसलमानों ने गर्भवती स्त्रियों से संबंधित हिंदूओं के अनेक विधि-निषेधों को भी अपना लिया था, उदाहरण के लिए चंद्रग्रहण के समय प्रवास करना और नए कपड़े न पहनाना, या बुरी नज़र से बचने के लिए मेंहदी का प्रयोग करना। इसी प्रकार सालगिरह वर्षगांठ मनाना और विधवा स्त्रियों का शोक प्रकट करने के लिए कांच की चूड़ियां तोड़ना आदि भी हिंदू रिवाज हैं जिन्हें मुसलमानों ने भी अपना लिया है।

मध्यकालीन संस्कृति में मध्यकालीन काव्य की पृष्ठभूमि है। जिस प्रकार गंगा छोटी-छोटी पतली जलधाराओं के मिलने से बनती हैं उसी प्रकार मध्यकालीन संस्कृति का विकास अनेक संस्कृतियों के मिलने से हुआ है। शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन, मुस्लिम संस्कृति का रसायन ही मध्यकालीन संस्कृति का मातृद्रव है। इस काल में वैष्णव धर्म का विशेष प्रभाव रहा है। इसी धर्म का विकास राम एवं कृष्ण भक्ति धारा के रूप में हुआ है। कृष्ण भक्ति धारा का मूल स्रोत भागवत है। भागवत से मध्यकालीन कृष्ण कवियों ने प्रेरणा ग्रहण की है। कृष्ण की सगुण-भक्ति की परम्परा के प्रवर्तन में बल्लभाचार्य का विशेष अवदान है उन्होंने पृष्टिमार्ग के द्वारा कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। उनके पूर्व शंकराचार्य ने संसार को मिथ्या कहा था। बल्लभाचार्य ने संसार को भी सत्य बताया तथा कृष्ण कृपा में भक्त के समस्त समस्याओं का समाधान दिखाया।

कृष्ण भक्ति धारा के विकास में कृष्ण के स्वरूप एवं तत्कालीन परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। परिस्थितियों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं— सामाजिक परिस्थितियाँ एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ। सामाजिक परिस्थितियों में ही सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी विकास होता है। सांस्कृतिक परिस्थितियों में मनुष्य के सूक्ष्म चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है। इस अध्याय को तीन भागों में बाँटकर मध्यकालीन संस्कृति का अध्ययन किया गया है। तीनों का लक्ष्य मध्यकालीन काव्य परम्परा की समन्वयशीलता को दिखाना रहा है। प्रथम खण्ड में मध्यकालीन संस्कृतिका विकास दिखाया गया है। द्वितीय खण्ड में काव्य में व्यक्त समन्वयशीलता को प्रस्तुत किया गया है तथा तृतीय खण्ड में संस्कृति के तत्व, साहित्य एवं कला का निदर्शन किया गया है। काव्य में संस्कृति अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है इस तथ्य के साथ काव्य-परम्परा का उल्लेख मध्यकालीन संस्कृति में किया गया है रसखान के काव्य में जो प्रेम का विराट प्रवाह है उसके गर्भ में सांस्कृतिक अन्वय की अन्विति है।

अध्याय-2

संदर्भ-ग्रन्थ :-

क्रमांक

- पृष्ठ – 51. ऋग्वेद 1/164/43, 5/3/1-2
- “ (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 112
52. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 88।
- “ भागवत् एकादश स्कन्ध : श्लोक, 48
53. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 98
54. वही पृष्ठ 58
55. वही पृष्ठ 99
56. कार्पेण्टर : कम्प्रेटिव रिलिजन, पृष्ठ 134
57. तंत्रालोक : (88/2)
58. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 400
69. दुर्गासप्तशती (11/5)
60. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 77
61. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 101
62. वही पृष्ठ 102
63. वही पृष्ठ 103
64. वही पृष्ठ 104
65. वही पृष्ठ 103
66. वही पृष्ठ 105
67. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 105
68. वही पृ० 175
69. The Bhakti Doctrine in Shandilya Sutra - B.M. Barua, Page : 437.
70. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 176
71. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 103

72. तत्रैव : पृ० 103
73. डॉ. चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशील,
पृ० 371
74. तत्रैव : पृ० 321
75. तत्रैव : पृ० 321
76. भगवद्गीता — 8, 21—22, एवं 15, 16—18
77. भारतीय दर्शन : आलोचन एवं अनुशीलन, पृष्ठ 324
78. वही पृष्ठ 324
79. डॉ. चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशील,
पृ० 323
80. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 109
81. डॉ. चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशील,
पृ० 324
82. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 197
83. डॉ० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,
पृष्ठ 489
84. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 110
85. वही पृ० 110
86. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 199
87. वही पृष्ठ 201
88. वही पृष्ठ 203
89. सूर सागर — भ्रमरगीत —
90. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 205
91. वही पृष्ठ 209
92. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 116
93. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 209
94. वही पृष्ठ 119

95. वही पृष्ठ 211
96. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 234
97. वही पृष्ठ 235
98. वही पृष्ठ 236
99. (सं०) विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ० 108
100. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 236
101. हिन्दी साहित्य का इतिहास (डॉ० नगेन्द्र), पृ० 238
102. (सं०) विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ० 24
103. (सं०) डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 268
104. वही पृष्ठ 270
105. वही पृष्ठ 271
106. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत—भाग—2, पृ० 532
107. वही पृ० 536
108. वही पृ० 539

तृतीय अध्याय : रसखान का रचनात्मक व्यक्तित्व

(क) परिवेश एवं प्रभाव : रसखान की रचना 'प्रेम वाटिका' में लिखा गया है¹—

देखि गदर हित साहबी, दिल्ली नगर मसान ।

छिनहिं बादसा—वंश की, ठसक छोरि रसखान ।।

प्रेम निकेतन श्री बनहिं, आइ गोवर्धन धाम ।

लहयो सरन चित चाहिके, जुगल सरूप ललाम ।।

यदि इन पंक्तियों के प्रकाश में हम रसखान के परिवेश रेखांकन करना चाहे तो इस प्रकार कर सकते हैं— गदर तथा दिल्ली के श्मशान बनने का समय 1555 ई० के आस—पास का ठहरता है। क्योंकि इसी समय युगल सम्राट हुमायूँ ने दिल्ली के सूरवंशीय पठान शासकों से अपना खोया हुआ शासनाधिकार पुनः हस्तगत किया था। इस अवसर पर भयंकर नर संहार और विध्वंश होना स्वाभाविक ही था। रसखान कवि हृदय थे। इस तांडव रूप को देखकर कवि के कोमल हृदय का विरक्त हो जाना स्वाभाविक था। कवि ने जिस 'बादशाह वंश' की ठसक का त्याग किया वह वहीं पठान (सूर) वंश प्रतीत होता है। जिसके शासन का उदय शेरशाह सूरी के साथ 1528 ई० में हुआ और अन्त इब्राहीम ख़ाँ तथा अहमद ख़ाँ के पारस्परिक कलह के कारण 1555 ई० में हुआ। इस गदर के समय रसखान की आयु बीस बाइस वर्ष की रही होगी। इसके आधार पर उनका जन्म काल 1533 ई० आस—पास ठहरता है। रसखान पिहानी के सैयद इब्राहिम का ही उपनाम है ऐसा माना जाता रहा है किन्तु अब अनुसंधान से यह बात मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। 'प्रेमवाटिका' से स्वयं कवि द्वारा दिल्ली छोड़कर गोवर्धन—धाम जाने के उल्लेख से उनका जन्म स्थान एवं प्रारंभिक निवास दिल्ली अथवा उसके आस—पास ही ठहरता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उन दिनों गोस्वामी विट्ठल नाथ का प्रभाव चतुर्दिक फैला हुआ था। वस्तुतः कृष्ण भक्ति धारा जो वल्लभाचार्य ने बहायी थी उसका प्रभाव केवल हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं रहा। उसका प्रभाव

मुस्लिमानों पर गहरे रूप में पड़ा रामधारी सिंह 'दिनकर' का यह कथन उल्लेखनीय है— “इस्लाम ने जितना प्रभाव हिन्दुत्व पर डाला उससे कहीं अधिक प्रभाव हिन्दुत्व का इस्लाम पर पड़ा है।”¹

यह हम भारत में असाम्प्रदायिकता का रूप देखें तो वह खुसरो रहीम रसखान आदि में स्पष्ट रूप परिलक्षित होता है। इस परिप्रेक्ष्य में ताज की यह कविता कितनी सार्थक प्रतीत होती है—²

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी, तुम दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहौगी।

मैं, देवपूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी, तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहौगी।।

मैं स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ली दिये, तेरी नेह आग मे निदागे हो दहौगी मैं, नन्द के कुमार कुरबान तौड़ी सूरत पे तोड़ नाल प्यारे हिन्दुस्तानी ही रहौगी मैं।।

ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट है कि कृष्ण भक्ति का जादू ताज के सिर पर चढ़कर बोल रहा है। नारद भक्ति सूत्र का यह कथन कितना व्यापक है जिसमें यह कहा गया है कि 'नास्ति तेषु रूप जाति कुतकि यादि भेदः'³ अर्थात् भक्ति रूप जाति, कुल—क्रिया आदि का भेद नहीं होता। वह तो प्रेम की ऐसी गंगा है— जहाँ सब कुछ धुल जाता है तथा शेष रह जाता है केवल प्रेम। यही प्रेम निष्ठा या भक्ति कहलाती है।

रसखान का प्रादुर्भाव ऐसे काल में हुआ था जब पठान वंश का पतन हो चुका था अराजकता थी। मानव जब परिस्थितियों की मार से आकुल हो जाता है तो वह परमात्मा की शरण में जाता है रसखान के व्यक्तित्व में भगवान के प्रति आस्था थी वह परिस्थितियों को पाकर पुष्पित और पल्लवित हो उठी भगवान कृष्ण की भक्ति का मार्ग प्रेम का मार्ग था इसमें परमात्मा एवं जगत् का वैसा अन्तर नहीं दिखाया गया था जैसा कि शंकर के अद्वैत में ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या में व्यक्त किया है। यहाँ तो यह बताया गया है कि सोने का बना

1. रामधारी सिंह: संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 355
2. रामधारी सिंह: संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 354
3. नारद भक्ति सूत्र पृष्ठ 3 गीता प्रेस गोरखपुर

हुआ आभूषण भी सोना हैं। परमात्मा से अलग जगत् का अस्तित्व क्या है यही कारण है कि रसखान को सगुण प्रेमी रूप उनके मन में समा गया था। मनुष्य के हृदय में राग या प्रेम विद्यमान है यही परिष्कृत होकर (Sufimate) भक्ति रूप में बदल जाता है उन्होंने कह ही दिया।

बहम मैं ढूँढ्यो पुरानन ग्यानन वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।

देख्यो सुन्यो कबहूँ न किंतू वह कैसे सरूप और कैसे सुमायन।।

टेरत हेरत हारि पट्यो रसखान बतायो न लोग लुगायन।

देखौ दुरो वह कुंज कुटीर मैं बैठो पलोटत राधिका पायन।।

यहाँ रसखान ने राधा-कृष्ण की प्रेम-व्यंजना को भक्ति का आधार बनाया है। उन्हें अपने काव्य में प्रेम तत्व का रूप दिया है वही उनके काव्य की उदात्तता है। रसखान को 'रसखान' किसने बनाया? वह था उनका परिवेश। हम उनके परिवेश का निम्नलिखित रूप में अध्ययन कर सकते हैं—

जीवन-वृत्त

प्रेम —पंथ के धीर पथिक मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों में अग्रगण्य सैयद इब्राहीम 'रसखान' का जीवन-वृत्त अन्यान्य किन्तु किंवदंतियों, जनश्रुतियों से तमसाच्छादित हैं। यद्यपि उनकी जन्म-मृत्यु लीला-विहार संबंधी तिथियों के निर्धारण में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, तथापि अन्तः साक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के आधार पर रसखान के जीवन को दृढ़तापूर्वक रेखांकित किया जा सकता है।

रसखान के जीवन की घटनाओं की प्रकाशित करने वाले बहि-साक्ष्य के रूप में साम्प्रदायिक साहित्य, वार्ता साहित्य, इतिहास ग्रंथ और आलोचनात्मक प्रबंध अधिगत है। अंतः साक्ष्य के अंतर्गत 'सुजान रसखान' 'प्रेम-वाटिका' आदि रचनाओं में उनके स्व-विषयक कथन हैं।

वस्तुतः कवि के प्रमाणिक जीवन-चरित के रेखांकन के लिए यह आवश्यक है कि अंतःसाक्ष्य एवं बहि-साक्ष्य के रूप में उपलब्ध सामग्री का

विश्लेषण—विवेचन और प्राप्त तथ्यों का मनन—परिशीलन करते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाए। इस दृष्टि से प्रथमतः बहिःसाक्ष्य के रूप में उपलब्ध सामग्री विवेच्य है। कवि—जीवन की खोज में वार्ता साहित्य का महत्व अक्षुण्ण है।

‘दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता’ के अनुसार रसखान दिल्ली में निवास करते थे और उनकी प्रीति एक साहूकार के पुत्र से थी। उनकी यह आसक्ति वैष्णव भक्तों के प्रोत्साहन से कृष्ण—भक्ति में परिवर्तित हो गई। वैष्णवों द्वारा प्रदत्त कृष्ण—चित्र लिए ये दिल्ली से ब्रज प्रदेश में पहुँचे। कृष्ण—दर्शन की लालसा में अनेक मंदिरों की खाक छानते रहे और अनंतः गोविन्द—कुण्ड में श्रीनाथ जी के मंदिरों में भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण ने इन्हें दर्शन दिए। तदुपरान्त स्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने मंदिर में रसखान को बुलाया और वहीं वे कृष्ण—लीला गान करते हुए गोपी—भाव की भक्ति में निष्णात हुए। वस्तुतः उक्त वार्ता में वर्णित घटनाचक्र संबंधी कुछ संकेत रसखान की रचनाओं में भी मिलते हैं— यथा, ‘प्रेम—वाटिका’ में छवि दर्शन का उल्लेख तथा ‘सुजान रसखान’ का लीला वर्णन।

वार्ताकार ने लिखा है कि रसखान पहले प्रभु—लीलाओं का दर्शन करते थे; तत्पश्चात् लीला—विषयक पद्य—रचना करते थे। वार्ता से यह भी प्रमाणित होता है कि रसखान ने स्वामी विट्ठलनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया था और उन्हें गोपी—भाव विद्ध हुआ था।

‘नव भक्तमाल’ के रचयिता श्री राधाचरण गोवामी ने और ‘उत्तरार्द्ध भक्तमाल’ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रसखान का नामोल्लेख भर किया है। भारतेन्दु जी तो इन मुसलमान भक्त कवियों के ऊपर करोड़ों हिन्दुओं को न्यौछावर तक करते हैं।

संवत् 1687 में बाबा वेणीमाधव दास विरचित ‘मूल गोसाईं चरित’ में रसखान का उल्लेख मिलता है। उनके अनुसार संवत् 1634 से 36 के बीच रसखान ने ‘राचरितमानस’ की कथा सुनी थी।

1. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, वार्ता 219
2. पोद्दार—अभिनन्दन ग्रन्थ, भक्त कवि रसखान, पृ० 305

कुल मिलाकर 'वार्ता साहित्य' के आधार पर रसखान की जाति मुसलमान निवास दिल्ली, वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षा—काल संवत् 1640 तथा जन्म—मृत्यु—काल क्रमशः संवत् 1615 तथा संवत् 1685 ठहराया गया हैं, जो समीक्ष्य हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में रसखान के जन्म—मृत्यु को लेकर मतैक्य नहीं है; यद्यपि इनकी दीक्षा, ब्रज प्रदेश में निवास, गोपी भाव की भक्ति और जाति को लेकर सभी की धारणा लगभग एक जैसी हैं।

'शिवसिंह सरोज' में सेंगरजी रसखान को सैयद वंशीय माना हैं और उनका जन्म 'पिहानी' में संवत् 1630 ठहराया हैं।¹

'मिश्रबन्धु—विनोद' के अनुसार रसखान दिल्ली के पठान थे। इनका जन्म—संवत् 1615, मृत्यु—संवत् 1685 ठहराया गया हैं।²

'हिन्दी—साहित्य का प्रथम इतिहास' में सर जार्ज ग्रियर्सन ने इनका जन्म 1573 ई० में पिहानी (जिला हरदोई, उ० प्र०) में माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी—साहित्य का इतिहास' ग्रंथ में रसखान को दिल्ली के शाही वंश का पठान सरदार और विट्ठलनाथ जी का पटु शिष्य बताया हैं। इनका रचना—काल संवत् 1640 के बाद माना हैं तथा 'प्रेम—वाटिका' की रचना संवत् 1671 में स्वीकारी हैं।⁴

डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी—साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का आधार लेकर इनके लौकिक प्रेम—प्रसंग की चर्चा की हैं तथा इनका कविता—काल संवत् 1671 माना हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास ग्रंथ—में भ्रमवश रसखान के ग्रंथ 'सुजान—रसखान' को दूसरा रसखान मान लिया हैं।

1. शिव सिंह सरोज पृष्ठ : 439
2. मिश्र बन्धु — विनोद प्रथम भाग पृष्ठ 292
3. हिन्दी—साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० 107
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ 106

‘पोद्दार-अभिनन्दन ग्रंथ’ में संकलित ‘भक्त कवि रसखान’ नामक अपने लेख में श्री भवानीशंकर याज्ञिक ने रसखान का जन्म संवत् 1590, ब्रजगमन संवत् 1612, 1627 के उपरान्त वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षा, 1634 से 1637 तक मानस-कथा श्रवण, 1672 में ‘प्रेम-वाटिका’ की रचना तथा लगभग 85 वर्ष की आयु में संवत् 1675 के आस-पास रसखान की मृत्यु का उल्लेख किया है। उनके अनुसार ये महाकवि तुलसी के समकालीन थे और इनकी मृत्यु से 30-35 वर्ष पूर्व ही अष्ट छाप के सभी कवियों की मृत्यु हो चुकी थी।¹

‘रसखान : जीवन और कृतित्व’ नामक ग्रंथ में श्री देवेन्द्र प्रताप उपाध्याय ने रसखान का जन्म संवत् 1630, वैराग्य संवत् 1664, ‘प्रेम-वाटिका’ की रचना संवत् 1690 के आसपास ठहराई है। उक्त तिथियों की प्रामाणिकता ठहराने हेतु उन्होंने संवत् 1662-64 के बीच जहाँगीर और खुसरो के संघर्ष की ओर संकेत किया है।² ध्यातव्य है कि दिल्ली में गदर की चर्चा ‘प्रेम-वाटिका’ के एक दोहे में हुई है। किन्तु जहाँगीर और खुसरो का संघर्ष राष्ट्र-व्यापी नहीं था अतः उसे ‘गदर’ की संज्ञा रसखान ने नहीं दी होगी। गृह-कलह गदर नहीं हो सकता।

उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त सैयद अमीर हसन नूरानी कृत ‘हिन्दी के मुसलमान शोअरा’ (उर्दू); गुरुदेव प्रसाद वर्मा कृत ‘हिन्दी के मुसलमान कवियों का प्रेमकाव्य’ आदि ग्रंथों में भी उक्त घटनाओं और तिथियों का ही पिष्टपेषण हुआ है। गुरुदेव प्रसाद वर्मा ने इस जनश्रुति का सहारा लिया है कि रसखान के हृदय में भगवद्-विषयक रति का आविर्भाव श्रीमद्भागवत के फारसी रूपांतर के अध्ययनोपरान्त हुआ होगा और गोपियों की कृष्ण के प्रति उत्कट प्रीति उन्हें वृन्दावन खींच ले गई होगी।

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के ‘रसखान-पदावली’ नामक संग्रह की भूमिका में तथा बाबू अमीरसिंह द्वारा सम्पादित ‘रसखान और घनानन्द’ (मनोरंजन पुस्तक माला-51) में रसखान के जीवन से संबंधित जिन किवदंतियों का उल्लेख हुआ

1. पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ, प्रधान सम्पादक वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० 315
2. रसखान: जीवन और कृतित्व, श्री देवेन्द्र उपाध्याय कृत पृ० 48।
3. स० वासुदेव शरण अग्रवाल : पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० 315।

हैं, उनका आधार भी वार्ता साहित्य ही रहा है। ब्रह्मचारी जी ने इनके वणिक-पुत्र से प्रेम के अतिरिक्त युवावस्था में स्त्री-प्रेम की चर्चा भी की है। इनकी प्रेयसी अत्यंत मानवती स्त्री थी।

उससे प्रताड़ित रसखान कृष्ण-भक्ति में तल्लीन हुए। भावावेश में ये नित्य ही श्रीकृष्णचन्द्र के साथ में गौरे चराने जाया करते थे और गोपियों की रास-क्रीड़ा के दर्शन करते थे। यहीं नहीं, स्वयं ब्रजचन्द्र भगवान श्रीकृष्ण ने रसखान की मृत्यु होने पर उनका दाह संस्कार किया था।

समग्रतः रसखान की जन्म और मृत्यु-सम्बन्धी तिथियों तथा उनके जीवन-चरित संबंधी विवरण के पक्ष में बहिःसाक्ष्य में अकाट्य तथ्यों का प्रायः अभाव है। अतएव उनकी रचनाओं में प्राप्त तथ्यों की खोज-बीन इस प्रसंग में उपयोगी सिद्ध होगी।

अंतःसाक्ष्य की दृष्टि से 'प्रेम-वाटिका' के अंतिम दोहे तथा 'सुजान-रसखान' के कुछ पद विचारणीय होंगे।

देखि गदर, हित, साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा-बंस की, ठसक छोरि रसखान॥
प्रेम निकेतन श्रीवनहिं, आइ गोवर्धन-धाम।
लहरो सरन चित चाहि कै, जुगल सरूप ललाम॥
तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिन मान।
प्रेम देव की छविहिं लखि, भए मियाँ रसखान॥
2 7 6 1
विधु-सागर-रस-इन्दु सुभ, बरस रसखानि।
प्रेमवाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरख बखानि॥
अरपी श्रीहरि चरन जुग, पदुम पराग निहार।
विखरहिं या में रसि कवर मधुकर-निकर अपार॥

1. देखि गदर हित-साहबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंस की ठसक छोरि रसखान॥ (प्रेम वाटिका - दोहा : 48)
2. रसखान : जीवन और कृतित्व, पृ० 40
3. रसखान और उनका काव्य, पृ० 02

उक्त दोहों से स्पष्ट हैं कि दिल्ली में राज-सत्ता के लिए संघर्ष में हुए नर-संहार के कारण नगर श्मशान की भाँति वीरान हो गया और इस युद्ध लिप्सा से विक्षुब्ध कवि ने शाही वंश की ठसक का परित्याग कर दिया अर्थात् शाहे वक्त से सम्बन्ध तोड़कर वे ब्रजवासी हुए तथा गोवर्धन की पार्वत्य-सुषमा को अपना प्रेम-निकेतन बनाकर राधा-कृष्ण के युगल-चरणों में प्रेमपूर्वक शरण ली। उन्होंने उस मानवती नायिका के मान का भंजन किया। उसके प्रेम-पाश से अपने हृदय को मुक्त कर रसिकराज के श्री चरणों में लगाया। और इस तरह भगवान श्रीकृष्ण की छवि का दर्शन कर मियाँ रसखान-रसरूप हो गए। संवत् 1672 में 'प्रेम-वाटिका' की रचना रसिक राज वृन्दावन विहारी की चरण-शरण से उद्भूत हृदयगत आनंद-पारावार को अभिव्यक्ति देने हेतु की। अंत में रसखान यह 'प्रेम-वाटिका' श्रीकृष्ण के पदपद्मी में समर्पित करते हैं, इसमें रसिक जन उसी प्रकार आनंद-विहार करते जैसे कमलों में भ्रमर।

रसखान के इस दोहे के आधार पर अधिकांश समीक्षकों और इतिहासकारों ने रसखान को शाही वंश का ठहराया है। श्री देवेन्द्रप्रताप उपाध्याय तथा श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय प्रभृति विद्वान इसी मत के हैं। किन्तु यदि हम 'सुजान-रसखान' के कुछ पदों पर दृष्टिपात करें तो दूसरी ही ध्वनि निकलती है; यथा—¹

देश विदेश के देखें नरेशन रीझ की कोऊ न बूझ करैगौ।
 तातैं तिन्हें तजि जानि गिर्यो गुन सौ गुन औगुन गाँठि परेगौ।।
 बंसुरी बारो बड़ी रिझवार है । स्याम जु नैसुक ढार ढरैगो।
 लाड़लो छै लवही तो अहीर को पीर हमारे हिये की हरैगो।।

इस पद से रसखान का कई राजदरबारों से परिचय प्रमाणित होता है। वे न केवल दिल्लीश्वर वरन् अन्य राजदरबारों में भी सम्बन्धित रहे। किन्तु उन्हें कोई गुणनाहक, स्नेहशील सम्राट मिला नहीं, जो उनके आप्लावित प्रेम-रस और

1. सं० विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली पृ० 44 (पद नं० 07)।

काव्य—रस का पारखी होता। अतः लौकिक और आध्यात्मिक रीझि से आकुल, भग्न, हृदय, हताज रसखान रसिक—शिरोमणि श्रीकृष्ण के शरणागत हुए। कहना यह है कि इस पद से उनका दिल्लीश्वर का वंशज होना अप्रमाणित होता है। यदि वे शाही खानदान से थे तो क्यों अन्य राजदरबारों में भटकते रहे? परन्तु यह बात भी सच है कि उन्हें दरबारी संस्कृति का, राजसी वैभव का, शाही चमक—दमक का पर्याप्त ज्ञान था। यह दरबारी वैभव—विलास उनके कई पदों से प्रतिविम्बित होता है—

कंचन मंदिर ऊंचे बनाइ के मानिक लाइ सदा झलकैयत।

प्रात ही तें सगरी नगरी नग मोतिन की तुलैयत॥

जद्यपि दीन प्रजान प्रजापति की प्रभुता मघवा ललचैयत।

ऐसे भये तौ कहा रसखानि जौ सांवरे ग्वार सों नेह न लैयत॥¹

लल लसै पगिया सबके, सबके पठ कोटि सुगन्धनि भीने।

अंगनि अंग सजे सबहीं रसखानि अनेक जराव नवीने॥

इन पंक्तियों से यह साफ जाहिर है कि कंचन—मणि—माणिक्य—मोतिलियों की मालाएं, जड़ाऊ आभूषण, सुगन्धित वस्त्रों आदि की चर्चा करने वाले कवि ने राजसी सुख—भोग किया था। वह राजदरबारों, अमीर—उमरावों से अवश्य जुड़ा रहा था; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि वे दिल्लीश्वर के वंशज थे। कदाचित् वे मुगल दरबार में किसी पद पर आसीन थे, जिसे उन्होंने राजवंश की पारम्परिक कलह, छीना—झपटी, गृह—युद्ध और मानवीय मूल्यों की विघटनकारी दशा को देखकर त्याग दिया। यही कारण है, अपने अचेतन में शाही वैभव से आक्रान्त कवि—मन संकट काल में प्रभु—पद की स्मृति से स्वयं को आश्वस्त करता है—

काहे को सोच करे रसखानि कहा करि हैं रबि नन्द विचारो।

ताखन जाखन राखिये माखन चाखन हारो सो राखन हारो॥

इस प्रकार बहिःसाक्ष्य और अन्तःसाक्ष्य के विश्लेषण—विवेचनोंपरांत रसखान के जीवन—वृत्त को रेखांकित किया जा सकता है।

जन्म और ब्रज—गमन

प्राप्त साक्ष्यों में रसखान की जन्म और मृत्यु सम्बन्धी तिथियां विवादास्पद हैं। अधिकांश विद्वानों में इनका जन्म—संवत् 1615 विक्रमी में एवं मृत्यु—संवत् 1685 विक्रमी में मानी है।¹ ये तिथियां भ्रामक प्रतीत होती हैं। यदि रसखान का जन्म—संवत् 1615 विक्रमी मान लिया जाए तो उनके ब्रज—गमन की तिथि का तालमेल उनके अन्तःसाक्ष्य से नहीं बैठ सकता। उन्होंने स्वयं 'प्रेम—वाटिका'² में लिखा है कि गदर या किसी विप्लव के कारण दिल्ली जब वीरान हो गई, तभी वे दिल्ली छोड़कर ब्रज में आए। ऐतिहासिक साक्ष्य³ के आधार पर दिल्ली में गदर की स्थिति संवत् 1613 में हुई थी। हुमायूँ की मृत्यु और अकबर की ताजपोशी के बाद अकबर को सूरवंश और हेमू से भयानक युद्ध लड़ने पड़े थे। दिल्ली छोड़ते समय कवि की उम्र 18 से 25 वर्ष के बीच रही होगी, क्योंकि उनके काव्य में जिस राजसी वैभव और विलास का यत्किचित् वर्णन मिलता है, वह इस उम्र से पूर्व अभोग्य और अवर्णनीय है। अतः संवत् 1615 वि० रसखान की जन्मतिथि नहीं मानी जा सकती।

अधिकतर विद्वानों ने रसखान की वय 85 वर्ष मानी है। अतः मृत्यु—सम्बन्धी उक्त तिथि संवत् 1685 वि० भी सही नहीं ठहरती क्योंकि संवत् 1615 में जन्म मानकर उनकी आयु 85 वर्ष की नहीं होती, 75 वर्ष की ही होती है। अतः उक्त दोनों तिथियां सही प्रमाणित नहीं होती।

'शिवसिंह सरोज' के आधार पर देवेन्द्र प्रताप उपाध्याय⁴ ने जन्म—संवत् 1630 माना है। स्वयं सेंगरजी ने 'शिवसिंह सरोज' की भूमिका में लिखा है कि उन्होंने आने ग्रन्थ की रचना ही सुनी हुई बातों के आधार पर की है। फिर उनके द्वारा प्रणीत रसखान हुई बातों के आधार पर की है। फिर उनके द्वारा प्रणीत रसखान की जन्मतिथि कहां तक सही मानी जा सकती है ? इसके अतिरिक्त संवत् 1615 के विपक्ष में दिए गए तर्क यहां भी प्रभावी होते हैं।

1. मूल गोसाईं चरित, बाबा बेणी माधव दास, मिश्र बन्धु आदि।
2. देखि गदर हित साहिनी....प्रेम—वाटिका, दोहा 48।
3. वाक्यात दारूल हुकूमत देहली, पृ० 308 से 319 तक।
4. रसखान : जीवन और कृतित्व, पृ० 48।

उपाध्याय जी द्वारा दी गई मृत्यु तिथि संवत् 1690 में रसखान की आयु 60 वर्ष ही बैठती है जबकि वे लगभग 85 वर्ष जीवित रहे, यह अधिकांश लोगों द्वारा मान्य तथ्य है। अतः श्री उपाध्याय द्वारा दी गई जन्म—मृत्यु की तिथियां अप्रामाणिक ठहरती हैं।

‘प्रेम-वाटिका’ में वर्णित गदर की घटना की दृष्टि में रखकर रसखान का जन्म संवत् 1590 मानना समीचीन प्रतीत होता है। संवत् 1613 वि० के विप्लव, विध्वंसकारी अकाल और नरसंहारकारी काल में लगभग 23 वर्ष की वय में रसखान ब्रज क्षेत्र में आ गए होंगे, जिसका वर्णन उन्होंने ‘प्रेम-वाटिका’ में किया है। श्री भवानीशंकर याज्ञिक¹ ने अपने लेख तथा डॉ० माजदा असद ने अपने शोध-प्रबन्ध² में संवत् 1590 को रसखान की जन्मतिथि माना है, और अन्यान्य तथ्यों से अपने मत की पुष्टि की है। ऐतिहासिक साक्ष्य (दिल्ली का गदर और मसान जैसी स्थिति) से भी यह मत प्रमाणित होता है जिसकी चर्चा आगे की गई है।

संवत् 1612 या 13 के आस-पास ये दिल्ली नगर छोड़कर ब्रजधाम गए होंगे। इसीकाल में सत्ता-लिप्सा में रत मुगलों, सूरवंशियों आदि के युद्ध ने दिल्ली नगर श्मशान कर दिया था, अतः इन्होंने श्रीवन (मथुरा)³ को प्रयाण किया होगा।

‘देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।’ यहां रसखान द्वारा दिल्ली नगर को ‘मसान’ कहना और गदर का उल्लेख करना कतिपय विद्वानों⁴ को इतिहास-संगत प्रतीत नहीं होता। अतः वे इस अन्तःसाक्ष्य को नजरंदाज करके अन्यान्य कल्पनाएं करते हैं और भ्रामक तिथियों का उल्लेख करते हैं। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि संवत् 1612-13 के बीच राष्ट्रव्यापी विप्लव, युद्ध, अराजकता, नरसंहार के साथ ही साथ देश को भयावह दुर्भिक्ष के दिन भी देखने

1. पोद्दार-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 315,।

2. डॉ० माजदा असद : रसखान काव्य तथा भक्ति भावना, पृ० 32।

3. प्रेम-वाटिका, 48-49।

4. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, रसखान ग्रंथावली की भूमिका, पृ० 67।

5. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, मध्ययुगीन प्रेम साधना, पृ० 148।

पड़े थे। हुमायूँ की मृत्यु के बाद अकबर 14 फरवरी 1556 ई० संवत् 1613 कसे गद्दीनशीन हुए। अकबर ने अपने सिपहसालार एवं अभिरक्षक बैरम खाँ के बल से सूरवंश का नामोनिशान मिटाया तथा पानीपत में हेमू को पराजित किया। अतः इस काल में मुगलों ने भीषण मार-काट की। जाहिर है कि राष्ट्र-व्यापी इस युद्धोन्माद और आपा-धापी को रसखान ने गदर की संज्ञा दे दी होगी। ठीक इसी समय संवत् 1612 में दिल्ली-आगरा में भीषण अकाल भी पड़ा था। अंतिम संस्कार के लिए कफन भी उपलब्ध नहीं था। नर कंकालों और नरमुण्डों से पथ्वी पटी पड़ी थी। प्रसिद्ध इतिहासकार अब्दुल कादिर बदायूँनी ने अपनी पुस्तक ‘मुनतखिवस्तवारीख’ में दुर्भिक्ष और युद्ध पीड़ित जनता का बड़ा ही हृदय-विदारक वर्णन किया है। इस दुर्भिक्ष की चर्चा नसीरुद्दीन अहमद ने भी की है।⁵ कदाचित् इसी स्थिति को रसखान ने अपने उक्त दोहों में वर्णित किया है और दिल्ली नगर को ‘मसान’ की संज्ञा दी है। अतः प्रमाणित होता है कि गदर

और मसान से भयभीत कवि दिल्ली दिल्ली के बादशाही वंश की शान-शौकत (ठसक) छोड़कर श्रीवन (मथुरा) संवत् 1613 में चले आए।

जन्म-स्थान एवं वंश

रसखान के जन्म-स्थान से दिल्ली और पिहानी (जिला हरदोई, उ०प्र०) को अधिक जोड़ा गया है। दिल्ली श्मशान-भूमि के रूप में देखकर रसखान मथुरा आ गये थे।² प्रेम-वाटिका के इस अंतःसाक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने दिल्ली को इनका जन्म-स्थान माना है। किन्तु दिल्ली के नामोल्लेख भर से उनका जन्म-स्थान दिल्ली नहीं माना जा सकता। कोई सबल प्रमाण इस पक्ष में नहीं है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भी रसखान को दिल्ली का रहने वाला बताया गया है। यह कहीं नहीं लिखा कि रसखान का जन्म भी दिल्ली में हुआ था। 'शिवसिंह सरोज', 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' आदि ग्रंथों से प्रमाणित होता है कि रसखान पिहानी (जिला हरदोई, उ०प्र०) में जन्में थे। ऐतिहासिक तथ्य यह भी है कि जिला हरदोई सैयदों की बस्ती है।

शेरशाह सूरी द्वारा पीछा करने पर हुमायूँ को कन्नौज के काजी सैयद अब्दुल गफूर ने आश्रय दिया था जिसके उपलक्ष्य में हुमायूँ ने उसे हरदोई जिले की तहसील शाहबाद में 5000 बीघा जंगल और पांच गांव दिए। पिहानी की बस्ती के मूल में यही गांव है।¹ सैयद अब्दुल गफूर पिहानी में रहने लगे थे और कदाचित् सैयद इब्राहिम 'रसखान' इन्हीं के वंश के थे और ये दिल्ली में रहने लगे थे। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने पिहानी को भ्रमवश पठानों की बस्ती कहा है क्योंकि सैयद पठान नहीं हो सकते और न ही पठान सैयद। सैयद और पठान मुसलमानों की चार प्रसिद्ध उपजातियों में से हैं।¹ इस तरह इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि 'रसखान' सैयद वंशीय थे और उनका जन्म पिहानी में हुआ था।

1. वाक्याते-दारुल-हुकूमत देहली, पृ० 311, 319

2. प्रेमवाटिका, 48

नाम, उपनाम तथा जाति

रसखान के नाम के सम्बन्ध में भी अनेक कपोल कल्पनाएं की गई हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य' में दो रसखान बताए हैं। एक सैयद इब्राहिम 'रसखान' और दूसरे 'सुजान-रसखान'। वस्तुतः यहां आचार्य जी ने भ्रमवश रसखान की रचना 'सुजान-रसखान' को ही दूसरा कवि मान लिया है। वस्तुतः 'रसखान' का असली नाम सैयद इब्राहिम था और 'रसखान' उनका उपनाम तथा खान उनकी परम्परागत उपाधि।³

कतिपय समीक्षकों ने भ्रमवश लिख दिया है कि 'रसखान' ने धर्म परिवर्तन कर लिया था। उनकी निम्नलिखित पंक्ति—

“प्रेम देव की छविहि लखि भये मियां रसखान।”

ने लोगों को इस उद्भावना के लिए प्रेरित किया है—“मियां (मुसलमान) सैयद इब्राहीम खान प्रेमदेव भगवान श्रीकृष्ण की छवि को देखकर 'रसखान' (हिन्दूभक्त) हो गए हैं। किन्तु इस प्रकार की कल्पनाएं—उद्भावनाएं प्रमाणहीन एवं निराधार हैं। वस्तुस्थिति यह है कि परम प्रेम (ईश्वर प्रेम) अथवा चरम भक्ति की अनुभूति के कारण साम्प्रदायिक धर्मों का उनके लिए कोई महत्व ही न रह गया। उनका प्रभु—प्रेम धर्मातीत है, धर्म से परे हैं। धर्म की संज्ञा में उसे बांधा नहीं जा सकता। वह धर्म—सम्प्रदाय के बंधनों से उन्मुक्त ऊर्ध्वगामी है। अतः यह न हिन्दू हैं और न मुसलमान मात्र ईश्वर—प्रेमी हैं, प्रभु—भक्त हैं।

1. डॉ० माजदा असद : रसखान काव्य तथा भक्ति भावना, पृ० 34—35
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृष्ठ 205।
3. डॉ० माजदा असद रसखान : काव्य तथा भक्ति भावना, पृ० 34—35।

बचपन, शिक्षा—दीक्षा—

रसखान के जन्म—स्थान की चर्चा करते हुए कहा गया कि, कदाचित् ये सैयद अब्दुल गफूर के वंशज थे जिन्हें सम्राट हुमायूं से जागीर मिली थी। अतः कहा जा सकता है कि इनका बचपन सुख—सुविधा में बीता। इनकी विधिवतः शिक्षा का उल्लेख तो नहीं मिलता, लेकिन 'श्रीमद्भागवत' के फ़ारसी अनुवाद सुनने संबंधी घटना को यदि सत्य मान लिया जाए तो कहा जा सकता है कि ये फ़ारसी के जानकार रहे होंगे। हिन्दी—संस्कृत का उन्हें यथेष्ट ज्ञान था।

उनका काव्य स्वतः प्रमाण है। कदाचित् पठन—पाठन की सुविधा इन्हें घर पर ही उपलब्ध कराई गई होगी। इनके काव्य की उन्मुक्त गति और विकुंठ भावधारा से यह प्रमाणित होता है कि इनका जीवन सहज रहा तथा, अभाव की पीड़ा इन्होंने नहीं सही।

अवसान—काल

रसखान की मृष्यु संबंधी तिथियों की समीक्षा उनकी जन्म—तिथि के साथ की जा चुकी है। संवत् 1590 वि० को उनकी जन्म तिथि मानने पर संवत् 1675—76 वि० के आस—पास उनकी मृष्यु तिथि मानी जा सकती है। संवत् 1672 वि० में भक्त—वत्सल भगवान् श्रीकृष्ण की माधुर्य भक्ति में आकण्ठ डूबे रसखान ने प्रभु के प्रति स्वमन का उल्लास व्यक्त करने हेतु 'प्रेम—वाटिका' की रचना की। उसके कुछ वर्षों बाद ही उन्होंने इहलीला का संवरण मथुरा—वृन्दावन में किया। उनकी समाधि महावन में आज भी विद्यमान है। अपने निवास और शरणागत प्रभु की भक्ति के संबंध में उन्होंने लिखा है—

प्रेम निकेतन श्रीवनहिं आइ गोवर्धन धाम।

लह्यौ सरन चित चाहि के जुगल—सरूप ललाम।।

1. रसखान : प्रेम वाटिका , दोहा , 62, 7.6, 1

समग्रतः अंतःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के विश्लेषण—विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सैयद इब्राहीम खां 'रसखान' का जन्म संवत् 1590 वि० में पिहानी (जिला हरदोई, उ०प्र०) में हुआ था। उनका बचपन ताल्लुकेदारी माहौल में सुख से बीता। वे बाल्यावस्था में ही पिहानी से दिल्ली पहुंचे और वहां राजतंत्र से जुड़ गए। उन्होंने किशोरावस्था और यौवन के कुछ वर्ष राजसी वैभव में बिताए। संवत् 1612—13 के आसपास दिल्ली में हुए भीषण राज—विप्लव और दुर्भिक्ष के कारण दिल्ली की दुरवस्था से संतुष्ट कवि—हृदय इब्राहीम ब्रजधाम पधारे। जहां उन्होंने संवत् 1634 से 1637 वि० के बीच रामचरितमानस का पाठ सुना और रसिक विहारी गोपिका

रमण ब्रजचन्द्र भगवान श्रीकृष्ण की माधुर्य-भक्ति में अनुरक्त हुए। यहीं यौवन की उद्दाम वासना और लौकिक प्रेम का उदात्तीकरण अलौकिक प्रेम में हुआ। उसी दिव्य-प्रेम के सहारे जीवन-यापन करते हुए संवत् 1675-76 के लगभग वे गोलोकवासी हुए।

ख: रसखान की रचनाओं का परिचायात्मक मुल्यांकन

कहने के लिए हम रसखान की रचनाओं को मूलतः तीन खण्डों में रखते हैं किन्तु इन तीन पुस्तकों सुजान रसखान, प्रेम वाटिका एवं दान लीला में प्रेम की एक ही धारा प्रवाहमान हैं, कवि की रचनाओं-सुजान-रसखान, दान लीला, प्रेमवाटिका, आदि पर दृष्टिपात करें तो विभिन्न भाव मुद्रियों- राधा कृष्ण की रूप माधुरी, मुस्कान, वंक विलोचन, मिलन- विछोह, नेत्रोपालम्भ, ब्रजप्रेम, मुरलीवादन, चीरहरण, सपत्नी भाव, रासलीला, फागलीला अलौकिक तत्त्व, प्रेम भक्ति आदि से प्रवाहित रसखान की काव्य-सरिता का पर्यवसान होता है उसी प्रेम सागर में जहाँ से उसका उत्स हुआ है।

जायसी ने पद्मावत में कहा है मानुस प्रेम भयऊ, वैकुण्ठी, नाहित काह द्वार भरि मूठी। सचमुच प्रेम वह पारस मणि है जो सांसारिक लोहे को सोने में बदल देता है। यही कारण है कि वर्ड्सवर्थ अपने काव्य में एक स्थल पर कहा है कि मैं पहले फूलों रूप रंगों को देखकर मंत्र-मुग्ध हो जाता था अब ये सौन्दर्य हमारे अन्तःकरण के विषय है इन्हें बिना देखे ही मुझे अपने हृदय में अपार आनन्द भी अनुभूति होती है।

रसखान के काव्य का उत्स प्रेम है। संस्कृति, दर्शन, आध्यात्म, सभी उसी में समाये हुए हैं। उनका प्रेम चिदाकाश तक व्याप्त है। उनका प्रेम ही अन्तः सौन्दर्य है। रसखान के प्रेमानुभूति के मूल में भक्ति है। वे प्रतीक्षातुर प्रेमी हैं। प्रेम ही उनकी यामा रूपों में प्रदर्शित करते हैं—

प्रेम हरी को स्वरूप हैं¹ त्यों हरि प्रेम स्वरूप।

एक होइ द्वै यों लसैं, ज्यों सूरज अवधूप।।

ज्ञान, ध्यान, विद्या मती, मत विश्वास, विवेक।

विना प्रेम सब धूर हैं, अगजग एक अनेक ।।

शास्त्रन् यदि पंडित भए कै मोलवी कुरान।

जुए प्रेम जान्यों नहीं, किहा कियों रसखान ।।
कमल तंतु सों छीन अरू, कठिन खड्ग की धार ।
अति सूधौ टेढ़ो बहुरि प्रेम पंथ अनिवार ।।
दंपति सुख अरू विषय रस पूजा निष्ठा ध्यान ।
इनतें परे बखानिए, शुद्ध प्रेम रसखान ।।
जेहि पाये वैकुंठ ऊरू, हरिहूँ की नहिं चाहि ।
सोइ अलौकिक, सुद्ध, सुभ, सरस, सुप्रेम कहाहि ।।

जिस प्रकार सूरज और उसके प्रकाश को अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार प्रेम और प्रभु को अलग नहीं किया जा सकता । ज्ञान, ध्यान, विद्या, मति, विभिन्न धार्मिक मत, विवेक सभी शास्त्र को पढ़कर पंडित हो गये तथा कुरान पढ़कर मौलवी बन गये किन्तु प्रेम के बिना इन्हें क्या मिला । प्रेम कमलतंतु से भी क्षीण है, वह तलवार की धार है बहुत सीधा है तथा कठिन भी है इस प्रेम पंथ का कोई विकल्प नहीं है ।

1. रसखान : प्रेम वाटिका से उद्धृत (रसखान रचनावली), दोहा , 24,25,13,6,19,28

प्रेम दंपति सुख से ऊपर हैं, विषय रस से किल हैं । पूजा, निष्ठा और ध्यान भी यहाँ तक नहीं पहुँचते जिसके पाने पर स्वर्ग एवं हरि भी विस्कृत हो जाते हैं वह अलौकिक शुद्ध, शुभ, सरस तत्व प्रेम हैं । वस्तुतः प्रेम भी इस व्याख्या में रसखान समस्त भाव जगत् समा जाता है जहाँ वाटिका में प्रेम का स्वरूप विवेचित है वहीं सुजान रसखान में प्रेम का व्यावहारिक जगत् उन्मुख हुआ है तथा दान लीला में प्रेम का दान मांगा गया है अतः हम उनके परिचयात्मक शिल्प को प्रस्तुत करते हैं ।

रसखान के भाव-सौन्दर्य का उत्स संस्कृति, दर्शन अथवा आध्यात्म नहीं, कृष्ण प्रेम है, उनका प्रेम चिदाकाश तक व्याप्त प्राणोन्मुख अंतः सौन्दर्य जैसा प्रतीत होता है । यह प्रेम इन्द्रियों की आंतर अनुभूति पर आधृत है । रसखान मध्ययुगीन भक्त कवि हैं । उनकी गहन प्रेमानुभूति ही भक्ति के मूल में है । भक्ति के शास्त्रीय पक्ष से वे दूर हैं । वे प्रतीक्षातुर प्रेमी हैं प्रेम ही उनकी

काव्य—यात्रा का मूलमंत्र हैं। प्रिय के आगमन की उत्सुकता, प्रतीक्षा, मिलन—विछोह, सम्मोह—विमोह आदि अन्यान्य भाव—रश्मियों से अलंकृत है रसखान की कविता। कवि की रचनाओं—सुजान—रसखान, दानलीला, प्रेमवाटिका आदि पर दृष्टिपात करें तो विभिन्न भाव—भूमियों—राधा—कृष्ण की रूप—माधुरी, मुस्कान, बंक विलोचन, मिलन—विछोह, नेत्रोपालम्भ, ब्रज—प्रेम, मुरली वादन, चीरहरण, सपत्नी भाव, रासलीला, फागलीला अलौकिकत्व, प्रेमाभक्ति आदि— से प्रवाहित रसखान की काव्य—सरिता का पर्यवसान होता है उसी प्रेम सागर में जहाँ उत्स हुआ है।

प्रेम विषयक संकल्पना :

रसखान का काव्य —कर्म सायास नहीं। काव्य उनकी प्रेमानुभूति का, भावोन्वाद—भाववेश का साधन मात्र है। उनकी प्रेमाभिव्यक्ति सहज और निर्मल हैं। वस्तुतः उनका प्रेम वासना—पंक से बेदाग, निर्बन्ध, उदात्त और अनिर्वचनीय हैं। वह चित्त का संस्कार करने वाला, प्रेमी मन के अहम् का विसर्जन करने वाला, स्त्री —पुरुष की सहज प्रणयाभिव्यक्तियों का उदात्तीकृत रूप है जिसे सात्विक प्रेम की संज्ञा दी जा सकती हैं उनका प्रेम पार्थिव आलम्बन के प्रति आश्रय की वासनामूलक भावाभिव्यंजना नहीं हैं। वह वासनामुक्त शुद्ध राग अथवा शुद्ध प्रीति है। वह सहज ऐन्द्रिय सुख का अतिक्रमण करने वाला हैं। अपार्थिक आलम्बन के प्रति पार्थिव आश्रय की प्रणयानुभूतियों की उदात्त अभिव्यक्ति ही रसखान के प्रेम का बीज हैं। वस्तुतः सगुण, साकार (ब्रह्म) आलम्बन के प्रति ही पार्थिव आश्रय का रति भाव सम्भव हैं, निराकार के प्रति नहीं। यही कारण है सूफी सन्तों और सगुण भक्त कवियों ने अपार्थिव, निर्गुण, निराकार ब्रह्म को सगुण, साकार मानकर ही उसके प्रति प्रेम निवेदन किया है और वास्तव में यह विशुद्ध प्रेम ही रहस्यमयी भक्ति हैं। यह परमात्मा के प्रति आत्मा का रति भाव हैं। अतः पार्थिव जैसा प्रतीत होते हुए अपार्थिव है।

रसखान इसी अपार्थिव प्रेम के सफल चितेरे हैं। उनके राधा—कृष्ण (आत्मा—परमात्मा) प्रेम के आलम्बन हैं। 'प्रेम वाटिका' के मालिन और माली हैं। यथा—

“प्रेम—अयनि श्री राधिका, प्रेम—बरन नंदनंद।

प्रेम-वाटिका के दोऊ, माली-मालिन-द्वन्द्व ।।¹

प्रेम ही वह परम तत्त्व हैं जिसकी अनुभूति पर अन्य सारे अनुभव निःशेष हो जाते हैं और जिसके परिज्ञान पर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता अर्थात् प्रेम, अनुभूति और बोध की चरम परिणति हैं, चरम सीमा हैं।

“जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं, जान्यो जात विसेस ।

सोइ प्रेम, जेहि जानिकै, रहि न जात कछु सेस ।।”²

लोक में प्रेम ही प्रभु हैं। प्रेम अगम, अनुपम, अमित और जलद-गम्भीर है। वेद, पुराण आदि सम्पूर्ण साम्प्रदायिक साहित्य प्रेम के मर्म का ही व्याख्याकार है। प्रेम, ज्ञान-कर्म आदि से श्रेष्ठ हैं क्योंकि प्रेम विहीन कर्म और ज्ञान निस्सार और थोथे हैं। रसखान सन्त कवियों की भांति अपने प्रेम-प्रभु की विरोधमूलक उक्तियों से रेखांकित करते हैं,

1. प्रेम वाटिका दोहा 1
2. प्रेम वाटिका दोहा 18

यथा—

‘कमलतंतु सों छीन अरु, कठिन खड्ग की धार ।

अति सूधो टेढ़ो बहुरि, प्रेमपंथ अनिवार ।।”¹

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप ।

एक होई द्वै यों लसें, ज्यों सूरज अरुधूप ।।²

श्रुति, पुरान, आगम, स्मृतिहि प्रेम सबहिं को सार । रसखान प्रेम को सांसारिक आकर्षणों से मुक्त मानते हैं। अपार्थिव प्रेम गुण, यौवन, रूप, धन, ऐश्वर्य, आदि के प्रति निष्काम होता है। वह प्रभु की भांति सर्व-व्यापी तत्त्व हैं। जहाँ प्रेम है, वहाँ प्रभु हैं। प्रभु प्रेमाधीन है।

“बिनु गुन जोवन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जाति ।³

शुद्ध कामना तें रहित, प्रेम सफल-रसखानि ।।”

“हरि के सब आधीन पै, हरी प्रेम आधीन ।”

रसखान प्रेम में द्वैत नहीं मानते। द्वैत—भाव के साथ सच्चा प्रेम नहीं हो सकता। ईश्वर और प्रेम, कृष्ण और राधा, परमात्मा और आत्मा में द्वैत की स्थिति असंकल्पित हैं। इसीलिए प्रेम परम मुक्ति हैं। प्रेम स्वयं ही अंकुर हैं, स्वयं ही भूमि, स्वयं ही सिंचन और प्रस्फुटन तथा फल हैं। सृष्टि के सृजन का मूल कारण हैं प्रेम। प्रेम ही कारण हैं, कार्य हैं, कर्ता कर्म और किया स्वयं ही प्रेम हैं। अलौकिक प्रेम प्रभूरूप हैं, इसीलिए उसकी स्थिति वैविध्यपूर्ण, अलौकिक, तथा तीत, गुणातीत और अनिर्वचनीय तथा विलक्षण हैं। रसखान ऐसे ही प्रेम—प्रभु के रसिक और भक्त हैं। इस प्रेम की फांस बड़ी विदग्धकारी हैं। इस शुल से जो बिध—मरा वही सच्चे अर्थों में जीवित उठा।

“प्रेम प्रेम सब कोउ कहैं, कठिन प्रेम की फांस।²

प्रेम फांस में फँसि मरै, सोई जिए सदाहि।”

1. प्रेम वाटिका दोहा ?
2. प्रेम वाटिका दोहा ?
3. प्रेम वाटिका : दोहा — 15
4. वही : दोहा — 2

भक्ति भाव

यद्यपि रसखान बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित और आचार्य विट्ठनाथ के शिष्य थे तथापि उनकी भक्ति को किसी सम्प्रदाय विशेष से जोड़ना अथवा भक्ति की किसी विशिष्ट शास्त्रीय पद्धति का अनुगामी मानना उचित नहीं। क्योंकि रसखान मूलतः प्रेम—दीवाने हैं। प्रेम ही उनके इस लोक और परलोक का लक्ष्य हैं। वे ज्ञान, कर्म, उपासना—पूजा से भी परे मानते हैं प्रेम को।

“ज्ञान, कर्म, अरु उपासना, सब अहमिति को मूल।¹

दृढ़ निश्चय नहिं होत—बिन, किए प्रेम अनुकूल।।

“ दंपति सुख अरु विषयरस, पूजा, निष्ठा, ध्यान।

इन तें परे वखानिए, शुद्ध प्रेम रसखान ।।”²

वैष्णव भक्ति-पद्धति में नवधा-भक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। कहना न होगा कि नवधा-भक्ति के सोपानों —श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पद-सेवा, अर्चना, बन्दना, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—का निर्वाह रसखान काव्य में नहीं हुआ है। हिन्दी में महाकवि सूर ने भक्ति में माधुर्य-भाव का समावेश कर हिन्दी कवियों का मार्ग प्रशस्त किया है रसखान उसी के अनुगामी हैं वे इसी माधुर्य भाव के भक्त माने जा सकते हैं। उनकी मधुरा भक्ति या प्रेमा भक्ति प्रेम और माधुर्य कर रश्मियों में आलोकित हैं। माधुर्य भक्ति के तीन प्रमुख अंग—रूप वर्णन, विरह-वर्णन तथा आत्मसमर्पण—रसखान काव्य में पाये जाते हैं।

राधा-कृष्ण की रूप-राशि को उन्होंने अत्यन्त सफलतापूर्वक रेखांकित किया है। कृष्ण की अन्यान्य मनोहरी छबियाँ 'सुजान रसखान' में अंकित हैं। बांसुरी की मधुर तान छेड़ते कृष्ण, कटाक्ष-पात करते कृष्ण, अलबेली वेश-भुषा धारण किये कृष्ण, काजल लगाये पैजनियां पहने बाल-कृष्ण आदि अनेक

1. प्रेम वाटिका – दोहा 12
2. प्रेम वाटि – दोहा 18

रूपाकृतियाँ रसखान ने अपने काव्य में समेटी हैं। कृष्ण का श्रृंगार मां जसोदा ने किया है। उस रूप पर गोपियाँ बलिहारी हैं और जसोदा के भाग्य की सराहना करती हैं।

“आजु गई हुती भोरही हों रसखानि रई कहि नन्द के भोनहिं।

बाको जियो जुग लाख करोर जसोमति को सुख जात कछौ नहिं।।

वेल लगाइ लगाइ कै अंजन भौंह बनाइ बनाइ डिठौनहिं।

डालि हमेलनि हार निहारत बारत ज्यों चुचकारत छौनहिं।।”¹

युवा कृष्ण का रूप ब्रज बनिताओं को विभोर करने वाला है। उनकी विलक्षण रूप-राशि का देखकर मुग्ध न हो, लोक-लाज का परित्याग कर उनकी दीवानी न बन जाएं ऐसी कौन स्त्री ब्रज में है? उस सौंदर्य पर दृष्टि ठहरती नहीं, वह प्राणों का बीधने वाला सौंदर्य है। यथा—

“लोक की लाज तजी तबहीं जब देखो सखी ब्रजचन्द सलोनों।²

खंजन मीन सरोजन की छवि गंजन नैन लला दिनहोनो।।,

रसखानि निहारि सकेंजु सम्हारि कै कोतिय है वह रूप सुठोनो।

भौंह कमान सौं (जोहन) का सब बेधत प्राननि नन्द का छोनो ।।

कृष्ण-सौन्दर्य का प्रभाव स्थायी और अमिट है। रूप के उस सम्मोहन से मुक्ति कहाँ? उन्माद छा जाता है। कुछ भी होश नहीं रहता।

“भौह भरी सुथरी अतिसै अधरानि रंगी रंग रातौ ।³

कुण्डल लोल कपोल महाछबि कुजनि तें निकस्पो मुसिकातौ ।।

रसखानि लखै मग छूटि गयो डग भूलि गई तन की सुधि सातौ ।

फूटि गयो दधि का सिर भाजन टूटिगो नैननि लाज का नातौ ।।

इसी तरह राधा के सौन्दर्य की अनेक छवियों उसकी भुक्तियों, नेत्र, चित, वन, शरीर का सुडौल गठन, देहयष्टि, मस्तक पर टीका आदि का मनोहर शब्दावली में यथास्थान वर्णन करने में रसखान पूर्णतः सिद्धहस्त हैं।

“श्रीपुख्यों न बखान सर्क वृषभान सुता जू को रूप उजारौ ।⁴

हे रसखान तू ज्ञान संभान तरैनि निहार जू रीझन हारौ ।।

चारु सिंदूर को लाल रसाल लसै ब्रज का भाल टिकारौ ।

1. सुजान रसखान सवैया	—	10
2. वही		13
3. वही		22
4. वही		260

गोद में मानौ विराजत है घनस्याम के सारे को सारे कौ सारौ ।।

माधुर्य भक्ति में विरह का महत्वपूर्ण स्थान हैं। रसखान ने विरह का मर्म-स्पर्शी वर्णन किया है। बसंत के आगमन पर भ्रमरों की अनुगूँज, कोयल की कूक सुनाई देने लगी है। प्रकृति पुष्पित होने लगी है। चारों ओर मादकता का संचार है किन्तु विरहणी के कृष्ण नहीं आये। कितने कठोर हैं?

“फूलत फूल सबै बन बागन बोलत भीर बसंत के आवत ।¹

कोयल की किलकार सुन सब कंत बिदेसन तें सब आवत ।।

ऐसे कठोर महा रसखान जु ने कहु मोरी यें पार न पावत ।

हूक सी सालत है हिय में जब बैनि कोयल कूक सुनावत ।।

कृष्ण—बिछोह में मुरझाई विरहिणी की देह—बल्लरी, उसका निस्तेज यौवन, उसका कांतिहीन मुख, कृष्ण—आगमन के सन्देश पर इस प्रकार प्रफुल्लित, प्रदीप्त और विकसित हो उठा हैं, जिस प्रकार दीपक की लौ (बत्ती) उकसा देने पर सर्वत्र स्वर्णिम प्रकाश फैल जाता हैं।

“रसखान सुनाह वियोग के ताप मलीन महा दुति देह तिया की।²

पंकज सौ मुख गौ मुरझाय लगी लपटै बरै स्वांस हिया की।।

ऐसे में आवत कान्ह सुने हुलसै सुतनी तरकी अंगिया की।

यों जग जोति उठी तन की उकसाय देई मनौ बाती दिया की।।”

बिरह—वर्णन में रसखान ने कभी—कभी रीतिकालीन ऊहात्मक पद्धति का भी सहारा लिया है।

“बिरहा की जु आँच लगी तन में तब जाय परी जमुना जल में।³

बिरहानल तें जल सूखि गयों मछली बहींछौड़ि गई तल में।।

जब रेत फटी अरू पताल गई तब शेष जर्खौ धरती—तल में।

रसखान तब इहि आंच मिटै जब आय कै स्याम लगै गल में।।

1. सुजान रसखान सवैया 225

2. “” “” “” 100

3. “” “” “” 226

समग्रतः कहा जा सकता हैं कि रसखान काव्य में विरह—वर्णन सहज,

स्वाभाविक और मार्मिक हैं। यदा कदा अतिशयोक्तिपूर्ण कथन भी हैं। वस्तुतः यह युग—युग से प्रियतम प्रभु से बिछुड़ी प्रीति—दुग्ध प्रणयाकुल आत्मा—रूप विरहिणी की व्यथा कथा है। यह व्यथा उनके पदों में हृदय के सम्पूर्ण आवेग से उच्छलित हैं। कवि अपने आराध्य का जन्म—जन्म से दास है। यही कारण हैं कि कवि की रूपा सवित, प्रेमासवित और तज्जन्य विरह की चरम परिणति उसके आत्मसर्पण में होती। प्रभु अनन्य हैं और कवि उनका अनन्य भक्त। उसका सारा

जीवन, जन्म—जन्मांतर का जीवन कृष्णमय हो। जड़—जंगम किसी भी रूप या योनि में उसे आराध्य का सहवास, साहचर्य मिले यहीं उसकी मनोकामना हैं और यही प्रेम हैं और यही भक्ति।

“मानुष हों तो वहीं रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।¹

जो पसु हों तो कहा बसे मेरो चरों नित नन्द की धेनु भैझारन॥

पाहन हों तो वहीं गिरि को जो धर्यों कर छव पुंरदर धारन।

जा खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी—कूल—कदम्ब की डारन॥

अपने अनन्य भक्ति—भाव के कारण ही रसखान कृष्ण—संरक्षण में स्वयं की पूर्ण निरापद अथवा तुलसी की शब्दावली में परम विश्राम की स्थिति में (पायी परम विश्राम राम समान हित नहीं कहूं।) पाते हैं।

“कहा करै रसखानि को कोऊ चुगल लवार।” अथवा ²

“काहे को सोच करै रसखानि, कहि करिहै रविनंद विचारों।”

जो परम दयालु, कृपाल भक्त वत्सल प्रभु कृष्ण सहायक है। ताखन जाखन राखियें माखन—चाखन हारो सौ राखन कारो।” रसखान भी अन्य कृष्ण भक्त कवियों की सिद्धान्ततः कृष्ण के निराकार निर्गुण रूप को स्वीकारते हैं किन्तु व्यवहारतः वे सगुणोपासक हैं।

1. सुजान रसखान सवैया 11

2. सुजान रसखान — दोहा 264

भक्ति के लिए आलम्बन अनिवार्य है। सूर के शब्दों में—

“रूप रेख गुन जाति जूगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।¹

सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै।।”

चूँकि निराकार निरालम्ब आराध्य के प्रति मन एकाग्र नहीं हो पाता इसीलिए सूर की भांति रसखान भी प्रभु के सगुण रूप के ही परम भक्त है। जो इस सचराचर सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है, जो महान, विराट और निरंजन हैं, वह भी अपने सगुण—साकार—रूप में साधारण बालकों की भांति नंद जी के घर में मिट्टी ला रहा हैं। कैसा विलक्षण प्रभु हैं।

“कहा कहूं आली कछु कहती बनै न दसा,²

नंदजी के अँगना में कौतुक एक देख्यौ मैं।
जगत के ठाटी महापुरुष विराटी जो निरंजन
निराटी ताहि माटी खात देखो मैं॥

कृष्ण के सगुण भक्त—कवियों ने उन्हें अन्यान्य विशिष्टताओं से रेखांकित किया हैं। ये महत्वपूर्ण विशिष्टताएं ही उनकी लीलाओं (बाल लीला, रासलीला फागलीला, कुंजलीला आदि) के रूप में गृहीत है।

रसखान ने बाललीला अर्थात् कृष्ण के बचपन की अन्यान्य झांकियाँ प्रस्तुत की हैं माटी खाना, धूल—धूसरित होना, चुराकर माखन खाना, विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करना, अन्यान्य प्रकार से शरारतें करना, गोपियों की तरह—तरह से सताना तथा नंद—जसोदा का प्रेम प्रदर्शित करना आदि से सम्बद्ध किया व्यापार बाललीला के अन्तर्गत वर्णित हैं। यथा—

“धूरि भरे अति सोभित स्यामजू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।³
खेलत खात फिरै अंगना पग पैजनी बाजति पीरि कछोटी॥

- | | | |
|----|--|------------------|
| 1. | सं० विद्या निवास मिश्र : रसखान रचनावली पृ० | 136 |
| 2. | वही | 136 (में उद्धृत) |
| 3. | सुजान रसखन सवैया | 18 |

वा छवि को रसखान विलोकत बारत काम कला—निधि कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि सों लैगयौ माखन रोटी॥”

कृष्ण की किशोरावस्था से सम्बद्ध रामलीला के दृश्य बड़ी सफलतापूर्वक रसखान ने प्रस्तुत किए हैं।

“आज भटू मुरली बट के तट नन्द के साँवरे रास रच्यौं री।¹
नैननि सैननि बैननि सों नहिं कोऊ मनोहर भाव बच्यौ री॥
जद्यपि राखन कौं कुल—कानि सबै ब्रज—बालन प्रान पच्यौ री।
तद्यपि वा रसखानि के हाथ विकानी को अन्त लच्यौं री॥”

फाग—लीला में राधा—कृष्ण और गोपियों के फाग खेलने के सुन्दर चित्र रसखान ने उतारे हैं। फागुन लगते ही ब्रजमंडल में धूम सज गयी हैं। ऐसी कौन नवयुवती हैं ब्रज में जो कृष्णाकर्षण से विवश न हुई हो? सभी लोकलाज त्याग कर कृष्ण—दीवानी हो रही हैं और सुबह से शाम तक कृष्ण के साथ फाग खेलने में तल्लीन हो रहीं हैं।

“फागुन लाग्यौ सखी जब तें तब तें ब्रजमंडल धूम मच्यौ है।²
नारि नवेली बचै नहिं एक विसेख मरै सबै प्रेम अंच्यौ हैं।।
सांझ सकारे बही रसखानि सुरंग गुलालन खेल मच्यौ हैं।
को सजनी निलजी न भई अरु कौन भटूजिंहिं मान बच्यौ।।”

रसखान ने कृष्ण की कुंज लीला, दानलीला, चीरहरण आदि का भी मनोहारी वर्णन किया है। कुंज लीला की एक छवि दृष्टव्य हैं—

“रंग भर्यो मुसकात लला निकस्यौ कल कुंजन तें सुखदाई।³
में तवहीं निकसी धर तें तकि नैन बिसाल की चोट चलाई।।
घूमि गिरी रसखानि तवै हरिनी जिमि बान ललजै गिरिनाई।
टूटि गयौ घर का सब बन्धन टुटिगौ आरज—लाज बड़ाई।।

1. सुजान रसखान सवैया 62
2. सुजान रसखान सवैया 125
3. सुजान रसखान सवैया 41

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि रसखान व्यवहारतः कृष्ण के सगुण स्वरूप के ही चहेते थे किन्तु कृष्ण के निर्गुण, निराकार रूप को मान्यता भी वे बराबर देते रहें हैं। यही कारण है कि उनके अलौकिकत्व की ओर उनकी दृष्टि बराबर रही हैं। उनके कृष्ण परम ब्रह्म हैं। वे चतुरानन, शिव आदि महादेवों के बंदित महाप्रभु हैं फिर भी गोपियों के संकेतों पर नाचते हैं।

यथा—

“संकर से सुर जाहि जपैं, चतुरानन ध्यानन धर्म बढावै।¹
शेष, गनेस, महेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावै।

जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अभेद सुवेद बतावै ।।

ताहिं अहीर की छोहरियां छछियां भरि छाछ पर नाच नचावैं ।।”

सौन्दर्य—विधान

रसखान स्वच्छन्द भावधारा के कवि हैं। उनके काव्य में आवेग की बराबर सृष्टि हुई हैं। भावावेश का सहज उच्छालन, गहरी विरहानुभूति आत्माभिव्यंजक वकोक्तियां आदि अन्यान्य ऐसे महत्वपूर्ण तत्व उनकी कविता में हैं जो उन्हें सहज स्वच्छंद और भावुक कवि प्रमाणित करते हैं। उनकी कविता आत्मानुभूति का निरायास प्रतिफलन हैं। शास्त्रीय नियमों से अपरिचित रसखान ने अपने अनुभूति विधान के लिए स्वानुकूल मार्ग बनाया है। उनके विशुद्ध प्रेम की अनुभूति प्रवण किन्तु अनावृत्ति अभिव्यक्ति ‘सुजान रसखान’ में हुई हैं। भावों और वर्णनगत चेष्टाओं में वे प्रेम के औदात्य को कभी नष्ट नहीं होने देते भाव अथवा शिल्पगत कृत्रिमता से उनके काव्य का दूर का संबंध भी नहीं हैं। प्रेम और रति कामना सूचक हाव—भाव मुद्राओं और चेष्टाओं की तन्मयतापूर्ण अकृत्रिम और सजीव अभिव्यक्ति ने उनके काव्य को अत्यन्त सर्मस्पर्शी बना दिया है:

1. सुजान रसखान सवैया 32

रसखान सौन्दर्य के सफल चितेरे है। उनका सौन्दर्य चित्रण स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य हैं। उनका काव्य आंतर सादृश्य एवं अनुभूतिमय आत्म—स्पर्श का काव्य हैं। उनकी अनुभूति अभिधा और कभी—कभी लक्षणा के सहारे भाव—आवतों द्वारा संचारित होती हैं यद्यपि सौन्दर्य शास्त्रियों ने सौन्दर्य को गोपनशील माना हैं किन्तु रसखान और घनानन्द का काव्य इसका अपवाद हैं। यहाँ कुछ भी गोपन नहीं सौन्दर्य विधायिनी कल्पनाओं युक्त भाव—चित्र इन कवियों की रचनाओं में बिखरे पड़े है। रसखान का काव्य तो स्वतः स्फूर्त काव्य है। उनकी अनुभूतियां अनिर्वचनीय आनन्द का उद्रेक करती हैं। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने सौन्दर्य को प्रकाम्य माना हैं। उनके अनुसार काम, प्रेम तथा सौन्दर्य परस्पर पूरक हैं। आंसू में ऐसा ही एक रूपक हैं।

‘कामना सिंधु लहरता छवि पूरनिमा—सी छायी।’

रत्नाकर बनी निखरती मेरे शशि की परछाई।।’ (आंसु—प्रसाद)

रसखान के काव्य में सौन्दर्य काम प्रेम और माधुर्य परस्पर पूरक बनकर आये हैं। कृष्ण—सौन्दर्य कामना को जन्म देता है। उस सौन्दर्य का सम्मोहन ही गोपियों के रति—भाव का बीज हैं। यही रति—भाव विशुद्ध प्रेम और माधुर्य में परिवर्तित हो जाता है। और माधुर्य—प्रेम ही उनका जीवन—सर्वस्व है। रसखान की सौन्दर्य—चेतना स्थूल देह एवं मांसलता से ऊर्ध्वोन्मुख होकर आध्यात्म में प्रभु—प्रेम में पर्यवसित हो जाती हैं। उनके रसखानि (कृष्ण) का सहज सौन्दर्य उसकी बांकी चितवन और तीक्ष्ण कटाक्ष के साथ ही उसकी मंद—मंद मुस्कराहट का सम्मोहन प्रेम—दग्ध ही नहीं करता वरन् विछोह—विदग्ध मन के अंतःताप को शमित भी करता है। अंतरात्मा में रस की सृष्टि करता हैं और प्राणों को मधुर प्रेम के आकर्षण से भर देता हैं।

‘‘गोरज विराजै भाल लहलही वन माल आगे गैया पाछै ग्वाल गावें मृदुतान री।’

जैसी धुनि मधुर मधुर बांसुरी की तैसी बंक चितवनि मंद—मंद मुसकान री।।

1. जयशंकर प्रसाद : ऑसू।

कदम विटप के निकट तटनी के तट अटा चढ़ि देखि पीत पट फहरान री।

रस बरसावै तन तपन बुझावै नैन प्राननि निझावै यह आवै रसखानि री।।

सौन्दर्य आभ्यान्तरिक (मन की) भी होता हैं और बाह्य (आंगिक) भी रसखान के आभ्यान्तरिक सौन्दर्य के अंतर्गत उनका प्रगाढ़ कृष्ण—प्रेम और उदास भावानुभूति हैं। वे सच्चे हृदय से आराध्य के प्रति समर्पित हैं। वे अन्यान्य योनियों में कृष्ण साग्निध्य के अभिलाषी है।

‘‘मानुष हों तो वही रसखान बसों ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।’’²

‘‘जो रसना रस ना बिलसैं तेहि देह सदा निज नाम उचारन।’’

‘खास निवास मिलै जुपै तौ वहीं कालिंदी—कूल—कदम्ब की डारन।’

रसखान का आंगिक (रूप) सौन्दर्य-विधान वैविध्यपूर्ण हैं। उन्होंने राध-कृष्ण की देह को देव-मंदिर मानकर विविध अंगों-प्रत्यंगों का रूपांकन किया हैं। परन्तु उनका रूप-वर्णन अंशतः रीतिकालीन नव-शिख-परम्परा से भी कहीं-कहीं प्रभावित प्रतीत होता हैं ; यथा-

“बागन काहे जाओ पिया घर बैठे बाग लगाय दिखाऊँ।³
 एड़ी अनार सी मौर रही बहियाँ दोउ चंपे डार नवाऊँ।।
 छातिन में रस के निबुआ अरु घूँघट खोल के दाख चखाऊँ।
 टांगन के रसके चसके रति फूलनि की रसखानि लुटाऊँ।।

उक्त चित्र विरल हैं। वस्तुतः रसखान का रूप-बोध असाधारण हैं। उन्होंने कृष्ण-रूप का अत्यंत सुरुचिपूर्ण वर्णन किया है। कवि ने कृष्ण की गौर-स्यापल कांति मुखमंडल नेत्र, भुक्कुटि-विलास, कपोल आदि और राधा की देह-यष्टि सुगठित अंगलता, वक्ष आदि से युक्त मानव-कलेवर के भव्य-सौन्दर्य की चित्रित किया हैं। कृष्ण-सौन्दर्य लोकोत्तर (दिव्य) सौन्दर्य की बड़े मनोयोग को रूपांकित किया है। कृष्ण-सौन्दर्य लोकोत्तर हैं। वे साक्षात् प्रभु हैं उनके इस सौन्दर्य का दर्शन पूर्व-संचित पुण्यों से ही होता हैं।

1. सुजान रसखान —	264
2. वही —	01
3. वही —	16

“मोतिन माल बनी लट के लटकी लटवा लट घूँघरवारी।।
 अंग ही अंग जराव लसै, अरु सीस लसै पगिया जरतारी।।
 पूरव पून्यनि ते रसखानि, सु मोहिनी मूरति आनि निहारी।
 चार्यो दिसानि की लै छवि, आनिकै झौके झरोखे में बाँके बिहारी।।”

रसखान की प्रिय रंग-स्थली कृष्ण का बाल-काल हैं। उन्होंने उसे भाव सौकुमार्यवश वर्णन किया हैं कृष्ण शैशव की कमनीय क्रांति ने उन्हें अत्यधिक रस-सिक्त किया है। अतः कृष्ण-जीवन के स्वर्णोदय प्रभात, उनके बाल-रूप, बाल-मनोविज्ञान, उनकी भावाकुल मृदुलता, मधुरिमा के चतुर्दिक चित्र हैं रसखान की कविता में। कृष्ण की विश्वमोहिनी बाल-छवि उनका धूल धूसरित तन, उनका औत्सुक्य-प्रमुदित सहज सरलपन, उनके निराले विस्मय-विमुग्धकारी नयन, उनकी सुन्दर चोटी रसखान को बेहद प्रिय है।

“धूलि भरे अति सोभित स्याम जू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।²
खेलत खात फिरै अंगना, पग पैजनि बाजत पीरि कछौटी।।
वा छवि को रसखानि विलोकत, वारत काम कला निधि कोटी।
काग के भागे बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयौं माखन रोटी।।

1. सुजान रसखान सवैया 273
2. सुजान रसखान सवैया 18

कवि को शैशव के साथ ही कृष्ण का तारुण्य और किशोरावस्था भी प्रिय हैं। प्रेम-रस संसिक्त यौवन, स्वच्छद बिहा, आवर्जनाओं का अधिकरण, मधुमय ऋतु-प्रभाव, यौवन की मादकता उद्दाम आवेग, मद विहवल उन्माद और उल्लास तथा प्रेयसियों से छेड़-छाड़ की सुगढ़ तस्वीरें भी रसखान-काव्य में यत्र-तंत्र बिखरी पड़ी हैं। वस्तुतः तारुण्य बोध कवि के कामाध्यात्म का केन्द्र-बन्दु है। यही कारण है कि गोपियाँ कृष्ण-यौवन की लालसा में बेसुध रहती हैं। गोपियों का आकर्षण नैसर्गिक है और वह दैहिक तथा आध्यात्मिक क्षुधा तृधा की तुष्टि चाहता है। रसखान ने न केवल कृष्ण वरन् राधा के यौवन-लावण्य, उसके आंगिक रूप-सौन्दर्य तथा दोनों के परस्पर स्पर्श आलिंगन के अनेक चित्र उतारे हैं। कृष्ण की बक्रदृष्टिगत चेष्टाओं, उनके कटाक्षपात का, बांकी चाल का मनोहारी दृश्य कवि ने उपस्थित किया है, तथा-

“वह घेरनि धेनु अबेर सबेरनि फेरनि लाल लकुटनि की।¹
 वह तीछन चच्छु कटाछन की छवि मोरनि भौंह भुकुटनि की।।
 वह लाल की चाल चुभी चित में रसखानि संगीत उघुटनि की।
 वह पीत पटक्कनि की चटकानि लिटक्कनि मौर मुकुटनि की।।”

कवि ने कृष्ण-सौन्दर्य के साथ ही राधा के शारीरिक सौष्ठव, उसके नेत्र कपोल, मुख, अधर, चिबुक, नासिका आदि का वर्णन प्रायः परस्परित उपमानों से ही किया है। राधा की श्री-शोभा, उसकी हाव-भाव-हेला, उसका निखरता हुआ तारुण्य और कामोदीप्त हास-विलास का वर्णन भी रसखान ने पूर्ण मनोयोग से किया है। समग्रतः राधा का सौन्दर्य किसी तरह भी कवि का कुत्सित सौन्दर्य-बोध नहीं है। उसका लावण्य ललित लोल उमंग की तरह भावोत्तेजन और रससिक्त करने वाला है।

“अति लाल गुलालहु फूलतै फूल अली, अलि कुंतल राजत हैं।²
 मुकता के कदंव के अंब के मौर सुने सुर कोकिल लाजत हैं।।

1. सुजान रसखान सवैया 140
2. सुजान रसखान सवैया 238

भखतूल समान के गुंज छरानन किंसकु की छवि छाजत हैं।

यह आन प्यारी जूकी रसखानि बसंत सी आजु बिराजत है।।

इसी सन्दर्भ में राधा-कृष्ण की प्रेम-केलि, उनके आर्लिगन-स्पर्श-बोध युक्त निम्न पंक्तियां भी दृष्टव्य हैं-

“लााड़िली काल लसैं लखिये अलि पूंजन कूंजन में छवि गाढ़ी।¹

ऊजरी ज्यों बिजुरी सी जुरी चहुँ गूंजरी केलि कला सम काढ़ी।।

त्यों रसखान न जानि परै सुखमा तिहुँ लोकनि की अति बाढ़ी।

लालन बाल लिये बिहरैं छहरै सिर मोरपखी ठग ठाढ़ी।।”

कुल मिलाकर रसखान का कृष्ण-बाल-बोध, किशोर-किशोरी का तारुण्य बोध तद्विषयक सौन्दर्य-चित्रण अत्यंत रमणीय, भावमय एवं श्लाघ्य हैं।

रसखान रस सिद्धि कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में रस-सृष्टि तो की हैं। किन्तु रस-तत्त्व पर कोई चिन्तन-मनन नहीं किया। इन्द्रियों द्वारा अनुभूत सौन्दर्य में रस सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले रसखान रस के शास्त्रीय पक्ष से अनभिज्ञ हैं। उनके काव्य में श्रृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है। वस्तुतः रसानुभूति के मूल में सौन्दर्यनूभूति होती है। रसखान काव्य सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से उसी तरह महत्वपूर्ण है जिस प्रकार से घनानंद काव्य किन्तु सौन्दर्य और उसकी अनुभूति के अन्यान्य पहलूओं को रेखांकित करने वाले रसखान काव्य को रस (श्रृंगार) के शास्त्रीय पहलूओं की दृष्टि से भी विश्लेषित किया जा सकता है।

श्रृंगार के दोनों पक्षों (संयोग एवं वियोग) के अन्यान्य आयामों-रूप- सौन्दर्य, प्रेम-व्यापार अथवा सघन प्रेम प्रसंग तथा विप्रलम्भ श्रृंगार के चारों सोपान (पूर्वराग, मान, करुणा, प्रवास) आदि-का सुन्दर प्रस्तुतीकरण रसखान-काव्य में हुआ है। यथा-

“जाको लसै मुख चंद समान कमानी सौं भौंह गुमान हरै।²

1. सुजान रसखान सवैया 141

2. सुजान रसखान सवैया 218

दीरग नैन सरोजन तै मूग खंजन मीन की पांत डरै।

रसखान उरोज निहारत ही मुनि कौन समाधि न जाहि टरै।”

रसखान ने सौन्दर्य वर्णन की दृष्टि से नायक और नायिका दोनों की सम्मोहक छवियों को रेखांकित किया हैं। नटवर कृष्ण की सधन घुंघराली केश-राशि, गोचारण के समय की विमोहक कांति, मधुर वाणी, दृष्टि भंगिमा, चेष्टागत सौन्दर्य, वाके नयन, त्रिभंगी शरीर-मुद्रा वाणीगत माधुर्य आदि वर्णन के साथ ही कृष्ण सौन्दर्य के समग्र प्रभाव का रेखांकन भी कवि ने बड़े मनोयोग से किया हैं। कृष्ण के आंगिक सौन्दर्य का विलक्षण प्रभाव दृष्टव्य हैं।

“नैननि बंक विसाल के बाननि झेलि सकै अरु कौन नबेली।¹

बेधत है हिय तीछन कोर सुमार गिरी तिय कोंटिक हेली।।

छोड़ैं नहीं छिनहूँ रसखानि सु लागी फिरै द्रुम से जनु बेली।

रीरि परी छवि की ब्रजमंडल कुंडल गंडनि कुंतल केली।।”

राधा की देहयष्टि उसके नेत्रों उसके शारीरिक गठन, उसकी चिबुक आदि के सौन्दर्य की चर्चा रसखान ने बराबर की है। शरीर पर चंदन का लेप किये हुए राधा की शोभा अतुलनीय हैं यथा—

“तन चन्द खौर के बैटी भटू रही आजु सुधा की सुता मनसी।²

मनौ इन्दु बधून लजावन की सूब भांतनि काढ़ि धरी गन-सी।।

रसखानि विराजति चौकी कुचौ बिच उत्तमताहि जरी तन सी।

दमकै दूग-वान के धायन कौं गिरि संत के संधि के जोवन सी।।”

राधा और गोपी-कृष्ण के प्रेम व्यापार का विस्तार से वर्णन रसखान काव्य में हुआ हैं। रसिक शिरोमणि का अनन्त लीला-व्यापार, उनके गहन प्रेम का परिचायक हैं। उनका कुंजों में, वृक्षों के नीचे रास्-करना, फाग खेलना आदि प्रेम कीड़ाएं संयोग श्रृंगार को पुष्ट एवं परिपक्व करने वाली है।

1. सुजान रसखान सवैया 40
2. सुजान रसखान सवैया 142

“अधर लगाइ रस प्याइ बाँसुरी बजाइ; मेरी नाम गाइ हाइ जादू कियौ मन मै।
 रस रास सरस रंगीलो रसखान प्रानि, जान और जुगुति विलास कियों तन में।”
 इसी प्रकार फाग वर्णन में संयोग के अभिनव चित्र दर्शनीय हैं।
 “आवत लाल गुलाल लियैं मगसूने मिली इक नार नवीनी।’
 त्यों रसखानि लगाइ हियें भटू मौज कियौ मन माहिं अधीनी।।
 सारी फटी सुकुमानि हटी अंगिया दरकी सरकी रस भीनी।
 गाल गुलाल लगाइ कै अंक रिझाय बिदा करि दीनी।।”

इस तरह रसखान—काव्य में श्रृंगार के सम्भोग पक्ष के रूप—चित्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। रसखान आचार्य कवि नहीं, भावुक कवि हैं। अतः उनके काव्य में नायिका भेद—वर्णन का निर्वाह प्रायः नहीं हुआ है किन्तु प्रयास करने से कुछ उद्धरण खोजे जा सकते हैं। ‘आगत पतिका’ की मुरझाई देह बल्लरी प्रियतम आगमन के सुसंवाद से प्रमुदित गई हैं।

“नाह—वियोग बढ़्यौ रसखानि मलीन महा दुति देहतिया की।²
 पंकज सौ मुख गौ मुरझाय लगीं लपटें बरि स्वांस हिया की।।
 ऐसे में आवत कान्ह सुने हुलसै तरकीजु तनी अंगियाँ की।
 योंजग जोति उठी तन की उसाइ दई मनौ बाती दिया की।।,

रसात्मक—सौन्दर्य के विप्रलम्भ—पक्ष की दृष्टि से रसखान का काव्य बड़ा विलक्षण है। वियोग काल की संचित मानस—छवियों को रूपायित करने में कवि पूर्णतः सिद्धहस्त है। रसखान पूर्वराग संबंधी सूक्ष्मातिसूक्ष्म उद्भावनाओं के धनी हैं। कृष्ण के नेह—स्नेह में निमग्न गोपियों की कल्पना प्रवण अनुभूतियां सविशेष मुखर हुई हैं।

यथा—

“उनही के सनेहन सानी रहैं उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं ।¹
उनहीं की सुनैन औ बैन त्यों सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं ।।
उनहीं संग डोलन मैं रसखानि सबै सुख सिन्धु अधानी रहै ।
उनहीं बिन ज्यों जलहीन है मीन आँखि मेरी अँसुवानी रहैं ।।

रागात्मक संवेदनओं में मानिरी प्रिया का रूठना अत्यधिक स्पर्शी होता है। नायिका का मान संबंधी वर्णन भी रसखान ने रस—प्रेरित होकर किया है। यथा—

“प्रिय सों तूमि मान कर्यों कत नागरि आजु कहा किनहूँ सिख दीनी ।

प्रयारा की विविध अनुभूतियों से रस—स्निग्ध है रसखान का काव्य मदन—दहन जैसा प्रवास काल में होता है वैसा पूर्वरस में कहाँ? रसखान की कविता में प्रवास की टीस और तज्जन्य प्रकल्पनाएं बड़ी हृदयस्पर्शी बन पड़ी हैं। यथा—

“मग हेरत धूँधरे नैन भये रसना रट वा गुन गावन की ।²
अंगुरी गनि हार थकी सजनी सगुनौती चलै नहिं पावन की ।।
पथिकौ कोउ ऐसो जु नाहिं कहै सुधि है रसखानि कै आवन की ।
मन भावन आवन सावन में कही औधि करी डग बावन की ।।”

सम्प्रतः रसखान का रस—सौन्दर्य उनकी आंतर अनुभूतियों और मूल संवेदनाओं से सम्पन्न है। कवि की रागात्मक चेतना उसकी आत्मिक सौन्दर्यानुभूति, उसकी रस—चर्वणा सर्जनात्मक शक्ति के सहारे प्रतिच्छवित हुई है। रसखान रस—धर्मी सौन्दर्यदर्शी हैं। उनका श्रृंगार वर्णन भावक और भावुक दोनों के लिए आस्वाद्य हैं, अस्तु वह रसमयी है।

1. सुजान रसखान, सवैया 30

2. वही

शिल्प वैशिष्ट्य

भारतीय संस्कृति में 'शिल्प' को सौन्दर्य भावना का मूल संस्कर्ता और चित्र, मूर्ति, नृत्य, गीत, याद्य (संगीत) आदि कलाओं का समाहर्ता माना गया हैं। वस्तुतः शिल्प प्रतिरूपात्मक अनुकृति अथवा विधायनी वृत्ति हैं और कलाओं और काव्य का अभिन्न अंग है।

मध्यकालीन कवि काव्य (अथवा काव्यकला) के अतिरिक्त अन्य ललित कलाओं के प्रति उतने सचेष्ट नहीं थे। वे काव्य के प्रति ही अधिक अनुरक्त हैं। उनके लिए कविता ही जीवन-सौन्दर्य की विधायिनी है। अतः वे काव्य के प्रति 1. डॉ० जगदीश गुप्तः वैदिक साहित्य में शिल्प का स्वरूपः भारतीय कला के पदचिह्न, पृष्ठ 80 आकृष्ट है। उनके लिए काव्य-शिल्प और भाव में अपार्थक्य हैं। दोनों 'गिरा अरथ जल बीचि सम' अभिन्न हैं। इस संदर्भ में रसखान की काव्य-भाषा, शब्द-शिल्प, अभिव्यंजना कौशल, अलंकार-विधान और छंदाबैध पर विमर्श अपेक्षित हैं।

रसखान की कविता की महत्वपूर्ण शिल्पगत विशेषता निरलंकृति हैं। अलंकारों का प्रयोग रसखान-काव्य में हुआ है किन्तु अत्यल्प प्रेम की दृढ़ता अनन्यता, हृदय वेधक, सरलता तथा अनुभूति और स्पंदन की चरमावस्था में रसखान के पास अलंकार-प्रयोग का उतना अवकाश ही नहीं रहा है। वैसे भी रसखान रससिद्ध कवि है, शास्त्रज्ञ काव्यशास्त्री कवि नहीं। फिर भी रसखान के काव्य में यमक श्लेष तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि के उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं।

यम-यमक एक ही शब्द की भिन्न अर्थ में दोबार आवृत्ति 'यमक' में होती हैं। "बैन वही उनको गुन गाइ और कान वहीं उन बैन सों सानी।" त्यौ

रसखानि वही रसखानि जू हैं रसखानि सों हैं रसखानि।” यहाँ भिन्न अर्थ में ‘रसखानि’ शब्द की आवृत्ति है। उपमा— अर्थालंकारों में उपमा का प्रयोग अनायास ही बन पड़ता है। उपमा के अनायास प्रयोग रसखान—काव्य में भी हुए हैं, यथा—

‘तिरसी बरछी सम मारत हैं दृग बान कमान सूजान लग्यो’¹

जाकौ लसै मुख चन्द समान सुकोमल अंगनि रूप लपेटी।’

‘चंद सौ आनन मै न मनोहर बैन मनोहर मोहत हों मन।।’

रूपक— रसखान की कविता में ‘सांगरूपक’ अथवा ‘सावयव रूपक’ के प्रयोग अपेक्षाकृत कम हैं और निरावयव रूपक के प्रयोग प्रचुर। सांगरूपक का एक सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य है, जहाँ कृष्णागमन पर वर्षा ऋतु का आरोप है।

“दमकै रबि कुंडल दामिनी से धुरवा जिपि गोरछ छाजत है।²

मुकताहल—बारन गोपन के सुतौ बूँदन की छबि छाजत हैं।।

ब्रजबाल नदी उमहर रसखानि मयंक बधू दुति लाजत हैं।

यह आवन श्री मनभावन की बरषा जिमि आज विराजत हैं।।”

उत्प्रेक्षा— उत्प्रेक्षा के सुष्ठु प्रयोग भी रसखान ने यदा कदा किये हैं। एक सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य है—

‘रसखानि सुन्यो हैं वियोग के ताप मलीन महा दुति देह तिया की।³

चन्द्रमुखी तन गो मुरझाय लगी लपटै बिस स्वांस हिया की।।

ऐते मैं आवत कन्हाई के हुलसे सरके तरकी अंगियां की।

यों जग जोति उठी तन की उकसाइ दई मनौ बाती दिया की।।’

1. रसखान रचनावली , पृष्ठ 144, डॉ० विद्यानिवास द्वारा उद्धृत।

2. सुजान रसखान सवैया, पृष्ठ 166

3. वही पृष्ठ 100

विरोधाभास— अपने कथन को विरोधी उक्तियों द्वारा प्रस्तुत करने में भी रसखान प्रवीण हैं एक सुष्ठु उदाहरण दृष्टव्य है—

‘संकर से सुर जाहि जपै चतुरानन ध्यानन धर्म बढ़ावै।’

जापर देव अदेव भू अंगना वारत प्रानन प्रानन पावै।’

अर्थात् कृष्ण ऐसे प्रभु हैं जिनके लिए प्राणों का उत्सर्ग करने पर सच्चे अर्थों में जीवन (प्राणों) की प्राप्ति होती है। ‘सुजान रसखान’ में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति; उल्लेख तथा व्यतिरेक आदि अलंकारों के भी एक दो प्रयोग हुए हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि रसखान अलंकार-प्रिय कवि है। अथवा उन्होंने अलंकारों का वैसा साधिकार और विस्तृत प्रयोग किया है। जैसा सूर-तुलसी जैसे भक्त कवियों या बिहारी और धनानन्द जैसे रीतिकालीन कवियों ने किया है।

शब्द-सम्पदा, अर्थ-गौरव, भाव-गरिमा, प्रांजलता, सम्प्रेषण-शक्ति और भावभिव्यंजना की दृष्टि से रसखान-काव्य गुणात्मक एवं विशिष्ट हैं। यद्यपि रसखान घनानन्द की भाँति ब्रज-भाषा प्रवीण और बिहारी की भाँति ब्रजभाषा-पंडित नहीं हैं तथापि उनकी ब्रजभाषा की अपनी विशेषता हैं और वह हैं उसका ग्राम्यसंस्कार, उसकी निलंकृति और सरलता। सहज और सरल भाषा अर्थात् चिरपरिचित शब्दावली का मार्दवयुक्त प्रयोग वे ही रचनाकार कर पाते हैं जिनका सम्बल निष्ठा हैं निष्ठा शब्दाडम्बर में नहीं होती कहना न होगा कि रसखान ऐसे ही निष्ठावान कवि हैं।¹

वस्तुतः रचनाकार के शब्द-चयन और छन्द-विधान पर समकालीन रचना-धर्मिता ओर सर्जनात्मक प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। संवेदना का सांचा समकालीन रचनात्मक प्रवृत्तियों निर्मित करती है। निश्चय हर इसमें व्यक्ति रचनाकार की वैयक्तिक विशेषताएं सक्रिय भूमिका अदा करती हैं रसखान

1. सुजान रसखान सवैया, 32

2. सं० डॉ० विद्या निवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृष्ठ 145।

के शिल्प संस्कार का उस भक्त-कवियों की निष्ठा और सहज-स्वाभाविक भाषा-प्रवाह से है। गहन प्रेम की अभिव्यक्ति अलंकृत हो भी सकती। अलंकृति के नाम पर रसखान अनुप्रास के ही प्रेमी ठहराये जा सकते हैं। अन्य भक्त कवियों की भांति ही दोहा, कवित और सवैया छन्द उन्हें प्रिय है।

रसखान काव्य की रमणीयता उसका विशिष्ट सौन्दर्य, उसकी भावविह्वल वाग्धारा और सहज-सरल शब्द-योजना मुक्त वाक्य-प्रवाह ध्वनि सामंजस्य में निहित है। यथा—

रसखानि सुन्यो है वियोग के ताप मलीन महादुति देहतिया की।¹

चन्द्रमुखी तनगो मुरझाई लगी लपटै विस स्वास हिया की॥

“कहा कहूँ आली कछू कहती बनै न दसा,

नंद जी के अंगना में कौतुक देख्यो मैं।

जगत के ठाटी महापुरुष विराटी जो निरंजन,

निराटी ताहि माटी खात देख्यो मैं॥

“भाव-प्रवणता, ध्वनिमूलक शब्द-चयन और भाषागत प्रवाह की दृष्टि से रसखान काव्य अत्यधिक चित्ताकर्षक हैं। यथा—

“दृग दूने खिंचे रहैं कानन लौं लट आनन पै लहराइ रहीं।²

छवि छैल छवीली छटा लहराइ कै कौतुक कोटि दिखाइ रहीं॥

झूकि-झूकि झमाकनि चूम अमी चहिं चाँदनी चन्द चुराइ रहीं।

पन पाइ रही रसखानि महा छवि मोहन की तरसाइ रही॥”

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि रसखान का शब्द-चयन, शब्द-विन्यास और प्रसंगानुकूल शब्द-प्रयोग भावाभिव्यंजक तथा अत्यधिक प्रभावोत्पादक हैं। उनकी भाषा अनुप्रासों से युक्त, प्रसाद और माधुर्य गुणों से आप्लावित सतत प्रवाह-शील, रस-पोषिका और भावानुवर्तिनी शुद्ध ब्रजभाषा हैं।

2. वही

पृ० 132।

तृतीय—अध्याय

सन्दर्भ—ग्रन्थ

- पृष्ठ:—123, रामधारी सिंह 'संस्कृति के चार अध्याय पृ0 355
वही पृ0 354
नारद भक्ति सूत्र—पृ0 3 (गीता—प्रेस—गोरखपुर)
- पृष्ठ:—124, सं0 विद्याविकास मिश्र: रसखान रचनावली पृ0 26,
- पृष्ठ:—126, दौ सौ बावन वैष्णवन की वार्ता पृ0 219,
पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, भक्त कवि रसखान पृ0 305,
शिवसिंह सरोज पृ0 439,
मिश्रबन्धु, प्रथम भाग पृ0 392,
- पृष्ठ:—127, हिन्दी के मुसलमान कवियों का प्रेम—काव्य पृ0 79,
रसखान पदावली, संकलन प्रभुक्त ब्रह्मचारी पृ0 7,
हिन्दी—साहित्य का प्रथम इतिहास पृ0 107,
हिन्दी—साहित्य का इतिहास पृ0 106,
- पृष्ठ:—128, पोद्दार—अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रधान सम्पादक वासुदेवशरण अग्रवाल पृ0 315
रसखान—जीवन और कृतित्व पृ0 48,
- पृष्ठ:—129, प्रेम—वाटिका,
रसखान : जीवन और कृतित्व पृ0 40,
रसखान और उनका काव्य पृ0 2,
- पृष्ठ:—131, मूल गोसाईं चरित, बाबा वेषी माधव दास, मिश्र बन्धु आदि ।
देखि गदर हित साहिबी —प्रेम वाटिका, दोहा 48,
वाक्यात् दारुल हुकूमत देहली पृ0 308 से 319 तक,
रसखान : जीवन और कृतित्व पृ0 48,
- पृष्ठ:—132, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ पृ0 315,
रसखान : काव्य तथा भक्ति भावना पृ0 32,
प्रेम—वाटिका 48—49

आचार्य विट्ठलनाथ प्रसाद मिश्र, रसखान ग्रन्थावली की भूमिका

पृ० 27,

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, मध्ययुगीन प्रेम साधना पृ० 148;

आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय आदि ।

पृष्ठ:-133, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० 314,

वाक्याते दारुल हुकूमत देहली पृ० 311-319,

प्रेम-वाटिका; 48,

पृष्ठ:-134, रसखान (ग्रन्थावली), प्रस्तावना, आचार्य विश्वानाथ प्रसाद मिश्र पृ० 24

रसखान: काव्य तथा भक्ति भावना डॉ० माजदा असद पृ० 33,

उपरिवत् पृ० 32,

हिन्दी साहित्य पृ० 205,

रसखान: काव्य तथा भक्ति भावना पृ० 34-35,

पृष्ठ:-140, प्रेम-वाटिका-दोहा -1

वही -10

वही -06

वही -24,

पृष्ठ:-141, वही -2

वही -12

वही -18,

पृष्ठ:-142, सुजान रसखान-सवैया-10

वही -13

वही -22

वही -260,

पृष्ठ:-143, वही -225

वही -100

वही -226

सुजान रसखान-सवैया-

पृष्ठ:-144,	वही	दोहा-264
	वही	सवैया-18,
पृष्ठ:-145,	वही	सवैया-62
	वही	सवैया-125
	वही	सवैया-41
	वही	सवैया-32,
पृष्ठ:-146,	वही	कमित्र-64,
पृष्ठ:-147,	वही	सवैया-1
	वही	सवैया-16
	वही	सवैया-273,
पृष्ठ:-148,	वही	सवैया-18,
	वही	सवैया-140
	वही	सवैया-238,
पृष्ठ:-149,	वही	सवैया-141
	वही	सवैया-218,
पृष्ठ:-150,	वही	सवैया-40
	सुजान रसखान-	कविन्त-54
	सुजान रसखान-	सवैया-120,
पृष्ठ:-151,	वही	सवैया-30
	वही	सवैया-231,
पृष्ठ:-152,	वही	सवैया-129
	वही	सवैया-166
	वही	सवैया-100,
पृष्ठ:-153,	वही	सवैया-32,
पृष्ठ:-154,	वही	सवैया-132,

चतुर्थ अध्याय : रसखान के काव्य का काव्य शास्त्रीय मूल्यांकन

पृष्ठ भूमि : भारतीय आलोचना का विकास काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों में हुआ है। काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय भावपक्ष एवं कलापक्ष के अनुशीलन का आधार प्रस्तुत करते हैं ये सम्प्रदाय हैं रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य। इसमें रस एवं ध्वनि सम्प्रदाय का सम्बन्ध काव्य की संवेदना से है रीति एवं वक्रोक्ति का भाषा की संरचना से है। अलंकार भाषा सौन्दर्य के वर्द्धक तत्व हैं। औचित्य, सम्प्रदायों के औचित्य का अध्ययन है वस्तुतः काव्य-सम्प्रदाय, काव्य शास्त्रीय अध्ययन के आधार हैं।

अलंकार-शास्त्र के ग्रंथों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। अलंकारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन-सी वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है? वह कौन-सा पदार्थ है जो काव्य के अंगों में सबसे अधिक उपादेय और महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रश्न के उत्तर में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकारों को ही काव्य का प्राण मानते हैं, कुछ गुण या रीति को और दूसरे लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। 'अलंकार सर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन विभिन्न सम्प्रदायों के उदय का जो कारण बतलाया है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से संभव हो सकती है—

(1) धर्म से

(2) व्यापार से

(3) व्यंग्य से

धर्म दो प्रकार के होते हैं — (1) नित्य और (2) अनित्य। अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं होती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म है अलंकार और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्ममूलक विशिष्टता को प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—(1) अलंकार सम्प्रदाय (2) रीति या गुण सम्प्रदाय।

व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है (1) वक्रोक्ति, (2) भोजकत्व। वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्य का ही दूसरा नाम है और वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की

कल्पना रस—निरूपण के अवसर पर भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के भीतर ही अन्तर्भुक्त मानना उचित है। शब्दार्थ में व्यंग्यमूलक वैशिष्ट्य मानने वाले आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ में ध्वनिविरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है जो उनमें प्राचीन है तथा काव्य में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं। इन तीनों सम्प्रदायों के नाम हैं—(1) अभावभावी (2) भक्तिवादी और (3) अनिर्वचनीयतावादी। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने अपनी 'विमर्शिणी' में ध्वनि की बारह विप्रतिपत्तियों का निर्देश किया है जिनमें ध्वनि का विरोध माना जाता है। इन सबका अन्तर्भाव कर आनन्दवर्धन मुख्यतया तीन ही ध्वनि—विरोधी पक्ष मानते हैं। इनका खण्डन कर उन्होंने 'ध्वनि' की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है।

‘संस्कृत आलोचना’ के मुख्यतः छः सम्प्रदाय होते हैं ¹—

सम्प्रदाय	आचार्य
1. रस सम्प्रदाय	भरतमुनि
2. अलंकार सम्प्रदाय	भामह
3. रीति सम्प्रदाय	वामन
4. वकोक्ति सिद्धान्त	कुन्तक
5. ध्वनि सम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
6. औचित्य सिद्धान्त	क्षेमेन्द्र

1. रस सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार रस सम्प्रदाय के आदिम आचार्य **नन्दिकेश्वर** हैं, परन्तु आजकल न इनका कोई ग्रन्थ ही मिलता है, न इनके मत का ही परिचय मिलता है। भरतमुनि ही इस सम्प्रदाय के आजकल प्रतिष्ठाता माने जाते हैं और

1. आवलदेव उपाध्याय : संस्कृत आलोचना पृ० 274

उनका 'नाट्यशास्त्र' रससिद्धान्त का प्रतिपादक सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र कभी सूडरूप में ही विद्यमान था, परन्तु आजकल इसमें तीन स्तर दीख पड़ते हैं— सूड, भाष्य तथा श्लोक या कारिका। भरत ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में कतिपय अनुवंश्य श्लोकों को उद्धृत किया है जो अभिनवगुप्त के अनुसार शिष्य—परम्परा से आने वाले प्राचीन पद्यों का नाम है। नाट्यशास्त्र एक युग की रचना नहीं है, प्रत्युत वह अनेक शतियों के सामूहिक प्रयत्नों का सुखद परिणाम है।

‘कोहल’ नामक किसी प्राचीन नाट्य आचार्य ने नाट्यशास्त्र के विकास में विशेष योग दिया था; इसका पता अनेक स्थलों से चलता है। अभिनवभारती के अनुसार भरत ने ‘कोहल’ के विशिष्ट मतों को आदरपूर्वक अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर रखा है। नाट्यशास्त्र के दो रूप थे – (1) वृहत् तथा (2) लघु। प्राचीन नाट्यशास्त्र बारह हजार श्लोकों में निबद्ध था। लघु संस्करण, जो वर्तमान संस्करण है, केवल छह हजार श्लोकों का ही है। इसीलिए इस ग्रन्थ के रचयिता भरतमुनि धनन्जय और अभिनवगुप्त के द्वारा ‘षट्साहस्रीकार’ (छह हजार श्लोकों के कर्ता) के नाम से निर्दिष्ट किये गये हैं। इसकी रचना विक्रमपूर्व द्वितीय शती से लेकर विक्रमपश्चात् द्वितीय शती के मध्य में कभी मानी जाती है।

भरत के नाट्यशास्त्र को ललित कलाओं का विश्वकोष कहना चाहिए। नाट्य-विषय का ही नहीं, प्रत्युत आलोचना शास्त्र का, छन्द-शास्त्र का संगीत का तथा अभिनय का भीयह आदि तथा प्रौढ़ ग्रन्थरत्न है। इसकी लोकप्रियता का पता इसके भाष्यकारों के नाम से भी चल सकता है। इसके 9 भाष्यकारों का परिचय मिलता है जिनके नाम हैं—

(1) उद्भट (2) लोल्लट (3) शंकुक (4) भट्टनायक (5) राहुल (6) भट्टयन्त्र (7) अभिनवगुप्त (8) कीर्तिधर तथा (9) मातृगुप्त। इन सब में अभिनवगुप्त की प्रख्यात व्याख्या ‘अभिनव भारती’ ही आज उपलब्ध होती है और इसी में उल्लिखित होने से अन्य टीकाकारों के भी अस्तित्व का पता चलता है। उद्भट का समय अष्टमशती है और अभिनवगुप्त का एकादश शती और इन्हीं दोनों के बीच में लगभग तीन सौ वर्षों के भीतर अन्य व्याख्याकारों का उदय हुआ। मातृगुप्ताचार्य के नाट्यलक्षण के श्लोकों को राघवभट्ट ने शाकुन्तल की टीका में बहुशः उद्धृत किया है। सुन्दर मिश्र (17 शती) के कथनानुसार मातृगुप्त ने भरत के श्लोकों की व्याख्या लिखी थी। इन टीकाकारों में लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की विभिन्न व्याख्या की है जिनका निर्देश अभिनव भारती में बहुत किया गया है।

रस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में रस ही एकमात्र मुख्य तत्व है। भरतमुनि ने नाटकीय रस का ही निरूपण किया है और इसीलिए रस की नाट्यरस की संज्ञा दी है। पिछले आलंकारिकों ने इसे श्रव्य काव्य का भी महनीय तत्व माना है। रस का उन्मेष ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य माना जाता है। इस तात्पर्य की सिद्धि के अभाव में काव्य नीरस, फीका तथा उद्वेगकर

होता है। इसके उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव, विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता के साथ यहां किया गया है। रस की संख्या के विषय में भी मतभेद है। इन आठ रसों की सत्ता के विषय में किसी की भी विमति नहीं है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत। शान्त रस नवम रस माना जाता है जिसकी काव्य तथा नाट्य में सत्ता के विषय में आचार्यों में काफी मतभेद है। धनन्जय शान्तरस

को नाट्य में निषेध करते हैं, परन्तु अभिनवगुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में इसकी सत्ता मानते हैं। रूद्रट ने 'प्रेयान्' नामक रस को, विश्वनाथ कविराज ने 'वात्सल्य' को गौडीय वैष्णवों ने 'मधुररस' को इस श्रेणी में जोड़कर रसों की संख्या को बहुत ही बढ़ा लिया है।

साहित्य में रसमत का सवतोभावेन प्राधान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारों में 'रसध्वनि' को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि मुख्यतया तीन प्रकार की होती है— वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। इन तीनों में अन्तिम मुख्यतम है। भोजराज भी समस्त वान्दमय को तीन भागों में बांटते हैं—(1) स्वभावोक्ति (2) वक्रोक्ति तथा (3) रसोक्ति। इनमें अन्तिम का विशेष चमत्कार काव्य में होता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य मानकर काव्य में रस के महत्व को स्वीकार किया है। अग्नि पुराण की स्पष्ट उक्ति है—

'वाग्वैदग्धप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'।¹ काव्य में वक्रोक्ति के उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होता है। भरत ने **नहि रादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते²** का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व माना है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हुए जिनमें अनेक ध्वनि को भी विशेष महत्वशाली मानने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के भी अनुयायी हैं।

2. अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार मत के प्रवर्तक आचार्य भामह है। इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी, रूद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य में पोषक अंगों को अलंकार कहते हैं। रूद्रट और प्रतिहारेन्दुराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलंकार

को ही प्रधानता दी है। इस सम्प्रदाय में अलंकार ही काव्य की आत्मा है। अग्नि की उष्णता के सदृश अलंकार काव्य का प्राणाधारक तत्व माना जाता है। जयदेव का तो यहां तक कहना है कि जो विद्वान् अलंकार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को भी अनुष्ण (उष्णताहीन) क्यों नहीं मानता? जिस प्रकार अग्नि का उष्णतारहित होना असंभव है, उसी प्रकार काव्य का अलंकार से रहित होना असंभव है—

अंगो करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।

असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलंकृती ॥ (चन्द्रालोक 1/8)

रुच्यक की स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलंकारिकों के मत से अलंकार ही काव्य में प्रधान होते हैं।

1. संस्कृत आलोचना पृ० 276
2. संस्कृत आलोचना पृ० 276

अलंकारों का विकास धीरे-धीरे होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन चार ही अलंकारों का निर्देश मिलता है—यमक, उपमा, रूपक और दीपक। अतः साहित्य के मूलभूत अलंकार यही चार हैं, जिनमें से पहला तो शब्दालंकार है और अन्य तीन अर्थालंकार। भरत के मत में यमक दस प्रकार का होता है। उपमा के पांच भेद होते हैं— प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किञ्चित्सदृशी। रूपक तथा दीपक का एक-एक भेद होता है। इन्हीं चार अलंकारों से विकसित तथा परिवर्धित होकर अलंकारों की संख्या कुवलयानन्द में सवा सौ के ऊपर तक पहुंच गई है। काल-कम के अनुसार अलंकारों की संख्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है।

भरत के नाट्यशास्त्र (अध्याय 17) में 36 प्रकार के 'लक्षणों' का विवरण दिया है। बहुत से इन लक्षणों को परवर्ती आचार्यों ने अलंकार में सम्मिलित कर लिया और इस प्रकार अलंकारों

के विकास में इन 'लक्षणों' का भी कम महत्व नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ हेतु, लेश तथा याशीः को लीजिए। इनके विषय में परवर्ती आचार्यों की भिन्न-भिन्न सम्मतियां हैं। भामह हेतु तथा लेश को तो अलंकार नहीं मानते परन्तु आशीः को अलंकार मानते हैं। दण्डी ने तीनों को अलंकार माना है। परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मत हैं। अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में हेतु तथा लेश को अलंकार माना है। इस प्रकार अलंकारों का विकास क्रमशः होता गया।

भारतीय अलंकारिकों ने अलंकारों के विभाजन के अवसर पर उनके मूल तत्वों पर भी विचार किया है। अलंकारों के विभाग के लिए उन्होंने कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। इसका संकेत सर्वप्रथम रूद्रट के काव्यालंकार में मिलता है। उन्होंने ही सबसे पहिले औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकारों के विभाजन का मूल कारण माना है। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में 'अलंकार सर्वस्व' के कर्ता रूय्यक का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। इन्होंने औपम्य, विरोध, लोकन्याय आदि को अलंकारों का मूल विभेदक तत्व मानकर अलंकारों का विभाजन सुन्दर समीक्षा के साथ किया है। इस सम्प्रदाय के प्राचीनतम और महत्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही हमारा समस्त आलोचना-शास्त्र 'अलंकार-शास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है।'

महत्व

अलंकार सम्प्रदाय में रस की स्थिति विचारणीय है। अलंकार मत को मानने वाले आचार्यों को रस का तत्व अज्ञात नहीं था; परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर काव्य के प्राणभूत अलंकार का ही एक प्रकार माना है। 'रसवत्', 'प्रेयस', 'उर्जस्वी' तथा 'समाहित' नामक अलंकारों के भीतर रस और भाव का समस्त विषय इन आलंकारिकों ने निविष्ट कर दिया है। भामह को महाकाव्य में रसों की आवश्यक स्थिति मान्य है। दण्डी भी रस तत्व से परिचित हैं और रसवत् अलंकार के भीतर इन्होंने आठों रस और आठों स्थायी भावों का निर्देश किया है। वे माधुर्य गुण के अन्तर्गत भी रस का समावेश मानते हैं। अतः दण्डी को रसतत्व से अपरिचित नहीं माना जा सकता। उद्भट ने भी रसवत् अलंकार के निरूपण के अवसर पर विभाव, संचारीभाव जैसे

पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख ही नहीं किया है बल्कि रस के नव भेदों का भी स्वीकार किया है। रूद्रट भी काव्य में रस का सन्निवेश करने का उपदेश देते हैं। इन सब उल्लेखों का यही आशय है कि भामह दण्डी, उद्भट तथा रूद्रट जैसे अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य रसतत्व की महत्ता से पर्याप्त परिचित हैं। भरत मुनि से पश्चाद्वर्ती होने से यह ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त उचित है। परन्तु वे लोग उसे अलंकार का ही एक रूप मानते हैं। अलंकार उनकी दृष्टि में एक व्यापक सिद्धान्त है।

अलंकार और ध्वनि

इन अलंकारिकों को काव्य में प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) की भी सत्ता किसी-न-किसी रूप में अज्ञात न थी। रूय्यक का स्पष्ट मत है कि भामह तथा उद्भट प्रभृति अलंकार-वादी आचार्यों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) की टीका 'तरला'

1. संस्कृत आलोचना पृ० 277

में मल्लिनाथ ने भामह प्रभृति आचार्यों को ध्वनि के अभाव का प्रतिपादक आचार्य माना है परन्तु उन्हें ध्वनि-अभाववादी मानना उचित नहीं प्रतीत होता। वे ध्वनि के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं। वे प्रतीयमान अर्थ को न तो काव्य की आत्मा मानते हैं और न ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदों का अपने अलंकार-ग्रंथों में प्रयोग करते हैं; परन्तु प्रतीयमान अर्थ से कथमपि अपरिचित नहीं है। 'पर्यायोक्त' अलंकार के भीतर ध्वनि की कल्पना इन अलंकारिकों को स्पष्टतः मान्य है। समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों में भी द्वितीय अर्थ के रूप में प्रतीयमान प्रतीत होता है।

अलंकार सम्प्रदाय में प्रतीयमान अर्थ के विवेचन का अभाव रूद्रट को इतना खटका कि उन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकार की ही कल्पना कर डाली। इसके दो भेद हैं जिनके उदाहरणों को मम्मट ने तथा अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान अर्थ का द्योतक माना है। ऐसी दशा में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकारवादी रूद्रट को व्यंग्य का सिद्धान्त सर्वथा मान्य था। अन्तर इतना है कि वे इसे स्वतन्त्र रूप देने के पक्षपाती नहीं थे, प्रत्युत इसे वे अलंकार के भीतर

गतार्थ मानते हैं। दण्डी और भामह ने अलंकार का जो महत्व काव्य में स्वीकार किया है वह किसी-न-किसी मात्रा में पिछले युग तक चला ही गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को महत्व देकर भी अलंकार के वर्णन में अपनी उदासीनता नहीं दिखलाई। ध्वनिवादी होते हुए भी मम्मट ने अपने ग्रन्थ में अलंकारों का जो सुन्दर तथा विस्तृत निरूपण किया है वह किसी भी अलंकारवादी आचार्य के वर्णन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

3. रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। दण्डी ने भी रीतियों के वर्णन में बहुत-सा स्थान तथा समय लगाया है, परन्तु वामन के ग्रन्थ में रीति का जो महत्व दिखलाई पड़ता है वह किसी भी आलंकारिक के ग्रन्थ में नहीं दीख पड़ता। उनके सिद्धान्त में रीति की महत्ता का पता इसी से लग सकता है कि उन्होंने बलपूर्वक रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं—**विशिष्टा पदरचना रीतिः**।¹ पदों में विशिष्टता गुणों के ही कारण उत्पन्न होती है, गुणों के अभाव में पद एक सामान्य रूप में ही स्थित रहते हैं। अतः रीति गुणों के ही ऊपर अवलम्बित रहने वाला काव्यतत्त्व है—विशेषी गुणात्मा। इसीलिए रीति सम्प्रदाय 'गुण सम्प्रदाय' के नाम से भी पुकारा जाता है।

गुणों का सर्वप्रथम वर्णन भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है। गुण संख्या में दस होते हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति (नाट्यशास्त्र 16/98)। रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (150ई0) में भी माधुर्य, कान्ति तथा उदारता जैसे काव्यगुणों का स्पष्टतः उल्लेख पाया जाता है। भरत के द्वारा निर्दिष्ट इन गुणों को दण्डी ने स्वीकार किया है। परन्तु भरत से उनकी व्याख्या में अनेक स्थलों पर अन्तर है। गुणों में शब्दगत अथवा वैशिष्ट्य मानना दण्डी की मौलिक सूझ है। वे इन दस गुणों को केवल वैदर्भमार्ग (वैदर्भी रीति) का प्राण मानते हैं तथा इनके विपर्यय को गौडीय मार्ग का प्रतिपादक स्वीकार करते हैं।

वामन के गुणों की कल्पना तथा इनकी व्याख्या अत्यन्त नवीन और मौलिक है। वामन गुणों को दो प्रकार का मानते हैं—(1) शब्दगुण और (2) अर्थगुण। इस विभाजन में जो शब्दगुणों

के नाम हैं वे ही अर्थगुणों के भी हैं, परन्तु दोनों प्रकार के गुणों की कल्पना में पर्याप्त अन्तर है। वे ही गुण शब्दगुण होते हैं, तथा अर्थगुण भी। नाम में भेद नहीं, परन्तु दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है। गुण के विषय में दामन का मत अन्य आलंकारिकों को मान्य नहीं हो सका। इनके पहले ही भामह ने दस गुणों के स्थान पर केवल तीन गुणों—माधुर्य, ओज, प्रसाद—की कल्पना स्वीकार की थी। इसी मत का अवलम्बन पीछे के आलंकारिकों ने किया। मम्मट, हेमचन्द्र और और विश्वनाथ कविराज आदि आलंकारिकों ने गुणों की संख्या तीन ही मानी है। इतने ही पर्याप्त हैं काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि या तो अन्य गुणों का

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत आलोचना पृ० 278

इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव होता है, या वे दोषाभाव रूप है अथवा कहीं—कहीं वे गुण न होकर वस्तुतः दोष ही हो जाते हैं। वामन के मार्ग का थोड़ा अवलम्बन भोजराज ने किया है परन्तु इन्होंने गुणों के विभाजन तथा स्वरूप दोनों में विशेष अन्तर किया है। भोजराज ने गुणों के तीन भेद माने हैं (1) बाह्यगुण (2) आन्तरगुण और (3) वैशेषिक गुण। उन्होंने गुणों की भी संख्या दस से बढ़ाकर चौबीस कर दी है। (सरस्वती कण्ठाभरण 1।58—65)।

रीति का विकास

रीति का प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। इसकी कल्पना अलंकारशास्त्र के आदिम युग में भामह में पूर्वकाल में कभी—न—कभी अवश्य हुई होगी। वैदर्भ मार्ग काव्य का एक रमणीय मार्ग माना जाता था तथा गौड़ीय मार्ग निन्दनीय था। परन्तु स्वतन्त्रमार्गी भामह का विचारधारा निराली है। उनका स्पष्ट कथन है कि हमें न तो वैदर्भ मार्ग की प्रशंसा करनी चाहिए और न गौड़ीय मार्ग की निन्दा। बल्कि काव्य के शोभन गुणों ही की ओर ध्यान देना चाहिए। दण्डी ने इन दोनों मार्गों—वैदर्भ मार्ग और गौड़ीय मार्ग का बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया है। वे वैदर्भ मार्ग को ही पूर्वाक्त दस गुणों से युक्त मानते हैं और गौड़ीय मार्ग में कतिपय गुणों को छोड़कर अन्य गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं। इसलिए दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग ही कवियों के लिए आदर्श रूप से अनुकरणीय मार्ग है और गौड़ीय मार्ग नितान्त अस्पृहणीय मार्ग है।

वामन ने दण्डी की अपेक्षा काव्य की कल्पना को बड़े ही दृढ़ आधार पर निर्मित किया है। काव्य की आत्मा को खोज निकालनेवाले वे सर्वप्रथम आलंकारिक हैं। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रीति है। दण्डी की दो रीतियों के स्थान पर वे तीन रीतियां मानते हैं—(1) वैदर्भी (2) गौडी और (3) पान्चाली। वैदर्भी रीति में समस्त दस गुणों की सत्ता विद्यमान रहती है। गौडीय रीति में केवल ओज और कान्ति गुण होते हैं तथा पान्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों की सत्ता होती है। पिछले आलंकारिकों ने रीति की इस संख्या को बहुत ही बढ़ा दिया है। राजशेखर ने कर्पूरमन्जरी के मंगलश्लोक में इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है (1) वच्छोमी (वैदर्भी) (2) मागधी तथा (3) पान्चालिका (पान्चाली)। रूद्रट ने लाटीया को भी नई रीति मानकर रीतियों की संख्या चार कर दी है। भोज ने आवन्ती, मागधी और लाटी को नयी रीतियां मानकर इनकी संख्या वामन की अपेक्षा दुगुनी (छः) कर दी है। इतना होने पर भी वामन के द्वारा उद्भासित तीन ही रीतियां का काव्यजगत् में आज भी प्रचलन है। वामन ही सबसे कम अलंकारों का निर्देश करते हैं। गुणों के समान ही इनकी अलंकारों की उद्भावना भी नितान्त मौलिक और सुन्दर है।

महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय में काव्य सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है। अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय ने काव्य की आत्मा का विवेचन बड़ी मार्मिकता के साथ किया। आनन्दवर्धन की मान्यता है कि काव्य के तत्वों के उन्मीलन में रीति सम्प्रदाय के आचार्य ने अपनी क्षमता दिखलाई है। वामन की यह प्रकारान्तर से भूयसी प्रशंसा है।

रीति सम्प्रदाय को गुण और अलंकार का परस्पर पार्थक्य दिखलाने का गौरव प्राप्त है। भामह ने गुण और अलंकार का परस्पर भेद नहीं दिखलाया और दण्डी ने काव्य की शोभा करने वाले समस्त धर्मों (अर्थात् गुणों) को भी 'अलंकार' शब्द से व्यवहृत कर अपने अलंकारवादी होने का परिचय दिया। परन्तु वामन ने काव्य में गुणों को अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म 'गुण' कहलाते हैं तथा उसका अतिशय (वृद्धि) करने वाले 'अलंकार' बढ़ाने वाले धर्म 'गुण' कहलाते हैं तथा उसका अतिशय (वृद्धि) करने वाले धर्म 'अलंकार' के नाम से पुकारे जाते हैं। काव्य में अलंकार की अपेक्षा गुण अधिक

महत्वशाली हैं क्योंकि वे काव्य में नित्य रहते हैं। उनके बिना काव्य की शोभा उत्पन्न नहीं होती। काव्य की शोभा के एकमात्र आधायक धर्म को 'गुण' मानना इस सम्प्रदाय का महत्व है।

अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय के आलोचकों की दृष्टि गहरी तथा पैनी है। भामह आदि अलंकारवादी आचार्य रस को काव्य का बहिरंग साधन मानते हैं। परन्तु वामन उसे काव्य के अन्तरंग धर्मों में परिगणित कर रस की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। इन्होंने 'कान्ति' गुण के भीतर-रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में इसके महत्व को स्वीकार किया है। वामन को वक्रोक्ति के भीतर 'अविवक्षित वाच्य ध्वनि' का अन्तर्भाव भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य के तत्वों का विवेचन इस सम्प्रदाय में अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ध्वनिवादी आचार्यों को भी रीति का सिद्धान्त मान्य है और वे ध्वनि के साथ उसका सामन्जस्य दिखलाने में कृतकार्य हुए हैं। रीति को एक नई दिशा में ले जाने का श्रेय आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। इन्होंने रीति को कवि के स्वभाव के साथ सम्बद्ध मानकर काव्य में रीति के महत्व को अंगीकार किया है। वर्तमान रीतियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर हुआ है। परन्तु कुन्तक को न तो यह आधार ही पसन्द है और न यह नाम ही। इसलिए उन्होंने रीतियों के इन नये नामों की उद्भावना की है :-

- | | | |
|-----|---------------|------------------|
| (1) | सुकुमार मार्ग | (=वैदर्भी रीति) |
| (2) | विचित्र मार्ग | (=गौड़ी रीति) |
| (3) | माध्यम मार्ग | (=पान्चाली रीति) |

काव्य में रीति का तथा तत्पोषक काव्यतत्त्व गुण का सिद्धान्त नितान्त महनीय है जिसकी उपासना कविजनों का लक्ष्य होना चाहिए।

1. संस्कृत आलोचना पृ० 28

4. वकोक्ति सिद्धान्त

संस्कृत साहित्य में 'वकोक्ति' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है और वह अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। वाणभट्ट ने कादम्बरी में 'वकोक्ति' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। वाण ने इसका प्रयोग कीड़ालाप या परिहासकथा के अर्थ में किया है। अमरुशतक में ही इस शब्द का प्रयोग 'सुन्दर उक्ति' के अर्थ में दीख पड़ता है। 'वकोक्ति' का शाब्दिक अर्थ है वक्र उक्ति अर्थात् टेढ़ा कथन। 'काव्य' की उक्ति साधारण लोगों के कथन-प्रकार से भिन्न तथा अधिक चमत्कृत होनी चाहिए और यही वकोक्ति है। ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकारशास्त्र में वकोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वकोक्ति को अतिशयोक्ति का ही दूसरा नाम मानते हैं और इसे काव्य का मूल तत्व स्वीकार करते हैं।

काव्य में वकोक्ति की उपयोगिता भामह को इतनी मान्य है कि वे हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक अलंकारों की वकोक्ति से वंचित होने के हेतु अलंकार मानने के पक्षपाती नहीं हैं। वे अलंकारों के लिए वकोक्ति की स्थिति अत्यन्त आवश्यक मानते हैं :-

“वाचां वकार्थ-शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते”

अर्थात् वक्र (टेढ़ा) अर्थ का कथन शब्दों के लिए अलंकार का काम करता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में वकोक्ति का लक्षण है—¹

“शब्दस्य हि वकता, अभिधेयस्य च वकता, लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्।।

भावार्थ यह है कि लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना 'वकोक्ति' कहलाता है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वान्डमय को दो भागों में बांटा है — (1) स्वभावोक्ति, (2) वकोक्ति। स्वभावोक्ति के भीतर उन स्थलों का अन्तर्भाव किया

जाता है जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वभाव या यथार्थ कथन से भिन्न होने के कारण वकोक्ति में 'अतिशय कथन' का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालंकार तथा रसवद्, प्रेयादि रस से सम्बद्ध अलंकार वकोक्ति के अन्तर्गत आते हैं।

वर्तमान में भी वकोक्ति का वर्णन किया है परन्तु उनके द्वारा वर्णित वकोक्ति भामह द्वारा प्रदर्शित वकोक्ति से नितान्त भिन्न है। जहां भामह ने वकोक्ति को अलंकारों का सामान्य मूलभूत आधार माना है, वहां वामन उसे अर्थालंकार में परिगणित करते हैं। उनकी दृष्टि में वकोक्ति सादृश्य के ऊपर आश्रित होने वाली लक्षण ही है। लक्षणा के अनेक आधार हो सकते हैं। परन्तु सादृश्य (समानता) के आधार पर आश्रित होने वाली लक्षण 'वकोक्ति' कही जाती है :—¹

“सादृश्याल्लक्षणा वकोक्तिः।”

रुद्रट के समय में आकर वकोक्ति एक शब्दालंकार बन जाता है। किसी के वाक्य को सुनकर श्रोता उसके किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर जब अवांछित तथा अकल्पित उत्तर देता है तब रुद्रट के अनुसार वकोक्ति होती है। परन्तु वकोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की वकोक्ति इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मानकर काव्य की आत्मा (मूलतत्त्व) मानते हैं। उनकी वकोक्ति का लक्षण है—“वैदग्धी—भंगी—भणितिः”—अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न, अलौकिक ढंग से कथन। इस प्रकार जो वकोक्ति भामह में अलंकारों के मूलतत्त्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य का मूलतत्त्व स्वीकार की गई।

‘वकोक्ति’ को काव्य की आत्मा मानने वाले कुन्तक वकोक्ति—सम्प्रदाय के संस्थापक है। कुन्तक बड़े ही प्रौढ़ तथा मार्मिक आलोचक थे। उनकी मौलिकता

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत आलोचना, पृ० 283 (आचार्य कुन्तक का कथन)

के कारण हम उन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त की कोटि में मानते हैं। वे रस तथा ध्वनि दोनों सिद्धान्तों से परिचित थे परन्तु उन्हें आलोचना में स्वतन्त्र स्थान न देकर वकोक्ति का ही

विशिष्ट प्रकार मानते हैं। इनके मतानुसार वकोक्ति छः प्रकार की होती है :- (1) वर्णवकता (2) पदपूर्वाद्ध-वकता (3) पदोत्तराद्ध-वकता (4) वाक्य-वक्रता (5) प्रकरण-वकता और (6) प्रबन्ध-वकता। उपचार-वकता के भीतर इन्होंने ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया है। इनकी वकोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि के समस्त भेद सिमट कर विराजने लगते हैं। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। इनका ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि इनके पीछे किसी आलोचक ने न तो इस सिद्धान्त को अग्रसर किया और न इस सम्प्रदाय का अनुगमन ही किया। वकोक्ति के महनीय काव्य-तत्त्व को बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है। इस बीज को उदात्त रूप से अंकुरित करने का यश आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इनके वक्रोक्ति के सिद्धान्त को काव्य की आत्मा (जीवातु) के रूप में तो नहीं स्वीकार किया है, परन्तु वक्रोक्ति के अनेक प्रकारों को ध्वनि में अन्तर्भुक्त कर उन लोगों ने इनके निरूपण की महत्ता को स्पष्टतः अंगीकार किया है। वक्रोक्ति सिद्धान्त 'संस्कृत आलोचना' में काव्य में एक मौलिक तत्त्व के रूप में सदा अमर रहेगा।

6. ध्वनि सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय यही 'ध्वनि सम्प्रदाय' है। इस सम्प्रदाय के आलोचकों ने ध्वनि की उद्भावना पर काव्य में निहित अन्तस्तत्त्व की व्याख्या की है। ध्वनि के सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को प्राप्त है जिनका आविर्भाव काश्मीर में नवम शताब्दी के मध्यकाल में हुआ। इस सिद्धान्त के विरोधी आचार्यों की कमी नहीं थी, परन्तु अन्तर्वल होने के कारण यह सिद्धान्त उनकी परीक्षाग्नि में खरा उतरा और आजकल यह साहित्य-संसार का सर्वस्व है।

ध्वनि क्या है ? जहां वाच्यार्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण ही, वही ध्वनि काव्य कहलाता है। अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं— (1) वाच्य और (2) प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलंकार आदि का समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का। प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि काव्य में वस्तुस्थिति

के अवलोकन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है। किसी कामिनी के शरीर में लावण्य की चमक रहती है जो उसके अंगों में से भिन्न एक पृथक् वस्तु होती है। काव्य में भी उसके अंगों से पृथक् चमत्कार—जनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता नियतमेव वर्तमान रहती है। आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है—

“प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। (ध्वन्यालोक 1।4)¹

आनन्दवर्धन का महत्व इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा इस काव्यतत्त्व को अन्य काव्यांगों से पृथक् कर स्वतन्त्र स्थान दिया। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि का साम्राज्य है। परन्तु उसकी समीक्षा कर उसे काव्यतत्त्व का एक प्रधान सिद्धान्त बता कर व्यवस्थित रूप देना साधारण आलोचक बुद्धि का काम नहीं था। आलोचना के इतिहास में ध्वनि—सम्प्रदाय रूप देना साधारण आलोचक बुद्धि का काम नहीं था। आलोचना के इतिहास में ध्वनि—सम्प्रदाय को विशेष महत्व प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने ‘ध्वन्यालोक’ नामक ग्रन्थ में इस तत्त्व की पहिली मार्मिक व्याख्या की। उनके लगभग सौ वर्षों के बाद अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका ‘लोचन’ में इस सिद्धान्त की दृढ़ रीति से प्रतिष्ठा की। मम्मट ने अपने ‘काव्य—प्रकाश’ में इस सिद्धान्त की सदा के लिए पूर्णरूप से स्थापना की और इसीलिए वे ‘ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य’ की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं। ध्वनि के शब्द तथा तत्त्व के लिए आलंकारिक लोग वैयाकरणों के ऋणी हैं। वैयाकरण लोग ‘स्फोट’ नामक एक ऐसे पदार्थ को मानते हैं जिससे अर्थ फूटता है या अविर्भूत होता है। “स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः” — इस व्युत्पत्ति से अर्थ जिस शब्द

1. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक 114

से फूटता है—अभिव्यक्त होता है वह ‘स्फोट’ कहलाता है। इस स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य वही शब्द करता है जिसका हम उच्चारण करते हैं। इसे ही ध्वनि कहते हैं। वैयाकरणों के इस ‘ध्वनि’ शब्द को लेकर आलंकारिकों ने इसका विस्तृतीकरण किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के 51 प्रकारों में तीन ही को मुख्य माना है (1) रसध्वनि (2) अलंकारध्वनि और (3) वस्तुध्वनि। 'रसध्वनि' के भीतर केवल नव रसों की ही गणना नहीं होती प्रत्युत भाव, रसाभास, भावोदय, भावसन्धि और भावसबलता की भी गणना है। वस्तुध्वनि वहां होती है जहां किसी तथ्य-कथन मात्र की अभिव्यञ्जना की जाय। अलंकारध्वनि वहां होती है जहां अभिव्यक्त किया गया पदार्थ इतिवृत्तात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दों में प्रकट किये जाने पर अलंकारध्वनि का तो सर्वथा इसमें ही पर्यवसान होता है। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथन है। 'वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है' आलोचकों का यही निश्चित मत है। काव्य का अभ्यासी कवि चित्रकाव्य से अभ्यास भले ही करे, परन्तु परिपक्व मतिवाले कवियों का एकमात्र पर्यवसान 'ध्वनिकाव्य' में ही होता है।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते हैं (1) ध्वनिकाव्य (2) गुणीभूत व्यंग्य और (3) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य में वाच्य से प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक होता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे 'गुणीभूत व्यंग्य' कहते हैं। चित्र-काव्य में शब्द तथा अर्थ के अलंकारों से ही काव्य में चमत्कार आता है। यह अधम कोटि का काव्य है सच्चे कवि का कार्य यह नहीं है कि वह रस से सम्बन्ध न रखनेवाली कविता के लिखने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मूल सिद्धान्त के अनुसार समस्त काव्यतत्वों का उचित संतुलन काव्य में दिखलाया। विशेषतः गुण और अलंकार को उनके वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। गुण वे ही धर्म होते हैं जो रस-लक्षण मुख्य अर्थ के ऊपर अवलम्बित रहते हैं। अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ पर ही आश्रित रहनेवाले अनित्य धर्म है। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनि को छोड़कर औचित्य तत्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः औचित्य तथा ध्वनि परस्पर उपकारक तथ्यों के काव्य-जगत् में अवतीर्ण होते हैं।

साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य क्षेमेन्द्र थे। ये स्वतः ध्वनिवादी थे तथापि 'औचित्य विचार चर्चा' नामक अपने ग्रन्थ में इन्होंने औचित्य को व्यापक श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को

ही प्राप्त हैं। औचित्य किसे कहते हैं। इसका उत्तर देते हुए सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते हैं 'उचित' और उचित का ही भाव होता है—औचित्य।¹

“उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं यस्य यत्।

उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते।।”

(औचित्यविचार चर्चा, कारिका 7)

यह औचित्य ही रस का जीवित-भूत है, उसका प्राण है तथा काव्य में चमत्कारकारी है।

“औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रस-जीवित-भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।”²

(औचित्यविचार चर्चा, कारिका 3)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किये हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखा कर तथा इसके अभाव को अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। औचित्य की विशद विवेचना कर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र में इसे व्यवस्थित रूप दिया। परन्तु इन्हें ही इस सम्प्रदाय का उद्भावक मानना भयंकर

1. आचार्य क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा, कारिका 7

2. वही पृष्ठ कारिका 3

ऐतिहासिक भूल है। क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है। इनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद 'ध्वन्यालोक' में पूर्णतया विद्यमान हैं। सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न नो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है। क्षेमेन्द्र का यह महत्वपूर्ण कथन है—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,¹

पाणों नुपूरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।

शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायन्ति के हास्यतां ।

औचित्येन बिना रुचि प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणः ।।

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को पिछले युग के आलंकारिकों ने अपनी काव्य-कल्पना में औचित्य के तत्व को पूर्णतः स्वीकार किया और अपनी समीक्षा में इसका उपयोग किया ।

रसालंकृति-वक्रोक्ति-रीतिध्वन्यौचिती-कमाः ।²

साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाया इमे स्मृताः ।।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में हम यह पाते हैं कि काव्य-शास्त्रीय मूल्यांकन का आधार काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों में निहित है । काव्य के दो पक्ष हैं- भाव पक्ष एवं कला पक्ष । भावपक्ष के अन्तर्गत रसानुभूति आती है । रसानुभूति के बाधार्थ रस एवं ध्वनि सिद्धान्त का बोध आवश्यक है । कलापक्ष के निरूपण में वक्रोक्ति, रीति, अलंकार का अध्ययन उपयोगी है । वक्रोक्ति एवं रीति, भंगिमा एवं संरचना की व्याख्या करती हैं । अलंकार अर्थ की विवृत्ति की ओर इंगित करते हैं । इन सबके समवेत प्रयोग विधि को औचित्य कहते हैं । औचित्य रचनाकार की दिग्दर्शिका है । काव्य-शास्त्रीय मूल्यांकन में उभयपक्ष के सन्तुलन का बोध

1. संस्कृत आलोचना, पृ० 289 ।

2. वही पृ० 289 ।

आवश्यक है । किसी भी कवि के काव्य में दोनों पक्ष (भाव पक्ष एवं कला पक्ष) विद्यमान रहते हैं । कुछ कवियों में रसानुभूति के अधिक अवसर होते हैं । ऐसे कवि रस प्रधान होते हैं । कुछ कवियों में कलापक्ष की प्रधानता होती है । रसखान ऐसे कवि हैं जिनके काव्य में रस की प्रधानता है । रसानुभूति के लिए साधारणीकरण का बोध आवश्यक है । साधारणीकरण के प्रसंग में अनुभूति और संवेदना विवेचनीय हैं ।

रसखान का काव्य-शास्त्रीय मूल्यांकन

(अ) अनुभूति और संवेदना : मानव सृष्टि का ऐसा प्राणी है जिसमें ही अनुभूति एवं संवेदना का सम्यक् विकास हुआ है । जब हम साहित्य में अनुभूति एवं संवेदना पर विचार करते हैं तो इनका

महत्व आदि कवि से ही दिखाई देने लगता है। आदि कवि ने क्रौंच के जोड़े में से एक को मारते हुए बहेलिये को देखा तथा उनकी अनुभूति (दुःखपरक) काव्य की संवेदना में परिवर्तित हो गई।¹

मा निषाद प्रतिष्ठाम त्वम गमः शाश्वती समाः
यद् क्रौंच मिथुनादेकं अवधीः काम मोहितम्॥

प्रथम कवि का प्रथम छन्द दुःख से उत्पन्न हुआ। अनुभूति के अनेक रूप हैं इसे स्थूल रूप से सुख-दुःख कहा जाता है। अनुभूति से संवेदना तथा संवेदना से रस उत्पन्न होता है इसलिए भरत मुनि ने कहा था—सुख दुःखात्मको रसः¹ ये सुख और दुःख अनुभूति के अंश हैं। तुलसी ने प्रकारान्तर से इस प्रकार व्यक्त किया है¹ 'जो बरसै वर वारि विचारु। होहिं कविता मुकुता मनि चारु॥ निरन्तर अनुभूति की प्रेरणा काव्य को जन्म देती है। काव्य के विकास में संवेदना का महत्वपूर्ण इतिहास है, प्रसाद का यह कथन इस संदर्भ में उद्धरणीय है—²

‘चेतना का सुन्दर इतिहास, अखिल मानव भावों का सत्य’ मानवता के

1. वाल्मीकि : रामायणः बालकाण्ड
2. तुलसीदास : रामचरितमानस : बालकाण्ड
3. जयशंकर प्रसाद : कामायनी : श्रद्धासर्ग।

भाव को उद्घेलित करने वाला तत्व साहित्य है तथा साहित्य और संवेदना का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। स्रष्टा सामाजिक प्राणी है। वस्तुतः भावानुभूति ही काव्य में रस के परिपाक में मदद करती है।

भावानुभूति और रस : काव्य का लक्ष्य रस परिपाक होता है। रस परिपाक में भाव महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भरतमुनि ने दोनों के सम्बन्ध को इस प्रकार दिखाया है— ‘न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जितः।

रस की निष्पत्ति भावों के विविध स्वरूपों के सम्मिश्रण से होती है। ‘विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भाव ही रस से पुष्ट होकर विभाव अनुभाव आदि का रूपधारण करते हैं। इन्हीं के उचित सम्मिश्रण से काव्य में हृदय संवादी गुण का

विकास होता है। एक के हृदय का दूसरे के हृदय के अनुरूप होना ही संवाद कहलाता है। आलोचकों ने हृदय संवाद और साधारणीकरण को पर्यायवाची माना है। साधारणीकरण रसानुभूति की पराकाष्ठा है। इसी स्थल पर आकर कवि की भावधाराएं सर्वसाधारण की भावनाएं हो जाती हैं।

अनुभूति एवं संवेदना का पर्यावसान रसानुभूति में होता है। रस के स्वरूप अन्वेषण के लिए हमें संस्कृत साहित्य की ओर उन्मुख होना पड़ता है। संस्कृत आचार्यों ने रस के स्वरूप पर बड़े विस्तार से विचार किया है। आचार्य भक्त, अभिनवगुप्त और विश्वनाथ के मत इस दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। आचार्य विश्वनाथ ने रस की स्वरूप की व्याख्या करते हुए लिखा है—¹

सत्त्वोद्रेकादखण्डश्च प्रकाशानन्दचिन्मयः

वेदान्तरस्पर्श शून्यो ब्रह्मस्वाद सहोदरः

लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः

स्वाकारवदभिन्न त्वेनोयामास्वाद्यते रसः

1. आचार्य विश्वनाथ : साहित्य दर्पण।

अर्थात् रस सत्त्वोद्रेक प्रधान होने के कारण अखण्ड रूप, प्रकाशात्मक आनन्द रूप, चैतन्य स्वरूप, वेदान्तर स्पर्शशून्य, ब्रह्म स्वाद सदृश लोकोत्तर चमत्कार से अनुप्राणित रहता है।

साधारणीकरण

रसानुभूति की प्रक्रिया तब तक स्पष्ट नहीं हो सकती जब तक साधारणीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या न की जाय। संस्कृत काव्य में रस सामग्री या उपकरण के आधार पर रस स्वरूप की व्याख्या की गई है रस सिद्धान्त के प्रथम आचार्य भरत ने सूत्र रूप में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव (कर्मचारी भाव) के रस निष्पत्ति का उल्लेख किया था — विभानुभाव व्यभिचारी संयोगाति, रस निष्पत्ति। इस निष्पत्ति की व्याख्या को लेकर आचार्यों में मतभेद रहा। रसानुभूति की प्रक्रिया को तीन सम्प्रदायों के समाधान के रूप में देखा गया —

1. जब विभावादि प्रत्यक्ष नहीं होते तो फिर उनसे साक्षात् रसानुभूति कैसे होगी।
2. बहुत से विभावादि पूज्य भावना से प्रतिष्ठित रहते हैं, तब इन पूज्य व्यक्तियों की रत्यादि में रसास्वादन करने में सामाजिक कैसे समर्थ होगा।
3. करुण रस का स्थायी भाव शोक है। यह दुखात्मक है, वह रस के रूप कैसे अनुभूत होता है।

आचार्यों ने रस-सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में इन तीनों समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की। भट्टलोल्लट शंकुक आदि की व्याख्याएं उपर्युक्त तीनों समस्याओं में से केवल प्रथम के सुलझाव का स्पर्श करके रह गईं। भट्टलोल्लट के आरोपवाद ने विभवादि की प्रत्यक्षता रज्जु सर्पवत् सिद्ध की और शंकुक ने चित्र तुरगादि न्याय के आश्रय से उनके अतीतत्व दोष का निराकरण करने का प्रयास किया है किन्तु भ्रम के ये दोनों सिद्धान्त विद्वानों को प्रभावित न कर सके। इस दिशा में आचार्य भट्टनायक ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने साधारणीकरण के सिद्धान्त की कल्पना कर सभी समस्याओं का समाधान खोज निकाला। इन्होंने अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया — अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व नामक काव्य का दूसरा व्यापार होता है। उस भावकत्व व्यापार से भाव्यमान होकर स्थायी भाव रजस-तमस से विच्छिन्न होकर रस रूप में जिसकी प्रमुख विशेषताएं घृति, विस्तार और विकास है, अनुभूत होता है। आचार्य मम्मट ने इस प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट किया। अभिधा तथा लक्षणा व्यापारों से भिन्न विभवादि के साधारणीकरण स्वरूप 'भावकत्व नामक व्यापार से साधारणीकृत स्थायी भाव के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय की स्थिति के सदृश 'भोजकत्व' नामक व्यापार से आस्वादित किया जाता है। भट्टनायक ने अपने साधारणीकरण व्यापार में विभाव और स्थायी भाव दोनों के साधारणीकरण का होना बताया है। उनका यह कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय¹ है। "भावकत्वं साधारणीकरणम् तेन हि व्यापारेण विभवादायः स्थायी च साधारणीक्रीयन्ते, साधारणीकरणं चैतदैव यत् सीतादि विशेषणम् कामिनीत्वादि सामान्येन परिस्थिति।"

अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस भावकत्व या साधारणीकरण व्यापार से विभवादि और स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण का अर्थ है सीतादि का साधारण कामिनी रूप मात्र में रह जाना। स्थायी भाव के रजोगुण और तमोगुण का परिहार हो

जाता है और स्थायी भाव केवल सत्वोद्रेक मात्र रह जाता है। यह सत्वोद्रेक ही रस कहलाता है। भोग व्यापार से इसी का भोग होता है। भट्टनायक के साधारणीकरण को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. अभिधा से काव्यार्थ का बोध।
2. भावकत्व व्यापार से पहले विभवादि का साधारणीकरण होना अर्थात् उसका व्यक्तिगत सम्बन्धों से विच्छिन्न होना।
3. काव्यस्थ स्थायी भाव का साधारणीकरण तथा सतोगुण का उद्रेक होना अर्थात् उसका व्यक्तिगत सम्बन्धों से विच्छिन्न होना।

1. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत्र : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, पृ० 211

अभिनवगुप्त का मत — उन्होंने साधारणीकरण केवल विभाव और काव्य के स्थायी भाव का नहीं माना, दर्शक के स्थायी भाव के साधारणीकरण की बात भी स्वीकार की। किसी सहृदय के द्वारा ही स्वीकार से अभिन्न रूप में आस्वादित किया जाता है। उपर्युक्त पंक्तियों के प्रकाश में रस की निम्नलिखित विशेषताएं व्यंजित होती हैं—

1. रस का सम्बन्ध केवल सतोगुण से होता है। रसानुभूति की अवस्था में रजोगुण और तमोगुण का परिहार होता है। रज और तम से प्रेरित ममत्व और परत्व की भावनाओं का लोप हो जाता है।
2. रस आस्वाद रूप है। वह आस्वाद भी माधुर्य रूप होता है। इसका आस्वादन केवल सहृदयों को ही हो सकता है। सामान्य मानवों को नहीं।
3. इसका उदय अखण्ड और अद्वैत रूप में होता है। इसमें विभाव अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि की पृथक्-पृथक् स्थिति नहीं होती। ये समस्त मिलकर अखण्ड और अद्वैत रस रूप में प्रतिभासित होते हैं। अद्वैत का रूप होने के कारण अन्य लौकिक और अलौकिक अनुभूतियों का तिरोभाव हो जाता है।
4. यह अखण्ड और अद्वैत रूपिणी अनुभूति चिन्मय होती है उसमें ज्ञान की प्रतिष्ठा रहती है। वह जड़ रूप नहीं होती—वह ज्ञान प्रकाश रूप होती है।

5. इस प्रकार के रस से उद्भूत होने वाला आनन्द एक विशेष लोकोत्तर चमत्कार से चमत्कृत रहता है। यह चमत्कार ही उसकी अभिव्यक्ति में एक विचित्र आकर्षण भर देता है। वास्तव में रसानुभूति स्थूल और भौतिक न होकर सूक्ष्म और आध्यात्मिक होती है। किन्तु यह आध्यात्मिकता सच्ची आध्यात्मिकता की प्रतिबिम्ब मात्र होती है। इसीलिए उसे 'ब्रह्मस्वाद सहोदर' अथवा 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा गया है।
6. रस न तो ज्ञाप्य होता है और न कार्य। उसका साक्षात् अनुभव भी नहीं होता। लौकिक शब्दों में उसकी व्यंजना नहीं की जा सकती। इसीलिए उसे अनिर्वचनीय और अलौकिक मानते हैं। उसकी समता निर्विकल्पक समाधि से भी नहीं कर सकते क्योंकि उस अवस्था में अहंकार-भावना का सदा के लिए विनाश हो जाता है किन्तु रसानुभूति की अवस्था में उसका परिहार केवल क्षणिक मात्र होता है।

संक्षेप में यह रस की प्रमुख विशेषताएं हैं। भावानुभूति तथा संवेदना के व्यापक क्षेत्र का पता हमें तब चलता है, जब हम रस के विभिन्न भेदों का स्वरूप विश्लेषण करते हैं। भरतमुनि ने रसों की संख्या आठ मानी है। उनके अनुसार शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स ये चार ही प्रमुख रस हैं। इन्हीं से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस की उपत्पत्ति होती है तथा उन्होंने रसों के बारे में कहा—“अष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः”। तथा आठों रसों को इस प्रकार गिनाया है—¹

“शृंगार हास्य करुण—रौद्र वीर भयानकाः

वीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्येष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः।।

इसके बाद उन्होंने शान्त रस को नवां रस माना है — ‘शान्तोऽपि नवमो रसः’

सामान्यतया नव रस मानने की ही परम्परा है। विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण वत्सल रस की सागोपांग विवेचना की है। परवर्ती काव्य—शास्त्र में भक्ति रस को भी मान्यता मिली है। रस इन अंगों के विवेचना में संवेदना का विवेचन हो जाता है। वस्तुतः रसानुभूति के केन्द्र में संवेदना विद्यमान रहती है।

(ब) अभिव्यक्ति सौन्दर्य :- प्रथम खण्ड में अनुभूति और संवेदना में रसनाभूति को परिभाषित किया गया है। यहां यह बताने का प्रयास किया गया है कि भाव से रसानुभूति किस प्रकार जुड़ी रहती है। रसखान श्रृंगार रस के प्रखर कवि हैं उनकी रसमयता में ही उनकी कला पहचानी जा सकती है। जहां तक भावाभिव्यक्ति का प्रश्न है इस भक्त कवि के रस पेशलता के बाद ही उसका स्थान है। काव्य के दो पक्ष हैं—अनुभूति पक्ष तथा अभिव्यक्ति पक्ष। अभिव्यक्ति का पूरा संभार काव्य—भाषा पर अवलंबित है। जहां तक रसखान की काव्य—भाषा का प्रश्न है उनकी भाषा ब्रजभाषा है तथा कृष्ण जैसे नायक को पाकर वह और मधुर हो गयी है। भागवत के विषय में कहा गया है कि—¹

निगम कल्पतरुर्गलितं फलं शुक मुखादमृत द्रव संयुतम्

पिवत् भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः

शुक जिस फल को चख लेता है वह मीठा हो जाता है। इस प्रकार भागवत की कथा शुक देव जी कहने से मीठी हो गई है। यही कथन रसखान के बारे में भी सत्य है। रसखान ने कृष्ण की जिस माधुर्य भक्ति का निरूपण किया है उसे व्यक्त कर ब्रजभाषा धन्य हो गई है। वाणभट्ट ने आख्यायिका के माध्यम से भाषा के सौष्टव का जो वर्णन किया है वह रसखान के काव्य—भाषा पर भी लागू होता है—² स्फुरतकला लाप विलास कोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्। रसेन शय्यां स्वयमभ्युगता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव।।

शोभित मनोहर आभूषण की मधुरता से कोमल शब्द योजनावाली नई कथा, शोभमान मनोहर आलाप के विलास से सुकुमार और शय्या को प्रचुर कौतुक को उत्पन्न करती है। वस्तुतः रसखान की अभिव्यक्ति भंगिमा में नवपरिणीता वधू की भांति आकर्षण है। उसमें माधुर्य का अभिनव प्रवाह है। प्रेम की कालिन्दी यहां प्रवणता के साथ निरन्तर प्रवाहमान है।

अभिव्यक्ति सौन्दर्य के निदर्शन :-

रसखान की काव्य—यात्रा एक भंवर है। बार—बार घूमकर फिर शुरू करना है। बार—बार एक ही मूर्ति के चारों ओर घूमना है। लेकिन भ्रम यही रहता है कि हम नहीं घूम रहे, वह मूर्ति ही घूम रही है। वह मूर्ति ही चंचल है जो

1. भरत : नाट्यशास्त्र।

उसको स्थिर मानकर ध्यान करते हैं, वे उन्हें ढूँढ़ते ही रह जाते हैं, उनका अन्त नहीं पाते, वे स्वयं खो जाते हैं जो लोग उन्हें चंचल रूप में देखते हैं, उनके लिए वे वैसे ही सुलभ हैं, जैसे रसखान की अहीर की छोहरियों के लिए छछियाभर छाछ पर नाचने के लिए तत्पर, एवं आतुर हैं और ब्रज के पानी में मथे हुए वही की छाछ पर तो निश्चय ही वे अपने को न्यौछावर करने के लिए आतुर हो जाते हैं—¹

गावैं गुनी गनिका गन्धर्व और सारद सेष सबै गुन गावत।
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यों ब्रह्मा विलोचन पार न पावत।।
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरन्तर जाहि समाधि लगावत।
ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत।।

ऐसा चपल सौंदर्य भी कभी—कभी छक जाता है और कहीं छिपना चाहता है, लोग पुकार लगाते—लगाते थक जाते हैं, कोई उनका पता नहीं बताता, पता बताये भी तो कैसे? वे छिपते हैं उस निकुंज में जहां राधिका मान किए बैठी है और मनाने के लिए श्रीकृष्ण को छिपकर आने की लाचारी हुई है, आने की ही नहीं, राधिका के पांव पलोटने की भी लाचारी हुई है—

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यो पुरानन गानन वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ कबहुं न किंतू वह कैसे सरूप और कैसे सुभायन।।
हेरत हेरत हारि पर्यौ रसखानि बतायौ न लोग लुगायन।
देखौ दुरौ वह कुंज—कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका पायन।।

रसखान की वृत्ताकार काव्य—यात्रा का केन्द्र है—राधा—कृष्ण का प्यार, विराट् आकाश का माटी के साथ प्यार, सूर्य का अगहन के कुहासे से ढकी हुई नक्षत्रमाला अनुराधा से प्यार।

1. सुजान रसखान सवैया, पृ० 26

रसखान की एक गोपी ने राधा के सौन्दर्य का वर्णन ही इस प्रकार किया है, 'वासर तू जु कहीं निकसै रवि को रथ मांझ अकास अरै री'। यदि दिन में तू कहीं निकलती है तो सूर्य का रथ आकाश में अटक जाता है। माटी की प्रीति का वर्णन रसखान ने इस प्रकार किया है—

कहां कहूं आली कछु कहती बनै न दसा
नंदजी के अंगना में कौतुक एक देख्यौ मैं।
जगत के ठाटी महापुरुष विराटी जो निरंजन
निराटी ताहि माटी खात देख्यौ मैं॥

क्या कहूं कहते नहीं बनता नंदजी के आंगन में विलक्षण तमाशा देखा। निरंजन और विराट पुरुष को माटी खाते देखा। यह प्यार प्राणों को प्राणों के साथ प्यार है। यह अग्नि और सोम तत्व का एक—दूसरे में अन्तर्भाव है।²

रसखान की काव्य—यात्रा में कोई पड़ाव नहीं है, कहीं विश्राम लेने को मन नहीं करता क्योंकि एक तो यात्रा ही ऐसी है जिसमें एक क्षण के लिए भी विह्वलता कम नहीं होती और दूसरे यह कि ऐसे चपल के साथ प्रीति की यात्रा है जो बार—बार झांसा देता रहता है, हाथ में आकर के फिर निकल जाता है। जब वह खड़ा रहता है, तब भी उसका अंग—प्रत्यंग गतिशील रहता है, नाचता रहता है, और उसकी प्रत्येक बांकी भंगिमा में मन लुभाता चला जाता है। लुभता ही नहीं, जैसे रांगा गला करके किसी में ढाल दिया जाय वैसे ही उस भंगिमा में मेरा शरीर ढल जाने के लिए रांगा हो जाता है और यह सब होता है पहले ही दर्शन में, बिना किसी पूर्व परिचय के। कभी वह मेरी गली से इसके पहले नहीं निकला। एकाएक कालिन्दी के तीर पर उसे खड़े देखा और यह रूपान्तर हो गया, अगर कहीं परिचय होता तो जाने क्या होता।

माइ सुहाइ न या पै कहूं यह न कहूं यह मेरी गरी निकर्यौ है।

धीर समीर कालिन्दी के तीर, खर्यो रहै आजु री दीठि पर्यो है॥

1. सुजान रसखान सवैया, पृ० 26
2. वही पृ० 216

ऐसे अपरिचित का प्यार सब को नहीं मिलता और मांगे भी नहीं मिलता है, यह तो सहज ही मिलता है और वृन्दावन की सहज भूमि में ही मिलता है, औचक मिलता है। कभी-कभी तो सोते समय मिल जाता है।

काहू न चौजुग जागत पायो सो राति जसोमति सोवत पायो।

जिसे किसी ने किसी भी युग में रात-रात जागकर नहीं पाया उसे यशोदा ने सोते पा लिया। इसीलिए रसखान की काव्य-यात्रा को समझने के लिए ब्रज की जमीन को समझना बहुत जरूरी है। इस ब्रज-भूमि का बड़ा ही विचित्र हिसाब है। इसकी रेत इसकी सरिता है, और इसकी नदी विरह के उद्वेग में बोलती हुई नहर, इसके पाहन को छप्पन भोग लगता है और इसके तमाल के अन्धकार में नीले और सुनहले प्रकाशों का खेल होता है। इसमें श्रीकृष्ण के उपद्रव के कारण प्यार होता है और जब प्यार हो जाता है तो यह प्यार ही सबसे बड़ा उपद्रव हो जाता है और ऐसा उपद्रव हो जाता है कि न इसे सहा जा सकता है, न इसके बिना रहा जा सकता है—

काहू को माखन चाखि गयो अरु काहू को दूध दही ढरकाया¹।

काहू के चीर लै रुख चढ्यौ अरु काहू को गुंज छरा छहरायो।।

मानै नहीं लरजै रसखान सुजानो ही राज इन्हें घर आयो।

आउरी बुझैं जसोमति सों यह छोहरा जायो कि भय उपजायो।।

वह ब्रज एक ओर खुलेपन के लिए निमंत्रण है, दूसरी ओर इस निमंत्रण में सब कुछ खो जाने का जोखिम है, एक वर्जन है, हालांकि इस वर्जन पर कोई ध्यान नहीं देता क्योंकि आमन्त्रण अधिक प्रबल है। राधिका को एक गोपी बरजती है—गांव के बाहर गोरस बेचने वन से जाओ, वन में सघन कुंज है, वहां श्रीकृष्ण बैठे रहते हैं और कचनार ने डालों पर फूल नहीं खिले हैं,

मारक और बेधक प्यार खिलखिला रहा है, वहां जाओगी तो तुम्हारी लाज तुम्हें संभाल नहीं पायेगी, लाज स्वयं विश्रुंखल हो जाएगी, मत जाओ—

1. सुजान रसखान कवित्त, पृ० 184

जाहि री ना भटू क्यों करि कै बन पैठत पाइबी लाज संभार न।

कुंजनि नंदकुमार बसै तहां मार बसै कचनार की डारन॥

इस दुर्निवार आमन्त्रण के वन में रसखान के साथ मैं प्रवेश कर रहा हूं। अपनी काव्य—यात्रा का संकल्प लेते समय इब्राहीम मियां ने प्रेमदेव की छवि छककर उनका नाम रसखान ले लिया और रसखान का नाम हिन्दी साहित्य में एक सार्थक नाम बन गया। रसखान के लौकिक प्रेम के अलौकिक प्रेम में रूपान्तर की कथा प्रसिद्ध है। रसमय ब्रज क्षेत्र में उनकी समाधि है। यह भी एक अद्भुत संयोग है कि रसखान अतृप्त आकांक्षाओं के वन में सोये हैं। 'उनका काव्य वियोग—विधा की मजूरी उनकी भाषा ब्रजभाषा के उसखरिक की भाषा है, जो श्रीकृष्ण के हृदय में खरकता रहता है, क्योंकि वह भाषा छल—कपट रहित सीधी भाषा है। उस भाषा में सम्बोधन करने वाला और सम्बोधित होने वाला व्यक्ति दो नहीं है एक ही है, वही अपने आप गोपी बनता है, वही अपने आप कृष्ण बनता है, अपने आप उलाहना देता है, अपने आप उत्तर देता है, कभी अकेला हो जाता है तो सोचता है सब ऐश्वर्य झूठ है, यह सारा राजपाट व्यर्थ है—¹

ग्वालन संग जे वन ऐबो सु गाइन संग,
हेरि तान गइबो हाहा नैन फरकत है।
ह्मां के गजतोती माल वारैं गुंजमालन पै,
कुंज सुधि आए हाय प्रान धरकत है।
गोबर को गारो सुतौ मोहि लगै प्यारौ,
कहा भयौ महल सोने को जटित मरकत है।
मन्दिर ते ऊंचे यह मंदिर है द्वारिका के,
ब्रज के खिरक मेरे हिए खरकत है॥

वही कभी गोपी होकर पछताता है और बरजता है 'जो कोई चाहे भलो अपनो तो सनेह न काहूं सों कीजियो भाई' पर स्वयं इस दुर्निवार प्रेम में फंसा ही रहता है। रसखान का संसार

देखने में छोटा है, ब्रज के कुछ हजार गोप-गोपियों का संसार है। पर वस्तुतः बड़ा विस्तृत है, क्योंकि बहुत खुला हुआ

1. सुजान रसखान कवित्त, पृ० 99

है, क्योंकि कहीं बीच में कोई ओट या दीवार नहीं है। अगर ओट है तो वह भी अपने ही सीधेपन की, अपने ही संकोच की ओट है। रसखान का मान एक बींधा हुआ मन है, एक अपने ही आपसे दिया हुआ मन है। ऐसे कवि के बारे में कुछ भी कहते समय यह सुधि नहीं रहती कि कहां से शुरू करें, जिस लीला-वितान का गान रसखान ने किया है, उसका न कहीं आदि है और न अन्त। इस लीला का प्रत्येक क्षण अपूर्व है। रसखान का समय लगभग सत्रहवीं शताब्दी है। ये पिहानी, जिला हरदोई में जन्मे। इनका नाम सैयद इब्राहीम था। इनकी जवानी दिल्ली में बीती। इन्होंने दिल्ली से ब्रज आने की कथा इस प्रकार दी है—¹

देखि गदर हित साहिबीं दिल्ली नगर मसान
छिनही बादसाह बंस की ठसक छोड़ि रसखानि।
प्रेम निकेतन श्रीवनहिं आय गोबरधन धाम
लह्यौ सरन चिंतचाय के जुगल सरूप ललाम।।

इस परिचय से यह संकेत मिलता है कि कोई बहुत बड़ी उचाट इनको हुई जिससे इन्हें लगा कि दिल्ली नगर श्मशान हो गया है और बादशाही ठसक बिल्कुल थोथी है और ये ब्रज की ओर मुड़ गये। इनको लौकिक प्रेम निस्सार लगा और श्रीकृष्ण के प्रेम में ये पागल हो गए और ब्रज में ही बस गए। किसी ने कहा, 'तुम्हारी रियासत छिन जाएगी।' तो उन्होंने उत्तर दिया, कहा करै रसखान को को ऊचुगुल लबार, जोपै राखनहार है माखन चाखनहार। रसखान ने जिस प्रेम-पंथ की साधना की वह विधि-निषेध से परे था, कामना से परे था, दम्पत्ति सुख अति विषयरस पूजा निष्ठा ध्यान, इन तैं परै बखानिए सुद्ध प्रेम रसखान।' इनका प्रेम सांसारिक प्रेम, पारलौकिक प्रेम, किसी भी दूसरे लगाव से बड़ा लगाव था, ऐसा लगाव था जिसको पाकर न बैकुण्ठ की चाह रह जाती है, न बैकुण्ठनाथ की। केवल उनके प्रेम की ही चाह रह जाती है—¹

जेहि पाए बैकुण्ठ अरु हरिहुं की नहिं चाहि ।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि ॥

प्रेम श्रीकृष्ण का वह रूप है जो सबको छूता है। कभी छूकर तपाता है, कभी छूकर हर्षाता है। वह साक्षात् श्रीकृष्ण है। पर ऐसे अलग लगता है जैसे सूरज से धूप अलग लगती है। सूरज की सार्थकता है धूप होने में, श्रीकृष्ण की सार्थकता है प्यार होने में। ऐसे प्रेम को श्रीकृष्ण भी बड़प्पन देते हैं और वे क्या-क्या नहीं सुनते। कभी तो कोई कहता है—‘सब बेधत प्रानौ नन्द के छैनो’। कभी छछिया भर छाछ पै नाच नचाता है’, कभी कोई कहता है कि यह बांसुरी नहीं बजाता, विष बगराता है—²

दूध दुहयो सीरो पर्यो तातो न जमाओ कर्यो ।
जामन दयो सो धर्यो धर्योई खटाइगो ।
आन हाथ आन पाइ सबही के तबहीं ते,
जबहीं ते रसखानि तानन सुनाइयो ॥
ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसी ये तरुन बारी
कहिए कहा री सब ब्रज बिललाइगो ।
जानिए न आली यह छोहरा जसोमति को
बांसुरी बजाइगो कि विष बगराइगो ॥

इसके मारे सारा ब्रज व्याकुल है। ऐसी बांसुरी बजाता है कि प्राणी खींच लेता है। कभी इन्हें उलहना मिलता है कि चोर है, बटमार है, बरजोरी करता है। कभी कोई कहता है, ‘अरे हरि चेरी के चरो भयो है’, कुबरी दासी के दास हो गए हैं श्रीकृष्ण। और कभी उस पर इतना प्यार आता है कि ‘मेरे बनमाली को न काली तें छुड़ावही’ मेरे बनमाली को कालिय नाग से कोई नहीं छुड़ाता।’

राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, मद, मोद, सब श्रीकृष्णमय हो जाते हैं, क्योंकि इन सबके आलम्बन श्रीकृष्ण बन जाते हैं और श्रीकृष्ण के आलम्बन बनने पर कोई

1. सं० डा० विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली पृ० 122

2. सुजान रसखान कवित्त पृ० 52

दूसरा आलम्बर रह नहीं जाता, आश्रय भी आलम्बन बन जाता है। जिस पर क्रोध करें, जिससे प्यारे करें, जिससे ईर्ष्या करें, जो नाश बन जाय, जो मोह बन जाय, वह सब श्रीकृष्ण ही तो हैं। सारे भाव संचारी चाहे स्थायी श्रीकृष्ण हो जाते हैं। श्रीकृष्ण केवल आलम्बन विभाव ही नहीं व उद्दीपन विभाव भी हो जाते हैं। मोहन की हंसी, मोहन के केश—पाश, मोहन की अलकावली के आगे और मोहन के गले में पड़ी कोरी वनमाला और उसकी उन्मद गन्ध ही उद्दीपन बन जाती है। सारे अनुभाव ही श्रीकृष्ण हो जाते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण को देखना श्रीकृष्ण होना, है, श्रीकृष्ण का आस्वाद लेना श्रीकृष्ण होना है, श्रीकृष्ण को सूँघना श्रीकृष्ण होना है। श्रीकृष्ण के स्पर्श से जो रोमांच होता है वह भी श्रीकृष्ण हो जाता है। जहां कहीं भेद दीखता भी है वह अपना पैदा किया हुआ नहीं है वह भी विराट का एक छल है। वह अपनी प्रतीति हजार रूपों में कराना चाहता है और प्रत्येक रूप को अपूर्व दिखलाना चाहता है। तुलनीय— ‘रूपों रूपो प्रतिरूपो बभूव’

रसखान सच्चे अर्थ में मरजीवा कवि है, ऐसी बेखुदी के शिकार हो गये हैं कि वे रसखान भी नहीं रह पाते, वे सब कुछ भूल जाते हैं पर वह भूल नहीं भूलते जो उनसे एक बार हो गयी है। वह भूल यह हुई कि वह श्रीकृष्ण से प्यार कर बैठे। जिस प्रकार वह गोपी प्यार करने की भूल कर बैठी जो तीर्थयात्रा की भीड़ में भटक गई थीं। धाय की बांह छुट गई भटकती हुई यशोदा के भीतर की तरफ चली गई और वहां एकाएक श्रीकृष्ण की मुसकान पर उनको प्यार करने की भूल कर बैठी और सब तो भूल गई, भटकना भूल गई, पर श्रीकृष्ण से प्यार करने की भूल नहीं भूलती, न उनके पीछे रात—दिन का भटकाव भूलता है—¹

तीरथ भीर में भूलि परी अलि छूट गई नेकु धाय की बांही।
हौं भटकी भटकी निकसी सु कुटुम्ब जसोमति की जिहिं धांही।
देखत ही रसखान मनौ सु लग्यौ रही रह्यौ कबको हियरा हीं।
भांति अनेकन भूली हुती उहि धौंस की भूलनि भूलत नाहीं।।

यह बेखुदी बड़ी संक्रामक है, जो भटकाते हैं, वे भी भटक जाते हैं,
जो लुभाते हैं वे भी लुभ जाते हैं, जो छलते हैं वह भी छल जाते हैं

और बेखुदी का एक आलम छा जाता है जब यह स्थिति होती है कि प्रेमी और प्रेमिका को अपनी-अपनी भूमिका भूल जाती है। श्रीकृष्ण को गायें भूल जाती हैं, राधा को गागर उठाना—²

एरी आज काल्हि सब लोक लाज त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसायबो।
वह रसखानदिन द्वैमें बात फैलि जैहे,
कहां लौ सयानी चन्द हाथनि छुपायबो।
आज हौं निहार्यों बीर निपट कालिंदी तीर,
दोउन को दोउन सों मुख मुसकायबो।
दोऊ परै पैयां दोऊ लेत है बलैयां
उन्हें भूलि गई गैयां इन्हें गागर उठायबो॥

जो गागर लेकर राधा जमुना किनारे गई थीं वह गागर जल से नहीं भरी थी। वह स्मृतियों से भरी हुई थी, वे स्मृतियाँ एक पारावार पूरन अनुभव के आगे कहाँ टिक पाती हैं, वे जहां रखी गई वहीं रखीं हैं और एक जादू दोनों पर छा जाता है।¹

रसखान प्रेम को एक शिखा के रूप में देखते हैं जो वियोग के ताप में सुलगती रहती है। खौलते हुए स्नेह में तपती रहती है, थोड़ी-थोड़ी भीतर भभकती भी रहती है। पर जब प्रिय के आने की बात की आग बाहर प्रकाश बन जाती है—²

मोहन जू के वियोग की ताप मलीन महा द्युति देह तिया की।
पंकज सों मुख गो मुरझाय लगैं लपटैं बिरहागि हिया की॥
ऐसे में आवत कान्ह सुने रसखान सु तनी तरकी आंगिया की।
यों जगि जोति उठी तन की उकसाय दई मनौं बाती दिया की॥

1. सुजान रसखान सवैया, पृ० 197

2. सुजान रसखान कवित्त, पृ० 59

रसखान केवल रूप की प्यास नहीं जगाते, वे नाद की विद्धता भी जगाते हैं और इसीलिए उनके मन में सबसे अधिक गांस अगर किसी वस्तु की तो बांस की बांसुरी से। ब्रज में उससे बड़ी बैरिन कोई नहीं। बांसुरी बजती है तो सारे काम—काज बिला जाते हैं, कुछ करते—धरते नहीं बनता। मन में यही होता है कि सारे के सारे बांस कटा डालें। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। इसके मारे जो जल में है वह घड़ा भर नहीं पाता। जो रास्ते में है चल नहीं पाता। जो घर में है कुछ कर नहीं पाता। तन—मन ऐसा बेहाल हो जाता है कि कुछ कहते नहीं बनता। लोक हंसाई ऊपर से होती है—

जल की न घट गरें मग की न पग धरें
 धरें की न कछु करैं बैठी भरें सांसु री॥
 एकै मुनि लोट गई एकै लोटपोट भई
 एकनि के दृगन निकसि आये आसुरी॥
 कहै रसनायक सो ब्रज वनितानि विधि
 बधिक कहायें हाय हुई कुल हांसुरी॥
 करिये उपाय बांस डारिये कटाय
 नाहिं उपजैगो बांस नाहिं बाजै फेरि बांसुरी॥¹

बांसुरी केवल हमको बींधती, इतना ही नहीं वह श्रीकृष्ण को इतना बस में किए हुए है कि रात—दिन संग लगी रहती है। अब इस सौत की सांसत कौन सहे, अब तो लगता है कि ब्रज में केवल बांसुरी ही रहेगी हम लोग कहीं दूसरी जगह भाग चलें—

जग कान्ह भये बस बांसुरी के अब कौन सखी हमको चाहिहै।
 यह राति दिन संग लागि रै वा सौति कि सांसन को सहिहै॥
 जिन मोहि लियो मन मोहन को रसखान सु क्यों न हमें दहिहै।
 मिलि आओ सबै कहि भागि चलै अब तो ब्रज में बांसुरी रहिहै॥²

1. सुजान रसखान कवित्त पृ0 140।

2. सुजान रसखान कवित्त पृ0 182।

एक ओर तो रूप और नाद की विद्वता, दूसरी ओर एक डर बना हुआ है, लोक का डर नहीं क्योंकि लोक तो श्रीकृष्ण के भीतर है। डर इस बात का है कि श्रीकृष्ण कहीं प्यार करना छोड़ न दें, कहीं कोई ऐसी त्रुटि न हो जाय कि वे विमुख हो जायें। 'आओ संकल्प करें, हम सब सह लेंगे, चोरी करें, बरजोरी करें, छल करें, जो भी उत्पात करें—सब सह लेंगे—

डरै सदा चाहें न कछु सहै सबैं जो होय,
रहै एक रस चाहि के प्रेम बखानौ सोय।।

पर कहां तक सहें इतना प्यार दिखाकर श्रीकृष्ण मथुरा चले गए—

सांझ तें भोर लौं भोर ते सांझ लौं गोपिन घातक यों रट लाई।
एरी भटू कहिये तो कहां कहूं बैरी अहीर ने पीर न पाई।।

इस बैरी अहीर के मन में कोई पीर नहीं उठती। मन में पछतावा होता है कि बेवकूफी तो मुझसे हुई कि माखन—सा मन लेकर माखन चोर की ओर गई ही क्यों? गई तो इसके लिए तैयार रहती कि वह सब कुछ तोड़ देगा, लीस से मोड़ देगा, एक अलीक राह पर चलने के लिए विवश कर देगा, क्योंकि वह फिरंगी है। वह तीन जगह से टेढ़ा है। वह हर तरह से टेढ़ा है। वह केवल मोड़ना ही नहीं जानता है; मोड़ कर तोड़ना भी जानता है—¹

सुन्दर स्याम सजै तन मोहन जोहन में चित चोरत है।
बांके विलोकन की अवलोकन नौकन के दृग जोरत है।।
रसखानि मनोहर रूप सलोने को मारग तै मन मोरत है।
काज समाज सबै कुल लाज लाल ब्रजराज के तोरत है।।

और इस प्रकार टूटने के लिए मन तैयार हो जाता है तो फिर कोई चिन्ता नहीं रहती, कोई भय नहीं रहता, कोई लाज नहीं रहती, कोई लीक नहीं रहती। रहे भी कैसे, इस वृन्दावन की धारा यमुना ही औड़े बहती है। कोई कहा

1. सुजान रसखान कवित्त, पृ० 39

2. वही सवैया पृ० 139

करे, सबेरे ही गोरस बेचने मत जाओ, सिर मत चढ़ो, नहीं तो आते—जाते ही सांझ हो जाएगी। यमुना किनारे का रास्ता बड़ा टेढ़ा है और कहीं ऐसे संझलौके में रसखान श्रीकृष्ण मिल गए तो आंखे तुम्हारी उनकी कनौड़ी हो जाएंगी और तुम घर पहुंची—पहुंची ब्रजराज के सनेह की डौंड़ी पिट जाएगी—²

बारहीं गोरस बेंचरी आज तूं माय के मूड़ चढ़ै कित मौड़ी।
आवत जात लौं होयगी सांझ भटू यमुना भतरौड़ लौं औड़ी।।
एते में भेंटत ही रसखान हवै हैं अंखियां बिन काज कनौड़ी।
एरी बलाय लौं जायगी बाजि अवै ब्रजराज सनेह की डौड़ी।।

डौड़ी पिटा करे, करें क्या। उन्हें मुसकाते हुए देखा मन खो गया, मग भूल गया, तन की सुधि चली गयी और सिर पर रखा दी का भाजन फूट गया और आंखों से लाज का नाता—रिश्ता भी टूट गया। दही का मटका उन्हीं के लिए था। पर ऐसे निर्दयी कि दही खा लिया, मटका तोड़ दिया, तन—मन का सारा गोरस छीन लिया और गोरस का भाजन चित्त भी नहीं रहने दिया—¹

भौंह भरी बहनी सुधरी अतिहै अधरान रंग्यौ रंगराती।
कुण्डल लोल कपोल महाछवि, कुंजनि ते निकस्यो मुसकातो।।
रसखानि लखे मन खोय गयो मग भूलि गई तनकी सुधि सातो।
फूटि गयी दधि को सिर भाजन टूटिगो नैनन लाज को नातो।।

अब तो स्थिति यह है कि खंजन जैसी आंखें छवि के पिंजरे में बंध गई हैं। एक क्षण भी स्थिर नहीं रह पातीं, एक मुसकान पर सारी कुल की लाज छूट गई है। देह नहीं रही, एक तस्वीर हो गई है—एक जड़ी हुई तस्वीर हो गई है। मुँह से आवाज नहीं निकलती कि दुहाई लगावें। क्या करें, जिधर जाऊँ उधर ही लोग बोल पड़ते हैं कि यह कहाँ से बावली आ गई—²

1. सुजान रसखान सवैया, पृ० 39

2. सुजान रसखान सवैया, पृ० 21

खंजन नैन फंसे पिंजरा छवि नाहिं रहैं थिर कैसेहूं माई ।
छूट गई कुलकानि सखि रसखान लगी मुसकानि सुहाई ।।
निचलिखी—सी भई सब देह न बैन कढ़ै मुख दीन्ह दुहाई ।
कैसो करौं जित जाऊं तितै सब बोल उठै यह बावरी आई ।।

लोग कहा करें पागल, अब तो जो हुआ सो हुआ, जो लोग हंसते हैं वे क्या जानें कि
रस का समुद्र छोटे से हृदय में हिलोर लेता है तो क्या पीड़ा होती है—

अब तो जो भई सो भई कहें होत है लोग अजान हंस्यौ सो हंस्यौ ।
कोउ पीर न जानत जानत सौं जिहिके हिय में रसखान बस्यौ ।।

और 'अब कैसे छुटाई छुटै अंटकी रसखानि दुहूंकी बिलोकनि बांकी' एक तिरछी नजर
दूसरी तिरछी नजर में फंस जाएगी तो कैसे निकल जाएगी । जब कहां का नेम, कहां का धरम,
वह जो नाच नावे वही नाचना है । अब सारा गांव—घर कोई भी नाम धरे अब मैं गोरी नहीं रहूंगी,
सांवरी बन जाऊंगी, क्योंकि मैंने अपने को सांवरी मूरत की उजास में बोर लिया है ।

रसखान का काव्य कहीं रुकता नहीं, आँखें अटकती हैं । अब चित्त डूबता है तो डूब
जाय । रसखान की कविता रस—समुद्र में तिरही हुई तरह—तरह की लहरों का जोखिम उठाती
रहती हैं । एक लहर है बसन्त की, जिसमें यह नहीं पता चलता कि कौन अधिक लाल हुआ?
श्रीकृष्ण होली में अधिक रंगे या श्रीकृष्ण के रंग में ब्रजवाला अधिक रंगी ।—'होरी भई कै हरी भए
लाल, कै लाल के लागि पगी ब्रजवाला ।' एक लहर है वर्षा की, जिसमें दही लेकर गोपी निकलती
है और चोरी—चोरी निकलती हैं । उसने वर्षा के अन्धकार से अपने को एकाकार करने के लिए
नख से शिख तक नीला वस्त्र धारण किया है और जब श्रीकृष्ण मिल जाते हैं और दान लेने पर
अड़ जाते हैं तो नीले वस्त्र से ढंका शरीर कांप उठता है, नीले वस्त्र से ढंकी कंचन काया कांप
उठती है ।

1. सुजान रसखान सवैया, पृ० 22
2. वही सवैया 29

ऊपर आकश में काले बादलों के बीच बिजली तड़पती है और पृथ्वी पर तमाल की काली छाया में नीले वस्त्र में ढंकी हुई मानो श्रीकृष्ण से ही चारों ओर से आवृत राधा सिर से पैर तक कांपने लगती है, जाने क्या हुआ जिस मिलन की इतनी प्रतीक्षा थी वह मिलन एक बहुत बड़ा जोखिम है, जाने यह बिजली बिजली भी रह पायेगी या नहीं, कहीं यह भी उस रसगर्भ मेघ में बिलाकर केवल रस-बिन्दु तो नहीं बन जाएगी—¹

पहिले दधि लै गई गोकुल में चख चारि भए नट नागर पै ।
रसखान करी उन चातुरता कहैं दान दै दान, अरे अरपै ।।
नख साँ सिख लौं पट नील लपेटे, लली सब भांति कंपे डरपै ।
जनु दामिनी सावन के धन तैं, निकसै नहीं भीतर ही तरपे ।।

इन सबसे तेज लहर है उस कारे की, जिसे उद्धव उतारना चाहते हैं राख से, जिसे बड़े-बड़े गारुड़ी नहीं उतार पाए, उसे जोग का भभूत लगाने वाला यह नादान आदमी उतारने आया है—

कारे विसारे को चाहे उतार्यौ अरी विष बावरो जे राख लगाइ कै ।।

उद्धव नहीं जानते कि यह लहर ही जीवन की चरम सार्थकता है। वही प्राण प्राण है जो उस पर रीझते हैं, वही रूप रूप है है जिस पर वह रीझता है, वही सीस सीस है जो उनके चरण का स्पर्श करता है, वही देह देह है जिसको वे स्पर्श करते हैं, वही दूध दूध है जो उनसे दुहवाया गया है, वही दही दही है जिसे उन्होंने ढरकाया है, वही स्वभाव अपना स्वभाव है जो उनके मन भाया² है—

प्राण वही जु रहैं रिझ वा पर रूप वहीं जिहि वाहि रिझायो ।
सीस वही जिहिं वे परसे पग देह वही जिन ता परसायो ।
दूध वही जो दुहायो री वाही ने सोई दही जु वही ढरकायो ।
और कहां लौं कहूं रसखान सुभाव वही जु वही मन भायो ।।

रसखान की कविता निरन्तर एक दृश्य देखती रहती है और यह दृश्य कभी पुराना नहीं पड़ता। श्रीकृष्ण के केश गोरज में सने हैं, छाती में वनमाला लहलहाती हुई, पीछे ग्वालबाल, जितनी वंशी की मधुर ध्वनि उतनी ही मधुर बांकी आंखों की चितवन और उतीन मधुर मन्द—मन्द मुसकान, इस धजा के साथ श्रीकृष्ण गांव के कदम्ब के वृक्ष के पास आ गए। ऊपर अटारी पर चढ़कर देखो, पीताम्बर पहरा रहा है, सघन श्यामलता को रेखांकित करता हुआ पीताम्बर पहरा रहा है और रस बरसाने वाला, तन की तपन बुझाने वाला, नैन और प्राणों को रिझाने वाला रसखान आ रहा है—

गोरज विराजै भाल लहलही वनमाल
आगे गैयां पाछें ग्वाल गावें मृदुतान री।
जैसी धुनि मधुर मधुर बांसुरी री॥
कदम विटप के निकट तनी के तट
अटा चढ़ि दिखि पीत पट पहरान री।
रस बरसावै तन तपन बुझावै।
नैन प्राननि रिझावै वह आवै रसखानि री॥¹

रसखान की कविता निरन्तर रसखान के आने की उत्सुकता है, इसीलिए रसखान की काव्य—यात्रा एक अन्तहीन काव्य—यात्रा है। उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि रसखान का काव्य रस भरा हुआ है। रूपात्मक जगत हृदय का प्रकाश बन जाता है। गोपियों के भीतर कृष्ण का प्रेम प्रकाश बन गया है। जब हृदय में प्रभु का प्रकाश समा जाता है तब संसार की सांसारिकता आंखों से ओझल हो जाती है। रसखान भक्त हैं तथा भक्ति पारसमणि है। इसे छूते ही समस्त वासनाएं सोना बन जाती हैं चाहे कृष्ण का पारस रूप हो अथवा पदमावती का कोई भी उसके समझ नतमस्तक हो जाता है। रसखान के कृष्ण श्रृंगारिक ही नहीं अलौकिक भी है। प्रेम जगता है अपूर्व

सौन्दर्य से तब वह दिव्य प्रकाश बन जाता है। वह प्रेम जिसके पाने के बाद स्वर्ग की इच्छा समाप्त हो जाती है रसखान के हृदय का प्रेम जिस रसमय काव्य की प्रस्तुति करता है उसके अनुशीलन के बाद आलोचक भी मौन हो जाता है उनके काव्य में कल्पना एवं भाव का ऐसा आलोक है जहां आलोचक की बृद्धि चौंधिया जाती है। जैसा कि डॉ० विद्यानिवास, सम्पादित रचनावली में देखने को मिलता है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी रसखान के प्रेम की प्रशंसा करते हैं। रसखान के काव्य की दो उपलब्धियां हैं— 1. सार्वकालिक 2. तत्कालिक। पहले में सौन्दर्य निरूपण का ऐसा वैभव है जो लौकिक और अलौकिक दोनों विचारा धाराओं के लोगों को समान रूप से आकर्षित करता है तथा सदा आकर्षित करता रहेगा यह भारतीय संस्कृति का चिराग है जिसे कोई तूफान भी बुझा सकता तत्कालीन परिस्थितियों में उनका सौन्दर्य प्रेम निरूपण मानवता का उदान्त शिखर है जहां से अनेक स्रोतस्त्रिनिया प्रवाहित होती है।

अध्याय-4

संदर्भ-ग्रन्थ :-

क्रमांक

- पृष्ठ – 158. चन्द्रालोक 1/8, आचार्य जयदेव ।
162. ध्वन्यालोक 1/4 – आनन्दवर्धन ।
164. औचित्य विचार चर्चा, कारिका-7 – आचार्य क्षेमेन्द्र ।
164. औचित्य विचार चर्चा, कारिका-3 – आचार्य क्षेमेन्द्र ।
166. वाल्मीकि : रामायण : बालकाण्ड ।
166. तुलसीदास : रामचरितमानस : बालकाण्ड ।
166. जयशंकर प्रसाद : कामायनी : श्रद्धासर्ग ।
167. आचार्य विश्वनाथ : साहित्य दर्पण ।
169. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत्र : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त,
पृ० 211 ।
172. डॉ० बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 85 ।
172. बाणभट्ट : कादम्बरी कथा प्रशंसा (चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन) पृ० 5
174. सुजान रसखान सवैया – 5 ।
174. सुजान रसखान सवैया – 26 ।
174. अभिव्यक्ति सौंदर्य के निदर्शन ।
175. सुजान रसखान सवैया – 216 ।
176. सुजान रसखान सवैया – 184 ।
177. सुजान रसखान सवैया – 99 ।
177. रसखान : प्रेमवाटिका : दोहा – 48-49 ।
178. सुजान रसखान कवित्त – 52 ।
179. सुजान रसखान सवैया – 197 ।
180. सुजान रसखान कवित्त – 59 ।
180. सुजान रसखान कवित्त – 182 ।
181. सुजान रसखान कवित्त – 180 ।
182. सुजान रसखान सवैया – 39 ।
182. सुजान रसखान सवैया – 22 ।
182. सुजान रसखान सवैया – 22 ।
183. सुजान रसखान सवैया – 29 ।
184. सुजान रसखान सवैया – 151 ।
184. सुजान रसखान सवैया – 109 ।
185. सुजान रसखान सवैया – 64 ।

पंचम अध्याय : रसखान के काव्य में प्रेम का स्वरूप

रसखान के काव्य में प्रेम के स्वरूप को मध्यकालीन काव्यधारा के प्रकाश में समझा जा सकता है। मध्यकालीन काव्यधारा भक्ति रस से प्रवाहित है। भक्ति प्रेम—स्वरूपा है।

रसखान के काव्य में प्रेम का स्वरूप समझने के लिए रसखान के जीवन में झाँकना आवश्यक है, उनके जीवन सूत्र उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

रसखान के काव्य में प्रेम की वेगवती धारा प्रवाहित होती है उसमें इतना प्रचंड वेग है कि पाठक को अचानक बहा ले जाती है। इस महान कवि के जन्म—समय, शिक्षा—दीक्षा, कार्य—व्यवसाय निधन—काल आदि के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। फिर भी, विद्वानों ने उनकी रचनाओं के कतिपय संकट सूत्र ग्रहण कर उनके जीवन—वृत्त के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं :

देखि गदर हित साहब, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा—वंश की, ठसक छोरि रसखान॥
प्रेम निकेतन श्री बनहिं, आई गोवर्धन धाम।
लहयो सरन चित चाहिके, जुगल सरूप ललाम॥¹

इन पंक्तियों में 'गठर' और 'दिल्ली श्मशान बन जाने' का समय विद्वानों ने 1555 ई० अनुमानित किया है क्योंकि इसी वर्ष मुगल—सम्राट हुमायूँ ने दिल्ली के सूवंशीय पठान शासकों अपना खोया हुआ शासनाधिकार पुनः हस्तगत किया था।

इस प्रकार इस घटना का काल 1555 ई० है, जिसके आधार पर रसखान का जन्मकाल 1533 ई० मानना समीचीन प्रतीत होता है। जहाँ तक निवास स्थान की बात है 'प्रेमवाटिका में स्वयं कवि द्वारा दिल्ली छोड़कर गोवर्धन धाम जाने के उल्लेख से उनका जन्म स्थान एवं प्रारम्भिक निवास दिल्ली के आस—पास मानना उपयुक्त है।

यह स्वीकार किया जाता है कि रसखान ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से बल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत दीक्षा ली थी। उनके काव्य में अन्य बल्लभानुयायी कृष्ण भक्त कवियों जैसे प्रेम माधुरी एवं भक्ति शैली से इस बात की पुष्टि होती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भी उन्हें बल्लभ सम्प्रदायानुयायी बताया गया है। 'मूल गुसाई चरित' में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा स्वरचित 'रामचरित मानस' की कथा सर्वप्रथम रसखान को सुनाने का उल्लेख है : "जमुना तट पै त्रय वत्सर लौं" रसखान जाई सुनावत भौ" रसखान-काव्य के प्रायः सभी समीक्षक इस बात पर सहमत हैं कि 'प्रेम वाटिका' (1614) उनकी अन्तिम काव्य कृति है। संभवतः इसकी रचना के कुछ ही वर्ष पश्चात् 1618ई० के लगभग उनका देहावसान हो गया होगा।

रसखान का सम्पूर्ण कृतित्व अभी तक प्राप्त नहीं है। 'प्रेम वाटिका' और 'दान लीला' नामक विशिष्ट आकारबद्ध कृतियों के अतिरिक्त उनकी सम्पूर्ण वाणी मुक्तक सवैये में आबद्ध है, जिन्हें विभिन्न संग्रहकर्ताओं ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार संकलित किया है। वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचलित संकलन 'सुजान रसखान' है। इधर कल्याण के 'सन्तवाणी अंक' में रसखान की एक अन्य लघु कृति 'अष्टयाम' प्रकाशित हुई है। इस प्रकार रसखान की प्रमुखतः चार रचनाएं प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। सुजान रसखान, प्रेम वाटिका, दानलीला, अष्टयाम। 'सुजान रसखान' स्फुट छन्दों का संग्रह है, जिसमें 181 सवैये, 17 कवित्त, 12 दोहे तथा 4 सोरठे हैं।

उन छन्दों का प्रतिपाद्य भक्ति, प्रेम, राधाकृष्ण की रूप माधुरी, वंशी-मोहिनी एवं कृष्ण लीला सम्बन्धी सरस प्रसंग है। 'प्रेम वाटिका' के अन्तर्गत कवि ने राधा कृष्ण को प्रेमोद्यान के मालिन-माली मानकर प्रेम के गूढ़ तत्व का सूक्ष्म निरूपण किया है। यह 53 दोहे की लघु कृति है। 'दान लीला' केवल 11 छन्दों का छोटा सा पद्य-प्रबन्ध है, जिसमें कवि ने प्रसिद्ध पौराणिक प्रसंग का राधाकृष्ण संवाद के रूप में चित्रित किया है। 'अष्टयाम' में संकलित कई दोहों के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के प्रातः जागरण से रात्रि शयन पर्यन्त उनकी दिनचर्या एवं विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन है।

रसखान भक्त कवि है। वस्तुतः वे 'भक्त' और 'कवि' से भी पहले एक सहृदय भावुक व्यक्ति हैं। उनका अन्तर प्रेम-ताप की उष्णता से विगलित होकर मानो विविध भाव सरणियों के

रूप में उमड़ पड़ा है। उनकी इस एकान्तिक प्रेममयी उमंग ने उनके काव्य को सचमुच 'रस की खान' बना दिया है। बादशाह वंश के जन्मजात मुसलमान रसखान ने स्वयं को राज्य लिप्सा जन्य द्वन्द्व से मुक्त कर जिस श्रद्धा, प्रेम और भक्तिमय रस सागर में निमज्जित किया, उसी में उनके वाणी का विलास यशधन के निमित्त था। उन्होंने तो अनन्त अलौकिक रस के आगार श्रीकृष्ण के लीला-गान रसखानि वही रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि, सो है रसखानि।¹ प्रेम तत्व के निरूपण में रसखान को अद्भुत सफलता मिली है। उनका प्रेम वर्णन बड़ा सूक्ष्म, व्यापक एवं विशद है। उनके काव्य का प्रमुख रस शृंगार है, जिसके आलम्बन है — श्रीकृष्ण उनके रूप पर मुग्ध राधा एवं गोपिकाओं की मनः स्थिति के चित्रण के माध्यम से रसखान ने शृंगार की मधुर अभिव्यंजना की है। शृंगार के उपरांत रसखान-काव्य में चित्रित दूसरा प्रमुख रस वत्सल है। श्रीकृष्ण के बाल-रूप की माधुरी का वर्णन उन्होंने यद्यपि गिने-चुने छन्दों में ही किया है, पर उनकी काव्यात्मक गरिमा सूर और तुलसी के बाल वर्णन की समता करने में भली-भांति सक्षम हैं। उसका एक निदर्शन नीचे प्रस्तुत है :

धूरि परे अति सोभित स्याम जू कैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेलत खात फिरैं अंगना पग पैजनि बाजति पीरी कछोटी ।
वा छवि को रसखानि विलोकत बारत काम कला निधि कोटी ।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सो ले गयो माखन रोटी¹ ।

यहाँ वात्सल्य के प्रेम स्वरूप का मनोरम रूपांकन है। रसखान में प्रेम भक्ति भाव बनकर आया है।

रसखान का प्रेम शृंगार रस के भाव से भावित होकर भक्ति भाव में परिणत होता है, उनका प्रेम वात्सल्य रूप में द्रवित होता है।

भक्ति भाव

यद्यपि रसखान बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित और आचार्य विट्ठनाथ के शिष्य थे तथापि उनकी भक्ति को किसी सम्प्रदाय विशेष से जोड़ना अथवा भक्ति की किसी विशिष्ट शास्त्रीय पद्धति का अनुगामी मानना उचित नहीं। क्योंकि रसखान मूलतः प्रेम-दीवाने हैं। प्रेम ही उनके इस लोक और परलोक का लक्ष्य हैं। वे ज्ञान, कर्म, उपासना-पूजा से भी परे मानते हैं प्रेम को।

“ज्ञान, कर्म, अरु उपासना, सब अहमिति को मूल।²
दृढ़ निश्चय नहिं होत-बिन, किए प्रेम अनुकूल।।
“दंपति सुख अरु विषयरस, पूजा, निष्ठा, ध्यान।
इन तें परे वखानिए, शुद्ध प्रेम रसखान ।।”

वैष्णव भक्ति-पद्धति में नवधा-भक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। कहना न होगा कि नवधा-भक्ति के सोपानों—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पद-सेवा, अर्चना, बन्दना, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—का निर्वाह रसखान काव्य में नहीं हुआ है। हिन्दी में महाकवि सूर ने भक्ति में माधुर्य-भाव का समावेश कर हिन्दी कवियों का मार्ग प्रशस्त किया है रसखान उसी के अनुगामी हैं वे इसी माधुर्य भाव के भक्त माने जा सकते हैं। उनकी मधुरा भक्ति या प्रेमा भक्ति प्रेम और माधुर्य की रश्मियों में आलोकित है। माधुर्य भक्ति के तीन प्रमुख अंग—रूप वर्णन, विग्रह-वर्णन तथा आत्मसमर्पण—रसखान काव्य में पाये जाते हैं।

राधा-कृष्ण की रूप-राशि को उन्होंने अत्यन्त सफलतापूर्वक रेखांकित किया है। कृष्ण की अन्यान्य मनोहरी छबियां ‘सूजान रसखान’ में अंकित हैं। बांसुरी की मधुर तान छेड़ते कृष्ण, कटाक्ष-पात करते कृष्ण, अलबेली वेश-भूषा धारण किये कृष्ण, काजल लगाये, पैजनियां पहने बाल-कृष्ण आदि अनेक रूपाकृतियाँ रसखान ने अपने काव्य में समेटी हैं। कृष्ण का श्रृंगार मां जसोदा ने किया है। उस रूप पर गोपियां बलिहारी हैं और जसोदा के भाग्य की सराहना करती हैं।

2. 2/1 – प्रेम बाटिका – दोहा – 12

“आजु गई हुती भोरही हों रसखानि रई कहि नन्द के भोनहिं³।
बाको जियो जुग लाख करोर जसोमति को सुख जात कछौ नहिं।।
वेल लगाइ लगाइ कै अंजन भौंह बनाइ बनाइ डिठौनहिं।

डालि हमेलनि हार निहारत बारत ज्यों चुचकारत छौनहिं।।”

युवा कृष्ण का रूप ब्रज बनिताओं को विभोर करने वाला है। उनकी विलक्षण रूप—राशि का देखकर मुग्ध न हो, लोक—लाज का परित्याग कर उनकी दीवानी न बन जाएं ऐसी कौन स्त्री ब्रज में है? उस सौंदर्य पर दृष्टि ठहरती नहीं, वह प्राणों को बीधने वाला सौंदर्य है। यथा—

“लोक की लाज तजी तबहीं जब देखो सखी ब्रजचन्द सलोनो⁴।

खंजन मीन सरोजन की छवि गंजन नैन लला दिनहोनो।।,

रसखानि निहारि सकेंजु सम्हारि कै कोतिय है वह रूप सुठोनो।

भौंह कमान सौं (जोहन) का सब बेधत प्राननि नन्द का छोनो।।

सोहत है चैदवा सिर मौर के जैसियै सुन्दर पाग कसी है।

तैसियै गोरज भाल विराजित जैसी हिये बनमाल लसी है।।

कृष्ण—सौन्दर्य का प्रभाव स्थायी और अमिट है। रूप के उस सम्मोहन से मुक्ति कहाँ? उन्माद छा जाता है। कुछ भी होश नहीं रहता।

“भौह भरी सुथरी अतिसै अधरानि रंगी रंग रातौ⁵।

कुण्डल लोल कपोल महाछबि कुजनि तें निकस्पो मुसिकातौ।।

रसखानि लखै मग छूटि गयो डग भूलि गई तन की सुधि सातौ।

फूटि गयो दधि का सिर भाजन टूटिगो नैननि लाज का नातौ।।

इसी तरह राधा के सौन्दर्य की अनेक छवियों उसकी भुकुटियों, नेत्र, चित, वन, शरीर का सुडौल गठन, देहयष्टि, मस्तक पर टीका आदि का मनोहर शब्दावली में यथास्थान वर्णन करने में रसखान पूर्णतः सिद्धहस्त हैं।

3. सुजान रसखान, सवैया — 10

4. वही — 13

5. वही — 22

“श्रीपुख्यों न बखान सर्क वृषभान सुता जू को रूप उजारौ⁶।

हे रसखान तू ज्ञान संभान तरैनि निहार जू रीझन हारौ।।

चारु सिंदूर को लाल रसाल लसै ब्रज का भाल टिकारौ ।
गोद में मानौ विराजत है घनस्याम के सारे को सारे कौ सारौ ।।

माधुर्य भक्ति में विरह का महत्वपूर्ण स्थान हैं। रसखान ने विरह का मर्म-स्पर्शी वर्णन किया हैं। बसंत के आगमन पर भ्रमरों की अनुगूंज, कोयल की कूक सुनाई देने लगी है। प्रकृति पुष्पित होने लगी हैं। चारों ओर मादकता का संचार हैं किन्तु विरहणी के कृष्ण नहीं आये। कितने कठोर हैं?

“फूलत फूल सर्ब बन बागन बोलत भीर बसंत के आवत” ।
कोयल की किलकार सुन सब कंत बिदेसन तें सब आवत ।।
ऐसे कठोर महा रसखान जु ने कहु मोरी यें पार न पावत ।
हूक सी सालत है हिय में जब बैनि कोयल कूक सुनावत ।।

कृष्ण-बिछोह में मुरझाई विरहिणी की देह-बल्लरी, उसका निस्तेज यौवन, उसका कांतिहीन मुख, कृष्ण-आगमन के सन्देश पर इस प्रकार प्रफुल्लित, प्रदीप्त और विकसित हो उठा हैं, जिस प्रकार दीपक की लौ (बत्ती) उकसा देने पर सर्वत्र स्वर्णिम प्रकाश फैल जाता हैं ।

“रसखान सुनाह वियोग के ताप मलीन महा दुति देह तिया की^६ ।
पंकज सौ मुख गौ मूरझाय लगी लपटै बरै स्वांस हिया की ।।
ऐसे में आवत कान्ह सुने हुलसै सुतनी तरकी अंगिया की ।
यों जग जोति उठी तन की उकसाय देई मनौ बाती दिया की ।।”

विरह-वर्णन में रसखान ने कभी-कभी रीतिकालीन ऊहात्मक पद्धति का भी सहारा लिया है ।

6. सुजान रसखान, सवैया — 260
7. वही — 225
8. वही — 100

“बिरहा की जु आँच लगी तन में तब जाय परी जमुना जल में।⁹
बिरहानल तें जल सूखि गयों मछली बहींछौड़ि गई तल में।।
जब रेत फटी अरु पताल गई तब शेष जर्खौ धरती—तल में।
रसखान तब इहि आंच मिटै जब आय कै स्याम लगै गल में।।

समग्रतः कहा जा सकता है कि रसखान काव्य में विरह—वर्णन सहज, स्वाभाविक और मार्मिक हैं। यदा कदा अतिशयोक्तिपूर्ण कथन भी हैं। वस्तुतः यह युग—युग से प्रियतम प्रभु से बिछुड़ी प्रीति—दुग्ध प्रणयाकुल आत्मा—रूप विरहिणी की व्यथा कथा है। यह व्यथा उनके पदों में हृदय के सम्पूर्ण आवेग से उच्छलित हैं। कवि अपने आराध्य का जन्म—जन्म से दास है। यही कारण है कि कवि की रूपा सवित, प्रेमासवित और तज्जन्य विरह की चरम परिणति उसके आत्मसर्पण में होती। प्रभु अनन्य हैं और कवि उनका अनन्य भक्त। उसका सारा जीवन, जन्म—जन्मांतर का जीवन कृष्णमय हो। जड़—जंगम किसी भी रूप या योनि में उसे आराध्य का सहवास, साहचर्य मिले यहीं उसकी मनोकामना हैं और यही प्रेम हैं और यही भक्ति।

“मानुष हों तो वहीं रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।¹⁰
जो पसु हों तो कहा बसे मेरो चरों नित नन्द की धेनु भैझारन।।
पाहन हों तो वहीं गिरि को जो धर्यों कर छव पुंरदर धारन।
जा खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी—कूल—कदम्ब की डारन।।

अपने अनन्य भक्ति—भाव के कारण ही रसखान कृष्ण—संरक्षण में स्वयं की पूर्ण निरापद अथवा तुलसी की शब्दावली में परम विश्राम की स्थिति में (पायी परम विश्राम राम समान हित नहीं कहूं।) पाते हैं।

“कहा करै रसखानि को कोऊ चुगल लवार।” अथवा
“काहे को सोच करै रसखानि, कहि करिहै रविनंद विचारों।”

9. सुजान रसखान, सवैया — 226

10. सुजान रसखान — 11

11. सं० विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ०—136।

जो परम दयालु, कृपाल भक्त वत्सल प्रभु कृष्ण सहायक है। ताखन जाखन राखियँ माखन—चाखन हारो सौ राखन कारो।” रसखान भी अन्य कृष्ण भक्त कवियों की सिद्धान्ततः कृष्ण के निराकार निर्गुण रूप को स्वीकारते हैं किन्तु व्यवहारतः वे सगुणोपासक हैं। भक्ति के लिए आलम्बन अनिवार्य है। सूर के शब्दों में—

“रूप रेख गुन जाति जूगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।¹²

सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै।।”

चूँकि निराकार निरालम्ब आराध्य के प्रति मन एकाग्र नहीं हो पाता इसीलिए सूर की भांति रसखान भी प्रभु के सगुण रूप के ही परम भक्त है। जो इस सचराचर सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है, जो महान, विराट और निरंजन हैं, वह भी अपने सगुण—साकार—रूप में साधारण बालकों की भांति नंद जी के घर में मिट्टी ला रहा हैं। कैसा विलक्षण प्रभु हैं।

“कहा कहूं आली कछु कहती बनै न दसा,¹³

नंदजी के अँगना में कौतुक एक देख्यौ मैं।

जगत के ठाटी महापुरुष विराटी जो निरंजन

निराटी ताहि माटी खात देखो मैं।।

कृष्ण के सगुण भक्त—कवियों ने उन्हें अन्यान्य विशिष्टताओं से रेखांकित किया हैं। ये महत्त्वपूर्ण विशिष्टताएं ही उनकी लीलाओं (बाल लीला, रासलीला फागलीला, कुंजलीला आदि) के रूप में गृहीत है।

रसखान ने बाललीला अर्थात् कृष्ण के बचपन की अन्यान्य झांकियाँ प्रस्तुत की हैं माटी खाना, धूल—धूसरित होना, चुराकर माखन खाना, विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करना, अन्यान्य प्रकार से शरारतें करना, गोपियों की तरह—तरह से सताना तथा नंद—जसोदा का प्रेम प्रदर्शित करना आदि से सम्बद्ध किया व्यापार बाललीला के अन्तर्गत वर्णित हैं। यथा—

12. सं० विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ०—136 (सूर सागर से)

13. सं० विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ०—136

“धूरि भरे अति सोभित स्यामजू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।¹⁴

खेलत खात फिरै अंगना पग पैजनी बाजति पीरि कछोटी।।

वा छवि को रसखान विलोकत बारत काम कला—निधि कोटी।

काग के भाग बड़े सजनी हरि सों लैगयौ माखन रोटी।।”

कृष्ण की किशोरवस्था से सम्बद्ध रामलीला के दृश्य बड़ी सफलतापूर्वक रसखान ने प्रस्तुत किए हैं।

“आज भटू मुरली बट के तट नन्द के साँवरे रास रच्यौं री।¹⁵

नैननि सैननि बैननि सों नहिं कोऊ मनोहर भाव बच्यौ री।।

जद्यपि राखन कौं कुल—कानि सबै ब्रज—बालन प्रान पच्यौ री।

तद्यपि वा रसखानि के हाथ विकानी को अन्त लच्यौं री।।’

फाग—लीला में राधा—कृष्ण और गोपियों के फाग खेलने के सुन्दर चित्र रसखान ने उतारे हैं। फागुन लगते ही ब्रजमंडल में धूम सज गयी हैं। ऐसी कौन नवयुवती हैं ब्रज में जो कृष्णाकर्षण से विवश न हुई हो? सभी लोकलाज त्याग कर कृष्ण—दीवानी हो रही हैं और सुवह से शाम तक कृष्ण के साथ फाग खेलने में तल्लीन हो रहीं हैं।

14. सुजान रसखान, सवैया — 18

15. वही — 62

“फागुन लाग्यौ सखी जब तें तब तें ब्रजमंडल धूम मच्यौ है।¹⁶
नारि नवेली बचै नहिं एक विसेख मरै सबै प्रेम अंच्यौ हैं।।
सांझ सकारे बही रसखानि सुरंग गुलालन खेल मच्यौ हैं।
को सजनी निलजी न भई अरु कौन भटूजिंहिं मान बच्यौ।।”

रसखान ने कृष्ण की कुंज लीला, दानलीला, चीरहरण आदि का भी मनाहारी वर्णन किया हैं। कुंज लीला की एक छवि दृष्टव्य हैं—

“रंग भर्यो मुसकात लला निकस्यौ कल कुंजन तें सुखदाई।¹⁷
में तवहीं निकसी धर तें तकि नैन बिसाल की चोट चलाई।।
घूमि गिरी रसखानि तवै हरिनी जिमि बान ललजै गिरिनाई।
टूटि गयौ घर का सब बन्धन टुटिगौ आरज—लाज बड़ाई।।

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि रसखान व्यवहारतः कृष्ण के सगुण स्वरूप के ही चहेते थे किन्तु कृष्ण के निर्गुण, निराकार रूप को मान्यता भी वे बराबर देते रहें हैं। यही कारण हैं कि उनके अलौकिकत्व की ओर उनकी दृष्टि बराबर रही हैं। उनके कृष्ण परम ब्रह्म हैं। वे चतुरानन, शिव आदि महादेवों के बंदित महाप्रभु हैं फिर भी गोपियों के संकेतों पर नाचते हैं। यथा—

“संकर से सुर जाहि जपैं, चतुरानन ध्यानन धर्म बढावै।¹⁸
शेष, गनेस, महेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावै।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अभेद सुवेद बतावै।।
ताहिं अहीर की छोहरियां छछियां भरि छाछ पर नाच नचावैं।।”

रसखान का भक्ति भाव सौन्दर्य की पट भूमि में विकसित होता है, उनकी स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्तियां ही सौन्दर्य बन गई हैं। उनका भक्ति भाव प्रेम और माधुर्य भाव का निरूपण है। उनके अभिभक्ति का प्रेम तत्व सौन्दर्य निरूपण में साकारवान् हो उठा है।

16. सुजान रसखान, सवैया	— 125
17. वही	— 41
18. वही	— 32

सौन्दर्य निरूपण :-

रसखान सौन्दर्य के सफल चितरे है। प्रेम-प्रसंग में रसानुभूति उनके काव्य का अभिन्न अंग है। रसखान सिद्ध कवि हैं, उनका सौन्दर्य चित्रण स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य हैं। उनका काव्य आंतर सादृश्य एवं अनुभूतिमय आत्म-स्पर्श का काव्य हैं। उनकी अनुभूति अभिधा और कभी-कभी लक्षणा के सहारे भाव-आवतों द्वारा संचारित होती हैं यद्यपि सौन्दर्य शास्त्रियों ने सौन्दर्य को गोपनीय माना है किन्तु रसखान और घनानन्द का काव्य इसका अपवाद है। यहाँ कुछ भी गोपनीय नहीं सौन्दर्य विधायिनी कल्पनाओं युक्त भाव-चित्र इन कवियों की रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। रसखान का काव्य तो स्वतः स्फूर्त काव्य है। उनकी अनुभूतियाँ अनिर्वचनीय आनन्द का उद्रेक करती हैं। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने सौन्दर्य को प्रकाम्य माना है। उनके अनुसार काम, प्रेम तथा सौन्दर्य परस्पर पूरक हैं। आंसू में ऐसा ही एक रूपक है।

‘कामना सिंधु लहरता छवि पूरनिमा-सी छायी।

रत्नाकर बनी निखती मेरे शशि की परछाई।।’ (आंसू-प्रसाद)

रसखान के काव्य में सौन्दर्य काम प्रेम और माधुर्य परस्पर पूरक बनकर आये हैं। कृष्ण-सौन्दर्य कामना को जन्म देता है। उस सौन्दर्य का सम्मोहन ही गोपियों के रति-भाव का बीज है। यही रति-भाव विशुद्ध प्रेम और माधुर्य में परिवर्तित हो जाता है। और माधुर्य-प्रेम ही उनका जीवन-सर्वस्व है। रसखान की सौन्दर्य-चेतना स्थूल देह एवं मांसलता से ऊर्ध्वोन्मुख होकर आध्यात्म में प्रभु-प्रेम में पर्यवसित हो जाती हैं। उनके रसखानि (कृष्ण) का सहज सौन्दर्य उसकी बांकी चितवन और तीक्ष्ण कटाक्ष के साथ ही उसकी मंद-मंद मुस्कराहट का सम्मोहन प्रेम-दग्ध ही नहीं करता वरन् विछोह-विदग्ध मन के अंतःताप को शमित भी करता है। अंतरात्मा में रस की सृष्टि करता है और प्राणों को मधुर प्रेम के आकर्षण से भर देता है।

“गोरज विराजै भाल लहलही वन माल आगे गैया पाछै ग्वाल गावें मृदुतान री।¹⁹

जैसी धुनि मधुर मधुर बांसुरी की तैसी बंक चितवनि मंद-मंद मुसकान री।।

कदम विटप के निकट तटनी के तट अटा चढ़ि देखि पीत पट फहरान री।

रस बरसावै तन तपन बुझावै नैन प्राननि निझावै यह आवै रसखानि री।।

सौन्दर्य आभ्यान्तरिक (मन की) भी होता है और बाह्य (आंगिक) भी रसखान के आभ्यान्तरिक सौन्दर्य के अंतर्गत उनका प्रगाढ़ कृष्ण-प्रेम और उदास भावानुभूति हैं। वे सच्चे हृदय से आराध्य के प्रति समर्पित हैं। वे अन्यान्य योनियों में कृष्ण साग्निध्य के अभिलाषी हैं।

“मानुष हों तो वही रसखान बसों ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।”²⁰

“जो रसना रस ना बिलसैं तेहि देह सदा निज नाम उचारन।”

‘खास निवास मिलै जुपै तौ वहीं कालिंदी-कूल-कदम्ब की डारन।’

रसखान का आंगिक (रूप) सौन्दर्य-विधान वैविध्यपूर्ण हैं। उन्होंने राध-कृष्ण की देह को देव-मंदिर मानकर विविध अंगों-प्रत्यंगों का रूपांकन किया है। परन्तु उनका रूप-वर्णन अंशतः रीतिकालीन नव-शिख-परम्परा से भी कहीं-कहीं प्रभावित प्रतीत होता है ; यथा-

“बागन काहे जाओ पिया घर बैठे बाग लगाय दिखाऊँ।²¹

एड़ी अनार सी मौर रही बहियाँ दोउ चंपे डार नवाऊँ।।

छातिन में रस के निबुआ अरु घूँघट खोल के दाख चखाऊँ।

टांगन के रसके चसके रति फूलनि की रसखानि लुटाऊँ।।

उक्त चित्र विरल हैं। वस्तुतः रसखान का रूप-बोध असाधारण हैं। उन्होंने कृष्ण-रूप का अत्यंत सुरुचिपूर्ण वर्णन किया है। कवि ने कृष्ण की गौर-स्यापल कांति मुखमंडल नेत्र, भुकुटि-विलास, कपोल आदि और राधा की देह-यष्टि सुगठित अंगलता, वक्ष आदि से युक्त मानव-कलेवर के भव्य-सौन्दर्य की चित्रित किया है। कृष्ण-सौन्दर्य लोकोत्तर (दिव्य) सौन्दर्य की बड़े मनोयोग को रूपांकित किया है। कृष्ण-सौन्दर्य लोकोत्तर हैं। वे साक्षात् प्रभु हैं उनके इस सौन्दर्य का दर्शन पूर्व-संचित पुण्यों से ही होता है।

19. सुजान रसखान, सवैया — 264

20. वही — पृ०-01

21. वही — पृ०-16

“मोतिन माल बनी लट के लटकी लटवा लट घूँघरवारी।²²

अंग ही अंग जराव लसै, अरु सीस लसै पगिया जरतारी ।।
पूरव पून्यनि ते रसखानि, सु मोहिनी मूरति आनि निहारी ।
चार्यो दिसानि की लै छवि, आनिकै झौके झरोखे में बाँके बिहारी ।।”

रसखान की प्रिय रंग-स्थली कृष्ण का बाल-काल हैं। उन्होंने उसे भाव सौकुमार्यवश वरण किया हैं कृष्ण शैशव की कमनीय क्रांति ने उन्हें अत्यधिक रस-सिवत किया है। अतः कृष्ण-जीवन के स्वर्णोदय प्रभात, उनके बाल-रूप, बाल-मनोविज्ञान, उनकी भावाकुल मृदुलता, मधुरिमा के चतुर्दिक चित्र हैं रसखान की कविता में। कृष्ण की विश्वमोहिनी बाल-छवि उनका धूल धूसरित तन, उनका औत्सुक्य-प्रमुदित सहज सरलपन, उनके निराले विस्मय-विमुग्धकारी नयन, उनकी सुन्दर चोटी रसखान को बेहद प्रिय है।

“धूलि भरे अति सोभित स्याम जू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।²³
खेलत खात फिरै अंगना, पग पैजनि बाजत पीरि कछौटी ।।
वा छवि को रसखानि विलोकत, वारत काम कला निधि कोटी ।
काग के भागे बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयौं माखन रोटी ।।

कवि को शैशव के साथ ही कृष्ण का तारुण्य और किशोरावस्था भी प्रिय हैं। प्रेम-रस संसिक्त यौवन, स्वच्छद बिहा, आवर्जनाओं का अधिकरण, मधुमय ऋतु-प्रभाव, यौवन की मादकता उद्दाम आवेग, मद विह्वल उन्माद और उल्लास तथा प्रेयसियों से छेड़-छाड़ की सुगढ़ तस्वीरें भी रसखान-काव्य में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। वस्तुतः तारुण्य बोध कवि के कामाध्यात्म का केन्द्र-बन्दु है। यही कारण हैं कि गोपियां कृष्ण-यौवन की लालसा में बेसुध रहती हैं। गोपियों का आकर्षण नैसर्गिक हैं और वह दैहिक तथा आध्यात्मिक क्षुधा तृधा की तुष्टि चाहता हैं। रसखान ने न केवल कृष्ण वरन् राधा के यौवन-लावण्य, उसके

22. सुजान रसखान, सवैया – 273

23. वही – 18

आंगिक रूप—सौन्दर्य तथा दोनों के परस्पर स्पर्श आलिंगन के अनेक चित्र उतारे हैं। कृष्ण की बकदृष्टिगत चेष्टाओं, उनके कटाक्षपात का, बांकी चाल का मनोहारी दृश्य कवि ने उपस्थित किया है, तथा—

“वह घेरनि धेनु अबेर सबेरनि फेरनि लाल लकुटनि की।²⁴
वह तीछन चच्छु कटाछन की छवि मोरनि भौंह भुकुटनि की।।
वह लाल की चाल चुभी चित में रसखानि संगीत उघुटनि की।
वह पीत पटक्कनि की चटकानि लिटक्कनि मौर मुकुटनि की।।”

कवि ने कृष्ण—सौन्दर्य के साथ ही राधा के शारीरिक सौष्ठव, उसके नेत्र कपोल, मुख, अधर, चिबुक, नासिका आदि का वर्णन प्रायः परस्परित उपमानों से ही किया हैं। राधा की श्री—शोभा, उसकी हाव—भाव—हेला, उसका निखरता हुआ तारुण्य और कामोद्दीप्त हास—विलास का वर्णन भी रसखान ने पूर्ण मनोयोग से किया हैं। समग्रतः राधा का सौन्दर्य किसी तरह भी कवि का कुत्सित सौन्दर्य— बोध नहीं हैं। उसका लावण्य ललित लोल उमंग की तरह भोवोत्तेजन और रससिक्त करने वाला हैं।

“अति लाल गुलालहु फूलतै फूल अली, अलि कुंतल राजत हैं।²⁵
मुकता के कदंव के अंब के मौर सुने सुर कोकिल लाजत हैं।।
भखतूल समान के गुंज छरानन किंसकु की छवि छाजत हैं।
यह आन प्यारी जूकी रसखानि बसंत सी आजु बिराजत है।।

इसी सन्दर्भ में राधा—कृष्ण की प्रेम—केलि, उनके आलिंगन—स्पर्श—बोध युक्त निम्न पंक्तियां भी दृष्टव्य हैं—

“लााड़िली काल लसैं लखिये अलि पूंजन कूंजन में छवि गाढ़ी ।²⁶
 ऊजरी ज्यों बिजुरी सी जुरी चहुँ गूंजरी केलि कला सम काढ़ी ।।
 त्यों रसखान न जानि परै सुखमा तिहुँ लोकनि की अति बाढ़ी ।
 लालन बाल लिये बिहरैं छहरै सिर मोरपखी ठग ठाढ़ी ।।”

कुल मिलाकर रसखान का कृष्ण-बाल-बोध, किशोर-किशोरी का तारुण्य बोध तद्विषयक सौन्दर्य-चित्रण अत्यंत रमणीय, भावमय एवं श्लाघ्य हैं।

रसखान रस सिद्धि कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में रस-सृष्टि तो की हैं। किन्तु रस-तत्त्व पर कोई चिन्तन-मनन नहीं किया। इन्द्रियों द्वारा अनुभूत सौन्दर्य में रस सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले रसखान रस के शास्त्रीय पक्ष से अनभिज्ञ हैं। उनके काव्य में श्रृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है। वस्तुतः रसानुभूति के मूल में सौन्दर्यनूभूति होती है। रसखान काव्य सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से उसी तरह महत्वपूर्ण हैं जिस प्रकार से घनानंद काव्य किन्तु सौन्दर्य और उसकी अनुभूति के अन्यान्य पहलुओं को रेखांकित करने वाले रसखान काव्य को रस (श्रृंगार) के शास्त्रीय पहलुओं की दृष्टि से भी विश्लेषित किया जा सकता है।

श्रृंगार के दोनों पक्षों (संयोग एवं वियोग) के अन्यान्य आयामों-रूप-सौन्दर्य, प्रेम-व्यापार अथवा सधन प्रेम प्रसंग तथा विप्रलम्भ श्रृंगार के चारों सोपान (पूर्वराग, मान, करुणा, प्रवास) आदि-का सुन्दर प्रस्तुतीकरण रसखान-काव्य में हुआ है। यथा-

“जाको लसै मुख चंद समान कमानी सौं भौंह गुमान हरै ।²⁷

दीरग नैन सरोजन तै मूग खंजन मीन की पांत डरै ।

रसखान उरोज निहारत ही मुनि कौन समाधि न जाहि टरै ।”

रसखान ने सौन्दर्य वर्णन की दृष्टि से नायक और नायिका दोनों की सम्मोहक छवियों को रेखांकित किया है। नटवर कृष्ण की सधन घुंघराली

केश—राशि, गोचारण के समय की विमोहक कांति, मधुर वाणी, दृष्टि भंगिमा, चेष्टागत सौन्दर्य, वाके नयन, त्रिभंगी शरीर—मुद्रा वाणीगत माधुर्य आदि वर्णन के साथ ही कृष्ण सौन्दर्य के समग्र प्रभाव का रेखांकन भी कवि ने बड़े मनोयोग से किया हैं। कृष्ण के आंगिक सौन्दर्य का विलक्षण प्रभाव दृष्टव्य हैं।

“नैननि बंक विसाल के बाननि झेलि सकै अरु कौन नबेली।²⁸
 बेधत है हिय तीछन कोर सुमार गिरी तिय कोंटिक हेली।।
 छोडैं नहीं छिनहूँ रसखानि सु लागी फिरै द्रुम से जनु बेली।
 रीरि परी छवि की ब्रजमंडल कुंडल गंडनि कुंतल केली।।”

राधा की देहयष्टि उसके नेत्रों उसके शारीरिक गठन, उसकी चिबुक आदि के सौन्दर्य की चर्चा रसखान ने बराबर की है। शरीर पर चंदन का लेप किये हुए राधा की शोभा अतुलनीय हैं यथा—

“तन चन्द खौर के बैटी भटू रही आजु सुधा की सुता मनसी।²⁹
 मनौ इन्दु बधून लजावन की सूब भांतनि काढ़ि धरी गन—सी।।
 रसखानि विराजति चौकी कुचौ बिच उत्तमताहि जरी तन सी।
 दमकै दूग—वान के धायन कौं गिरि संत के संधि के जोवन सी।।”

राधा और गोपी—कृष्ण के प्रेम व्यापार का विस्तार से वर्णन रसखान काव्य में हुआ हैं। रसिक शिरोमणि का अनन्त लीला—व्यापार, उनके गहन प्रेम का परिचायक हैं। उनका कुंजों में, वृक्षों के नीचे रास्—करना, फाग खेलना आदि प्रेम कीड़ा संयोग श्रृंगार को पुष्ट एवं परिपक्व करने वाली है।

“अधर लगाइ रस प्याइ बाँसुरी बजाइ; मेरी नाम गाइ हाइ जादू कियौ मन मै।
 रस रास सरस रंगीलो रसखान प्राणि, जान और जुगुति विलास कियों तन में।”
 इसी प्रकार फाग वर्णन में संयोग के अभिनव चित्र दर्शनीय हैं।

“आवत लाल गुलाल लियैं मगसूने मिली इक नार नवीनी ।
 त्यों रसखानि लगाइ हियें भटू मौज कियौ मन माहिं अधीनी ॥
 सारी फटी सुकुमानि हटी अंगिया दरकी सरकी रस भीनी ।
 गाल गुलाल लगाइ कै अंक रिझाय बिदा करि दीनी ॥”³⁰

इस तरह रसखान-काव्य में शृंगार के सम्भोग पक्ष के रूप-चित्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। रसखान आचार्य कवि नहीं, भावुक कवि हैं। अतः उनके काव्य में नायिका भेद-वर्णन का निर्वाह प्रायः नहीं हुआ है किन्तु प्रयास करने से कुछ उद्धरण खोजे जा सकते हैं। ‘आगत पतिका’ की मुरझाई देह बल्लरी प्रियतम आगमन के सुसंवाद से प्रमुदित गई हैं।

“नाह-वियोग बढ़्यौ रसखानि मलीन महा दुति देहतिया की ।³¹
 पंकज सौ मुख गौ मुरझाय लगीं लपटें बरि स्वांस हिया की ॥
 ऐसे में आवत कान्ह सुने हुलसै तरकीजु तनी अंगियाँ की ।
 योंजग जोति उठी तन की उसाइ दर्ई मनौ बाती दिया की ॥,

रसात्मक-सौन्दर्य के विप्रलम्भ-पक्ष की दृष्टि से रसखान का काव्य बड़ा विलक्षण है। वियोग काल की संचित मानस-छवियों को रूपायित करने में कवि पूर्णतः सिद्धहस्त है। रसखान पूर्वराग संबंधी सूक्ष्मातिसूक्ष्म उद्भावनाओं के धनी हैं। कृष्ण के नेह-स्नेह में निमग्न गोपियों की कल्पना प्रवण अनुभूतियां सविशेष मुखर हुई हैं। यथा—

“उनही के सनेहन सानी रहैं उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं ।³²
 उनहीं की सुनैन औ बैन त्यों सैन सौं चैन अनेकन ठानी रहैं ॥
 उनहीं संग डोलन मैं रसखानि सबै सुख सिन्धु अधानी रहै ।
 उनहीं बिन ज्यों जलहीन है मीन आँखि मेरी अँसुवानी रहैं ॥

30. सुजान रसखान, सवैया	— 120
31. वही	— 105
32. वही	— 30

रागात्मक संवेदनओं में मानिरी प्रिया का रूठना अत्यधिक स्पर्शी होता है। नायिका का मान संबंधी वर्णन भी रसखान ने रस—प्रेरित होकर किया है। यथा—

“प्रिय सों तूमि मान कर्यों कत नागरि आजु कहा किनहूँ सिख दीनी।

प्रयारा की विविध अनुभूतियों से रस—स्निग्ध है रसखान का काव्य मदन—दहन जैसा प्रवास काल में होता है वैसा पूर्वराग में कहाँ? रसखान की कविता में प्रवास की टीस और तज्जन्य प्रकल्पनाएं बड़ी हृदयस्पर्शी बन पड़ी हैं। यथा—

“मग हेरत धूँधरे नैन भये रसना रट वा गुन गावन की।¹
 अंगुरी गनि हार थकी सजनी सगुनौती चलै नहिं पावन की।।
 पथिकौ कोउ ऐसो जु नाहिं कहै सुधि है रसखानि कै आवन की।
 मन भावन आवन सावन में कही औधि करी डग बावन की।।”

सम्प्रति रसखान का रस—सौन्दर्य उनकी आंतर अनुभूतियों और मूल संवेदनाओं से सम्पन्न हैं। कवि की रागात्क चेतना उसकी आत्मिक सौन्दर्यानुभूति, उसकी रस—चर्वणा सर्जनात्मक शक्ति के सहारे प्रतिच्छवित हुई है। रसखान रस—धर्मी सौन्दर्यदर्शी हैं। उनका श्रृंगार वर्णन भावक और भावुक दोनों के लिए आस्वाद्य हैं, अस्तु वह रसमयी है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि रसखान के काव्य में प्रेम की वेगवती धारा बहती है। उनके भक्ति—भाव की धारा रसमयी है। उनके वर्णन में संयोग एवं वियोग धारा का प्रवाह है। उनके श्रृंगार वर्णन में सौन्दर्य सहवर्ती बन कर आया है इस प्रकार उनका प्रेम वर्णन रसानुभूति से पूर्ण है।

रसखान प्रेम को एक शिखा के रूप में देखते हैं, जो वियोग के ताप में सुलगती रहती है।

33. सुजान रसखान, सवैया – 231

अध्याय-5

संदर्भ-ग्रन्थ :-

- क्रमांक -1. सं० डॉ० नागेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०-236
2. रसखान : प्रेम वाटिका, पृ०-12
3. सुजान रसखान सवैया, पृ०-10
4. वही पृ०-13
5. वही पृ०-22
6. वही पृ०-260
7. वही पृ०-225
8. वही पृ०-100
9. वही पृ०-226
10. सुजान रसखान, पृ०-11
11. सं० विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ०-136
12. वही पृ०-136
13. वही पृ०-136
14. सुजान रसखान सवैया, पृ०-18
15. वही पृ०-62
16. सुजान रसखान सवैया, पृ०-125
17. वही पृ०-41

18. वही पृ०—32
19. सुजान रसखान सवैया, पृ०—264
20. वही पृ०—01
21. वही पृ०—16
22. सुजान रसखान सवैया, पृ०—273
23. वही पृ०—18
24. वही पृ०—140
25. वही पृ०—238
26. वही पृ०—141
27. वही पृ०—218
28. सुजान रसखान सवैया, पृ०—40
29. वही पृ०—142
30. सुजान रसखान सवैया, पृ०—120
31. वही पृ०—105
32. वही पृ०—30
33. सुजान रसखान सवैया, पृ०—231

षष्ठम् अध्याय : रसखान के काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन

संस्कृति के अन्तर्गत दर्शन, साहित्य, सामाजिक परम्परायें सभी आते हैं। जब हम रसखान के काव्य में संस्कृति पर विचार करते हैं तब सर्वप्रथम हम सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण करते हैं। मध्यकालीन संस्कृति की प्रमुख धारा भक्ति भावना रही है। कृष्ण भक्ति की सगुण धारा में कृष्ण एवं संसार दोनों को सत्य दर्शाया गया है। यद्यपि रसखान की भक्ति धारा बल्लभ सम्प्रदाय के निकट है फिर भी रसखान के सांस्कृतिक विश्लेषण में रूपात्मक वैभव से भक्ति की स्रोत स्विनी प्रवाहित होती है। रसखान के प्रेम, सौन्दर्य, भक्ति के समवेत रूप का स्राव भगवान कृष्ण के मनोहारी सौन्दर्य से स्रवित होता है।

रसखान का युगधर्म जिसमें नायक—नायिका का प्रेम गुंजित होता है। वही कृष्ण के भक्ति अंकन में प्रेमी प्रेमिका का उदान्त रूप उभर कर सामने आता है कृष्ण रूप का ऐसा है जिसे देखकर राधा में गागर में जल न भरकर उनकी स्मृतियां भर लेती हैं। एतएव प्रधान प्रश्न कृष्ण के स्वरूप का विकास अध्ययन है इसलिए यहां सर्वप्रथम कृष्ण विकास के उपास्थान को प्रस्तुत किया गया है। दूसरे खण्ड में रसखान के काव्य में संस्कृति का दर्शाया गया है। रसखान के काव्य के नायक कृष्ण है। कृष्ण एवं राम दोनों भारतीय संस्कृति के आलोक साम्य रहे। राम के चरित्र को लेकर वाल्मीकि ने रामायण की रचना की उसी के आधार पर तुलसी ने राम चरित्र मानस की रचना की। कृष्ण को आधार बनाकर भागवतकार ने श्रीमद् भागवत की रचना की। श्रीमद् भागवत सभी कृष्ण कवियों का उपजीव्य काव्य है। रसखान ने श्री कृष्ण को नायक बनाकर अपने काव्य के केन्द्र में रखा है। श्रीकृष्ण या कृष्ण का विकास प्राचीन ग्रन्थों से प्रारम्भ होता है तथा उनका भक्ति प्रेरक रूप हमें भागवत में विशेष रूप से प्राप्त होता है, ऋग्वेद, महाभारत, पुराण गीता में कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया गया है वह सांस्कृतिक अध्ययन का विषय है। कृष्ण के विकास में भारतीय संस्कृति के अनेक सोपान गुजरते हैं। कृष्ण का अध्ययन भारतीय संस्कृति का स्वयमेव अध्ययन है। इसके पश्चात् कृष्ण का स्वरूप स्थिर होता है इस स्वरूप का प्रयोग कृष्ण के काव्य में किन रूपों में आता है यही प्रस्तुत अध्याय का विवेच्य विषय है।

(अ) कृष्णा के विकास के उपस्थान

छान्दोग्योपनिषद् में कृष्ण को 'घोर आङ्गिरस ऋषि का शिष्य और देवकी का पुत्र कहा गया है 'तद्धयेतत् घोर-आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय उवत्वा उवाच। अपिपास एवं स बभूव। सोऽन्तवेलायाम् एतत् वयं प्रतिपद्येत, अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणशंसितमसि।''¹

कौशीतकी ब्राह्मण में भी आंगिरस ऋषि के शिष्य कृष्ण का उल्लेख है—

“कृष्णो ह तदाङ्गिरसो ब्राह्मणान् छन्दसीय तृतीयं सवनं ददर्श।”²

वैदिक वान्ममय के इन उल्लेखों से पता चलता है कि कृष्ण देवकी के पुत्र थे और घोर आंगिरस ऋषि के शिष्य थे, जिनसे उन्होंने ब्रह्म-विद्या की दीक्षा ली थी और वे मन्त्र-द्रष्टा ऋषि के रूप में स्वीकार किये गये थे।

महाभारत

महाभारत-काल में भागवत धर्म का पुनरुद्धार हुआ। महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि महाभारत काल में सांख्य योग, पांचरात्र, वेद और पाशुपत चार सम्प्रदाय प्रचलित थे।

सांख्यं, योगः, पांचरात्रं, वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे, विद्धि नानामतानि वै।।³

सांख्य और योग की चर्चा गीता में भी आई है और दोनों को एक बताया गया है, यद्यपि सांख्य अनीश्वरवादी और योग ईश्वरवादी था। आजकल जो सांख्य और योग प्रचलित हैं वे वास्तव में प्राचीन सांख्य योग मतों से भिन्न हैं। इन प्राचीन मतों का आज पता नहीं चलता है वेदमत वह मत था जिसके तत्त्व-ज्ञान के आधार तो उपनिषद् और आरण्यक थे, पर क्रियाओं के आधार वेद थे। 'वेदवाद' शब्द से संहिताओं में वर्णित यज्ञादि भाव का बोध होता है। सम्भवतः इसी वेदवाद की निन्दा गीता के दूसरे अध्याय में की गई है।¹

1. छान्दोग्य, 3-17-6

2. सांख्यन, शान्ति पर्व अध्याय 349

3. श्रीमद्भगवद्गीता, अ० 2, श्लोक 42, 43, 44

गीता में इसके तत्त्वज्ञान—पक्ष को ग्रहण किया गया है और ब्रह्म—विद्या को महत्व दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत के तत्त्वज्ञान—पक्ष को 'भागवत धर्म' ने आत्मसात् कर लिया था। गीता में अध्याय—समाप्ति—सूचक पुष्पिका इसी तथ्य की ओर संकेत करती है :

“इति श्रीमद्भागवद्गीतायामुपनिषत्सु ब्रह्माविद्यायां योगशास्त्रे”.....।

गीता में उपनिषदों में दिये हुए सिद्धान्तों का विस्तार किया है। इस तत्त्वज्ञान का प्रथम आचार्य अपान्तरतम था। महाभारत में सांख्य, योग और वेदान्त इन तीनों ही मतों का पूर्ण प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। शान्ति पर्व के कई आख्यानो में इनकी चर्चा आती है।

पाशुपत—भक्ति का उल्लेख हम पहले अध्याय में कर चुके हैं। यह शैव—सम्प्रदाय का मत था। महाभारत में विष्णु और रुद्र दोनों का समन्वय स्थापित करके विष्णु को प्रधानता दी है। भगवद्गीता में 'रुद्राणां शंकरश्चास्मि' वाले वचन में यही समन्वय की ध्वनि है। पाशुपत तत्त्व—ज्ञान शान्ति पर्व के 349में अध्याय में वर्णित है। 280 और 284 अध्यायों में भी शंकर की स्तुतियों के रूप में शिव का महत्व प्रदर्शित किया गया है। अनुशासन पर्व में उपमन्यु के आख्यान में इस मत का विकास दिखाया गया है। परन्तु महाभारत में पाशुपत मत का पूर्ण विवेचन नहीं हुआ है।

महाभारत में जिस मत का पूर्ण विवरण है, उसे पांचरात्र कहते हैं : जिस भागवत धर्म की परम्परा वैदिक युग से चली आ रही थी, उसे महाभारत काल में पांचरात्र नाम मिला। इस मत की विशेषता श्रीकृष्ण की भक्ति है। वास्तव में इस मत का पूर्ण पोषण श्रीमद्भगवद्गीता में ही हुआ है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान के सूक्ष्म अध्ययन से तो यह झलकता है कि महाभारत के समय में भगवद्भक्ति वाले भागवत् कहलाते थे, जो विष्णु और श्रीकृष्ण को परमेश्वर

1. यामिमां पुष्पितांवाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ! नन्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरां जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भौगेश्वर्यगतिं प्रति॥
भौगेश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिं समाधौ न विधीयते॥
श्रीमद्भगवद्गीता अ02, श्लोक 42, 43, 44।

स्वरूप मानकर उनकी भक्ति करते थे। पांचरात्र मत इससे कुछ भिन्न है। शान्ति पर्व के नारायणीय उपाख्यान में इसकी पूर्ण व्याख्या की गई है।

इस उपाख्यान में कई कथाएं हैं। इनमें पहली कथा में क्षीरसमुद्र के उत्तर की ओर श्वेत द्वीप का वर्णन है, जहां पांचरात्र धर्म के अनुयायी नारायण की पूजा करने वाले निवास करते हैं। वे अतीन्द्रिय, निराहारी और अनिमेष लोग हैं जिनकी अनन्य भक्ति से नारायण का प्राकट्य होता है। आगे के अध्यायों में बताया है कि नारद जी जब बद्रीकाश्रम में नर और नारायण का दर्शन करने के लिए जाते हैं, उस समय नारायण पूजा में संलग्न है। नारद ने उनसे प्रश्न किया कि सर्वेश्वर होते हुए आप किसकी पूजा करते हैं? इसके उत्तर में नारायण ने बतलाया कि वे आदि प्रकृति की उपासना करते हैं जो सबका मूल कारण है। नारद यह सुनकर मूल प्रकृति को देखने के लिए आकाश की ओर जाते हैं और सुमेरु के झुंड पर पहुँच कर उन्हें विचित्र व्यक्तियों के दर्शन होते हैं। इस स्थल पर श्रोता युधिष्ठिर, भीष्म से पूछते हैं कि वे कौन व्यक्ति थे ? इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म विस्तार से उनका वर्णन करते हैं और वसुउपरिचर की कथा बतलाते हैं। इसी सम्बन्ध में पांचरात्र सम्प्रदाय का नाम आया है, जिसमें वसुउपरिचर दीक्षित था और जो सात्वत-विधि से नारायण की उपासना करता था। इसके अनन्तर भीष्म चित्र शिखण्डियों का उल्लेख करते हैं, जो पांचरात्र धर्म के पहले अनुयायी थे और जिन्होंने मेरु पर्वत पर उसका प्रचार किया था। ये चित्रशिखण्डी संख्या में सात थे—मरीचि, अत्रि, अग्निरस, पुलस्त्य, पुलः, क्रतु और वशिष्ठ। आठवें स्वयंभू थे। इन सप्त ऋषियों ने तथा स्वयंभू ने वेदों का निष्कर्ष निकाल कर पान्चरात्र नामक शास्त्र तैयार किया, जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों का विवेचन है। यह ग्रन्थ एक लाख श्लोकों का था। जब नारायण के सम्मुख यह शास्त्र, प्रस्तुत हुआ तो नारायण ने कहा, “हे ऋषियों ! तुमने जो यह शास्त्र बनाया है, इसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के आधार पर प्रवृत्ति—निवृत्ति दोनों ही मार्गों का प्रतिपादन किया है। यह शास्त्र परम्परा से बृहस्पति तक पहुंचेगा। बृहस्पति से इस ग्रन्थ को राजा वसुउपरिचर सीखेगा किन्तु उसके पश्चात् यह ग्रन्थ नष्ट हो जायेगा।” यह कहकर नारायण तो अन्तर्निहित हो गये और चित्रशिखण्डियों ने इसका प्रचार किया। आगे वसुउपरिचर का विस्तार से वर्णन है, फिर नारद की कथा का प्रारम्भ होता है। नारद नारायण की स्तुति करते हैं और नारायण प्रसन्न होकर उन्हें अपना विश्वरूप दिखलाते हैं और फिर उन्हें पांचरात्र-मत के सिद्धान्तों का उपदेश देते हैं, जिनका सारांश यह है।

“जो नित्य अजन्मा और शाश्वत है, जिसे त्रिगुणों का स्पर्श नहीं जो आत्मा प्राणिमात्र में साक्षी रूप से रहता है, जो चौबीस तत्वों से परे पच्चीसवां पुरुष है; जो निस्पृह होकर ज्ञान से ही जाना जा सकता है, उस सनातन परमेश्वर को वासुदेव कहते हैं। वह सर्वव्यापक है। प्रलयकाल में पृथ्वी जल में लीन होती है, जल अग्नि में, तेज वायु में, वायु आकाश में और आकाश अव्यक्त प्रकृति में और अव्यक्त प्रकृति पुरुष में लीन होती है। फिर उस वासुदेव के सिवा कुछ भी नहीं रहता। पंच महाभूतों का शरीर बनता है और उसमें अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से तुरन्त प्रवेश करता है। यह देहवर्ती जीव महासमर्थ है और शेष तथा संकर्षण उसके नाम है। इस संकर्षण से मन उत्पन्न होकर सनत्कुमारत्व अर्थात् जीवन्मुक्तता पा सकता है।

उस मन को प्रद्युम्न कहते हैं। इस मन से कर्ता, कारण और कार्य की उत्पत्ति होती है और चराचर जगत् का निर्माण होता है, इसी को अनिरुद्ध कहते हैं और ईशान भी कहलाता है। सब कामों में व्यक्त होने वाला अहंकार यही है। निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान वासुदेव जीवन रूप में जो अवतार लेता है, वह संकर्षण है। संकर्षण से जो मन रूप में अवतार होता है, वह प्रद्युम्न है और प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है, वह अनिरुद्ध है और वही अहंकार और ईश्वर है।”

जब वासुदेव कृष्ण के रूप में वासेव का अवतार माना गया तो प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण अर्थात् बलराम क्रम से मन, अहंकार और जीव के अवतार के रूप में समझे गये। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ में ‘वासुदेव’ अवश्य परमात्मा के लिये आया है परन्तु उसमें चतुर्व्यूह सिद्धान्त का वर्णन कहीं नहीं है। एक दूसरी बात विचारणीय यह भी है कि ‘श्रीकृष्ण’ के साथ संकर्षण अर्थात् बलदेव का सम्बन्ध तो और भी कई स्थलों पर है और बलदेव को श्रीकृष्ण के समान ही विष्णु का अवतार भी माना गया है,¹ परन्तु प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का कृष्ण से सम्बन्ध केवल पान्चरात्र-मत में ही दिखाया है। इस चतुर्व्यूह की कल्पना वेदान्त, सांख्य और योग मतों से भी भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कल्पना सात्वत-सम्प्रदाय की ही थी। ‘सात्वत’ लोग श्रीकृष्ण के ही वंश के थे और सम्भवतः यह मत श्रीकृष्ण के समय में ही सात्वत लोगों में फैला, इसी मत को ‘सात्वत’ कहते हैं। इस मत का उल्लेख विशेष रूप से भीष्मस्तव में हुआ है। शान्तिपर्व के 369वें अध्याय में इस चतुर्व्यूह के अवतारों की चर्चा है और आगे हंस, कूर्म, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, वामन, राग, दाशरथि राम, सात्वत और कल्कि अवतारों

की चर्चा है और फि 340वें अध्याय में सांख्य औद वेदान्त के तत्वों के मूल से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। 341 और 342वें अध्याय में नारायण के नामों की उत्पत्ति लिखी है। पहले श्रीकृष्ण ने शिव और विष्णु के अभेद का वर्णन किया है फिर आगे बताया है कि:

“रुद्र नारायण स्वरूप ही है, अखिल विश्व का आत्मा मैं हूं और मेरा आत्मा रुद्र है। मैं पहले रुद्र की पूजा करता हूं, आप अर्थात् शरीर को ही नारा कहते हैं, सब प्राणियों का शरीर मेरा ‘अयन’ अर्थात् निवास-स्थान है, इसलिये मुझे नारायण कहते हैं सारे विश्व को मैं व्याप लेता हूं और सारा विश्व मुझ में स्थित है इसी में मुझे वासुदेव कहते हैं। मैंने सारा विश्व व्याप लिया है, अतएव मुझे विष्णु कहते हैं। पृथ्वी और स्वर्ग भी मैं हूं और अन्तरिक्ष भी मैं हूं, इसी से मुझे दामोदर कहते हैं। चन्द्र, सूर्य, अग्नि की किरणें मेरे बाल हैं; इसलिये मुझे केशव कहते हैं। गो अर्थात् पृथ्वी को मैं ऊपर ले गया।

1. महाभारत आदि एवं अध्याय 197

इसी से मुझे गोविन्द कहते हैं। यज्ञ का हविर्भाग मैं हरण करता हूं इसी से मुझे हरि कहते हैं; सत्त्वगुणी लोगों में मेरी गणना होती है इसी से मुझे सात्वत कहते हैं। लोहे का काला फल होकर मैं जमीन जोतता हूं और ‘मेरा रंग काला है, इसी से मुझे कृष्ण कहते हैं।’

342 और 343वें अध्यायों में श्वेतद्वीप से लौ आने पर नर और नारायण का जो संवाद हुआ, उसका वर्णन है। आगे के अध्यायों में श्राद्ध इत्यादि कई प्रकार की धार्मिक क्रियाओं का विवेचन है। फिर सात्वत धर्म का वर्णन आया है। इस धर्म को निष्काम भक्ति का पथ बतलाते हुए उसे ऐकान्तिक विधि कहा है, फिर अन्त में भागवत धर्म की परम्परा का वर्णन है जिसका सारांश है कि त्रेता युग में बिम्बस्वान् मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा से यह धर्म चला।¹ इस परम्परा का उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी प्रकार से हुआ है :

इमं विवम्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान् मनवे प्राह मनुर्निष्ठाकवेऽब्रवीत् । गीता 4 । 1

इन अन्तिम अध्यायों में सात्वत और ऐकान्तिक धर्म समानार्थक कर दिये हैं और सांख्य, योग और वेदान्त के तत्त्वज्ञान का अभेद बताया है। 349वें अध्याय में अपान्तरमा के पूर्व-काल का वृत्तान्त है और फिर अन्त में पान्चरात्र मत के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए परमात्मा के समन्वित रूप की व्याख्या की है :

जो जीव शान्त वृत्ति से अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव के अधिदैव चतुष्टय की अथवा विराट्, सूत्रात्मा, अन्तर्यामी और शुद्ध ब्रह्म के अध्यात्म चतुष्ट का अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय के अवस्था चतुष्टय का क्रमशः स्थूल में लय करता है, वह कल्याण पुरुष को पहुंचाता है। योगमार्गी उसे परमात्मा कहते हैं, सांख्य वाले उसे एकात्मा कहते हैं और ज्ञानमार्गी उसे केवलात्मा कहते हैं।

1. त्रेता युगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ । मनुश्च लोकमृत्यर्थं सुतायेक्षाकवे ददौ ।
इद्ववाकुना च कवितो व्याप्य लोकानवस्थितः । महाभारत शान्ति पर्व 348, 351, 352 ।

वसु उपरिचर के कथानक में विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने यज्ञों में पशुबलि का निषेध किया और भक्ति-भावना पर विशेष बल दिया। यह धार्मिक सुधार का श्रीगणेश कहा जा सकता है। नारद और नारायणीय संवाद से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भगवान् भक्ति से प्राप्य हैं। नारद की भक्ति से प्रसन्न होकर नारायण ने प्रकट होकर पान्चरात्र धर्म का तत्व नारद को समझाया और अपने अवतारों का विस्तार से वर्णन किया। वसु उपरिचर के कथानक में हरि का विशेष महत्व प्रतीत होता है और नारद-संवाद में चतुर्व्यूह भगवान् का। यह भक्ति का सिद्धान्त गीता में विशेष रूप से प्रतिपादित हुआ है और जब कृष्ण के साथ उसके भाई संकर्षण, पुत्र प्रद्युम्न और पौत्र अनिरुद्ध का सम्बन्ध स्थापित हुआ तब भक्ति-भावना का विशेष रूप से प्रचार सात्वतों में हुआ।

इस प्रकार नारायणीय उपाख्यान के आधार पर कृष्ण का सम्बन्ध सास्वत, वासुदेव, नारायण और विष्णु से स्थापित किया जा सकता है। महाभारत के आदि पर्व में वासुदेव को सात्वत कहा गया है।¹ द्रोण-पर्व 97-36 में सात्यकि और उद्योग पर्व 70-7 में जनार्दन कहा गया है। भीष्म-पर्व में लिखा है कि यह रहस्यात्मक नित्य-स्वरूप भगवान् वासुदेव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के द्वारा विभिन्न विधियों से पूजा जाता है। द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ में इसकी पूजा सात्वत विधि से होती है।

विष्णु-पुराण में यादवों और वृष्णियों के वंश का वर्णन करते हुए लिखा है कि सत्वत 'अंश'का पुत्र था और उसकी संतान सात्वत कहलाई। 'श्रीमद्भागवत' (1-14-25) तथा (3-1-29) में सात्वतों का वर्णन यादववंशीय अन्धकों और वृष्णियों के साथ किया है और (9-9-49) में उनको उच्च कोटि का भागवत ब्राह्मण और वासुदेव बतलाया है तथा (10-58-42 और 11-27-5) में वासुदेव को सात्वतर्षभ कहा है।

1. आदिपर्व अध्याय 218 श्लोक 12 ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पतन्जलि ने वासुदेव और बलदेव को वृष्णिवंशीय लिखा है। मेगस्थनीज ने जो चन्द्रगुप्त 'मौर्य' के दरबार में मकदूनिया का राजदूत था, सात्वतों और वासुदेव कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख किया है।

भण्डारकर ने अपनी पुस्तक 'वैष्णविज्म ऐण्ड शैविज्म' में वासुदेव कृष्ण और वृष्णिवंश पर विशेष रूप से विचार किया है और महाभाष्य और बौद्ध ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि वैदिक काल के विष्णु देवता ही पौराणिक काल में कृष्ण रूप में स्वीकार किये जाने लगे थे। अब प्रश्न यह है कि वासुदेव शब्द के साथ कृष्ण का सम्बन्ध कैसे हुआ ? वासुदेव वृष्णिवंशीय माने गये हैं। 'महाभाष्य' में पतन्जलि ने भी वासुदेव को वृष्णिवंश का ही माना है और 'वासुदेव' शब्द का चार बार उल्लेख किया है, जब कि कृष्ण शब्द का प्रयोग केवल एक बार किया है। बौद्धों के 'घटजातक' में 'उपसागर' और 'देवगम्भा' के पुत्रों का नाम

वासुदेव और और बलदेव लिखा है। काण्हा और केशव नाम भी बीच-बीच में गद्यभाग में उपलब्ध होते हैं। इन शब्दों की टीका में काण्हा को काण्हायन गोत्र का बताया गया है तथा 'महाभाग' जातक की व्याख्या में काण्हा और वासुदेव शब्दों से इसकी पुष्टि भी की गई है। इससे प्रतीत होता है कि वासुदेव काण्हायन अथवा कृष्णायन गोत्र के थे। महाभारत में वासुदेव की व्याख्या वासुदेव का पुत्र ही की गई है, वासुदेव का पुत्र नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब वासुदेव को उपास्य रूप में ग्रहण किया गया तो वैदिक पात्र कृष्ण—जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं—के सब गुणों का आरोप वासुदेव में हो गया। काण्हायन गोत्र वाली बात इस बात से भी सिद्ध होती है कि पाणिनि ने 4।1।96 और 4।1।99 सूत्रों के अनुसार 'कृष्णायन' को कृष्णगोत्रोत्पन्न स्वीकार किया है। यह एक ब्राह्मण गोत्र था, जो विशिष्ट के वर्ग का था। मत्स्यपुराण, अध्याय 200 में कृष्णायन गोत्र को पाराशर वर्ग का भी बताया है। ब्राह्मण और सूत्र 12।15 के अनुसार क्षत्रियों के गोत्र भी ब्राह्मण-गोत्रों के अनुसार होते थे। कृष्ण, कृष्णायन गोत्रोत्पन्न होने के कारण ही कृष्ण कहलाये और फिर छान्दोग्यपनिषद् में उल्लिखित घोर आङ्गिरस ऋषि के शिष्य और देवकी के पुत्र कृष्ण से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया। सभा-पर्व में भीष्म कृष्ण के विषय में कहते हैं कि कृष्ण को सबसे अधिक आदर इसीलिये दिया गया है कि वे वेद और वेदांगों के ज्ञाता हैं और ऋत्विग् भी हैं।¹

वासुदेव और नारायण के सम्मिश्रण के सम्बन्ध में भी भण्डारकर ने निर्देश किया है। हम पहले कह चुके हैं कि महाभारत का नारायणीय उपाख्यात नारायण और विष्णु में एकता स्थापित करने का अच्छा प्रयत्न है। नारायण शब्द की व्याख्या भी इस उपाख्यान में की गई है। 'नार' जल को भी कहते हैं। ऋग्वेद में इस बात का संकेत है कि सृष्टि से पहले सब जगह जल ही जल था; फिर नारायण की नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, जिसने सृष्टि की रचना की।² शतपथ ब्राह्मण में भी नारायण का उल्लेख हुआ है।³ ऋग्वेद में पांचरात्र-सत्र का प्रयोजक पुरुष 'नारायण' को ही तथा पुरुष-सूक्त का कर्त्ता भी उसे ही बताया गया है।⁴ तैत्तिरीयारण्यक 10।11 में भी नारायण को सर्वगुणसम्पन्न कहा गया है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान के अनन्तर तो नारायण सर्वेश्वर के रूप में प्रस्तुत हुए। महाभारत के वन-पर्व अध्याय 188; 189 में वर्णित प्रलय के प्रसंग में लिखा है कि जब प्रलय होने पर चारों ओर जल ही जल था, तो एक न्यग्रोध वृक्ष

की शाखा पर शंख पर बैठा हुआ एक बालक ही अवशिष्ट रहा। उसे अपना मुख खोला और मार्कण्डेय उसके मुख में चले गये। वे वर्षों तक वहीं भ्रमण करते रहे और जब बालक ने उन्हें मुख से बाहर निकाला तो उन्होंने आश्चर्य—चकित होकर बालक से पूछा कि आप कौन हैं? तब नारायण ने अपना स्वरूप उन्हें बताया। मार्कण्डेय ने महाभारत में युधिष्ठिर को यह कथा सुनाई और कहा कि तुम्हारे सम्बन्धी जनार्दन ही स्वयम् नारायण है। नारायण की कथा पुराणों में भी आती है और 'नारायण' नाम की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है।

1. महाभारत सभापर्व 38
2. ऋग्वेद 10।8।5 तथा 10।82/6
3. शतपथ ब्राह्मण 13।3।4
4. ऋग्वेद 12।6।1 तथा 12।10।90

महाभारत में कई स्थलों पर वासुदेव और अर्जुन को नर और नारायण बताया गया है।¹ इस प्रकार महाभारत काल में ही नारायण का सम्बन्ध वासुदेव से हो गया था।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिक काल में विष्णु को प्रधानता मिलने लगी थी। ऐतरेय ब्राह्मण में तो विष्णु को सर्वोपरि देव माना है।² शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीयारण्यक में भी विष्णु के वैशिष्ट्य की कथाएं आती हैं।³ मेत्रेय उपनिषद् और कठोपनिषद् 3।9 में विष्णु की महत्ता स्पष्टतः प्रकट की गई है तथा विष्णु के स्थान को 'परमं पदम' कहा है किन्तु विष्णु का वासुदेव से सम्बन्ध महाभारत—काल में ही जोड़ा हुआ प्रतीत होता है; भीष्म—पर्व के 65—66वें अध्याय के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आश्वमेधिक पर्व में एक कथा आती है जो इस प्रकार है :

महाभारत युद्ध के पश्चात् जब कृष्ण द्वारका से लौट रहे थे तो मार्ग में भृगुवंशीय उट्टंक नाम के मुनि मिले। उट्टंक ऋषि ने कृष्ण से पूछा कि क्या आपने कौरवों और पाण्डवों में शान्ति स्थापित कर उनमें मेल करा दिया है। कृष्ण ने उत्तर दिया कि कौरवों का नाश हो गया है और पाण्डवों का एकच्छत्र राज्य। इस पर ऋषि बड़े कुद्ध हुए और कृष्ण से बोले कि यदि तुम

अध्यात्म—दर्शन की ठीक—ठीक व्याख्या न कर सकोगे तो मैं तुम्हें शाप दे दूंगा। कृष्ण ने उन्हें अध्यात्मदर्शन समझाकर अपना विराट् रूप दिखाया। यहां इस रूप को वैष्णव—रूप कहा गया है।⁴ शान्तिपर्व में भी कृष्ण को विष्णु का रूप बताया गया है।⁵

महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत काल में कृष्ण का वासुदेव नारायण और विष्णु के रूप में स्वीकरण सर्वसाधारण न था। कुछ स्थलों को छोड़कर महाभारत में कृष्ण एक उच्चकोटि

1. वनपर्व 16।47 तथा उद्योग पर्व 49।1
2. ऐतरेय ब्राह्मण 1।1
3. शतपथ 1।2।5 और 14।1।1
4. आश्वमेधिक पर्व अध्याय 53—54
5. शान्त पर्व अध्याय 48

के राजनीतिज्ञ क्षत्रिय योद्धा के रूप में चित्रित किये गये हैं और यदि हम उन स्थलों को पाश्चात्य विद्वानों की उक्ति के अनुसार प्रक्षिप्त मान लें तो महाभारत में कृष्ण को भगवान् मान लेने की आधारशिला ही गिर जाती है, परन्तु महाभारत के अन्तःसाक्ष्य और बाह्यः साक्ष्य के आधार पर इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता। विण्टरनिट्ज ने अपने संस्कृत—साहित्य के इतिहास में महाभारत के तीन संस्करण माने हैं। पहले संस्करण में 8800 के लगभग श्लोक, दूसरे में 24000 और तीसरे में एक लाख हैं। हरिवंश पुराण को वे महाभारत से अलग ही स्वीकार करते हैं। महाभारत के कुछ अंशों को प्रक्षिप्त मानकर यदि यह महाभारत से अलग ही स्वीकार करते हैं। महाभारत के कुछ अंशों को प्रक्षिप्त मानकर यदि यह कल्पना कर भी ली जाय कि महाभारत काल में कृष्ण को साधारण राज—पुत्र के रूप में ही स्वीकार किया गया है तो श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर — जो अन्तः और बाह्य साक्ष्य के आधार पर महाभारत काल की ही रचना ठहरती है और जिसमें अधिक अंश प्रक्षिप्त नहीं है—यह मानना पड़ेगा कि महाभारत काल में ही कृष्ण में अवतारत्व का आरोप होने लगा था। महाभारत के विषय में एक बात और भी उल्लेखनीय है। वह यह कि इस 'भागवत' एकान्तिक अथवा 'पांचरात्र धर्म का विशेष प्रचार सात्व्यों' के द्वारा हुआ जो योग्य और वीर क्षत्रिय योद्धा थे। यही कारण है कि उनके समय तक इस धर्म में क्षात्र बल का प्राधान्य रहा; परन्तु पौराणिक युग में विष्णु, नारायण और वासुदेव की त्रिवेणी सम्मिलित होकर बहने लगी, जिसका प्रवाह भक्ति—सलिल से परिपूर्ण था। आगे चलकर यह प्रवाह

वैष्णव-भक्ति कि विशाल सरिता में परिणत हो गया, जिसकी अनेक शाखा-प्रशाखाओं ने जनता को जीवन प्रदान किया और वह आनन्द-रस में निमग्न हो गया।

कृष्ण के जिन स्वरूपों का हमने अब तक विवेचन किया है, उनका हमारे भक्तिकालीन साहित्य से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है क्योंकि हिन्दी के कृष्ण भक्ति साहित्य के चरित-नायक ब्रजबिहारी लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है, जिनका लीलाधाम ब्रज है और गोप-गोपियों से सीधा सम्बन्ध है। प्रेमी-भक्ति के आलम्बन, गोप-गोपियों के सर्वस्व, राधावल्लभ, नटनागर, गोपाल-कृष्ण का समावेश हमारे वाङ्मय में कब से हुआ, यह एक दुस्तर समस्या है। पौराणिक-साहित्य का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। कई पुराण तो ऐसे हैं जिनमें कृष्ण-चरित संक्षेप में दिया गया है किन्तु कुछ पुराणों में कृष्ण की लीलाओं का विस्तार से वर्णन है कृष्ण चरित्र सम्बन्धी पुराण ये हैं :

पद्म-पुराण, वायु-पुराण, वामन-पुराण, कूर्म-पुराण, ब्रह्म-वैवर्त पुराण और हरिवंश पुराण। इनका उल्लेख हम आगे करेंगे। यहां तो हम यही देखने का प्रयास करेंगे कि गोपाल कृष्ण की कथा के अन्य कौन से सूत्र हैं ? जिन शिला-लेखों का पहले उल्लेख हुआ है, उनमें गोपाल कृष्ण की कथा के अन्य कौन से सूत्र हैं? जिन शिला-लेखों का पहले उल्लेख हुआ है, उनमें गोपाल कृष्ण का कोई संकेत नहीं मिलता। 'नारायणीय उपाख्यान' में वासुदेव अवतार का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि वासुदेव ने कंस के वध के लिए अवतार लिया। 'सभा-पर्व' में शिशुपाल ने व्यंग्य में कृष्ण को गोकुल में पूतना आदि का संहारक बताया है और भीष्म द्वारा की गई कृष्ण की प्रशंसा को झूठी प्रशंसा कहा है। 38वें अध्याय में जहां भीष्म ने कृष्ण की प्रशंसा की है, वहां यह उल्लेख नहीं है, इसलिए भण्डारकर ने इस पद को प्रक्षिप्त माने हुए लिखा है :

"The southern recension of the Mahabharat contains many interpolations.....Thus attempts have always been made to bring by means of interpolations, the stories told in the Mahabharat to the form, which they subsequently assume."¹

महाभारत के इस संस्करण में कृष्ण की गोकुल वाली कथाओं का समावेश है। उत्तरी भारत में पाई जाने वाली महाभारत की प्रतिलिपियों में इस प्रकार के श्लोक नहीं हैं। कृष्ण के गोविन्द नाम का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से जोड़ा जाता है।

1- Vaishnavism and Shaivism (Page 50 foot note)

'गोविन्द' एक पुराना नाम है और इसका उल्लेख 'श्रीमद्भागवत' और 'महाभारत' दोनों में हुआ है, परन्तु महाभारत में 'गोविन्द' शब्द का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से नहीं लगाया गया है। आदि पर्व में गोविन्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि भगवान् का नाम 'गोविन्द' इसलिए है कि उन्होंने 'वाराहावतार' में 'गो' अर्थात् पृथ्वी की रक्षा की थी।¹ शान्ति पर्व में भी इसी प्रकार व्याख्या की गई है।² भण्डारकर गोविन्द की उत्पत्ति गोविद् से बतलाई है, जो ऋग्वेद में इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है और 'केशिनिसूदन' के विषय में भी उन्होंने यही लिखा है कि यह भी इन्द्र का विशेषण था और बाद में ये दोनों विशेषण कृष्ण के साथ जोड़ दिये गये।³ ऋग्वेद में हमें ऐसे मन्त्र अवश्य मिलते हैं, जिनमें गो, वृष्णि, राधा, ब्रज, गोप, रोहिणी, और अर्जुन आदि नाम आये हैं, उनमें से कुछ मन्त्र निम्नलिखित हैं :

- 1— ता वां वास्तून्पुष्पसि गमध्वै । यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ।।⁴
- 2— स्तोत्रं राधानां पते ऋ० 1 |30 |29
- 3— गवामयब्रजं वृधि ऋ० 1 |10 |7
- 4— दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठत । ऋ० 1 |32 |11
- 5— त्वं नृचक्षा वृषभानुपूर्वी कृष्णास्वाम्ने अरुणो विभाहि ।
अथर्व० 3 |15 |3
- 6— तमेतदाधार यः कृष्णासु रोहिणीषु । ऋ० 8 |93 |13
- 7 कृष्णरूपाणि अर्जुना विवो मदे । ऋ० 10 |21 |3

इन मन्त्रों में जो नाम आये हैं, उनका यद्यपि गोपाल कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक कृष्ण का सम्बन्ध महाभारत के कृष्ण से जोड़ दिया गया, उसी प्रकार इन सभी नामों का उपयोग पौराणिक युग में कृष्ण से सम्बद्ध कर लिया हो।

हम पहले बता आये हैं कि 'घटजातक' में वासुदेव और बलदेव का उल्लेख है, वह कथा इस प्रकार है :

1. आदि पर्व (महाभारत) 21-12

2. शान्ति हर्ष 342-70

3- Vaishnavism and Shaivism (Bhandarkar) Page 51

4. ऋग्वेद 1 |154 |6

“वासुदेव और उसके भाई देवगम्भा और उपसागर के पुत्र थे। उन्हें देवगम्भा ने अपनी सेविका नन्द गोपा और उसके पति अन्धक को वेणु के सुपुर्द कर दिया था।” इस कथा से पता चलता है कि इस जातक की रचना के समय गोपाल कृष्ण वाली कथा प्रचलित थी; किन्तु अतर्क्य प्रमाणों के अभाव में इस जातक का समय— निर्धारण अत्यन्त कठिन समस्या है।

पुराण और कृष्ण चरित

गोपाल कृष्ण सम्बन्धी सबसे अधिक कथाएं हरिवंश पुराण में हैं। इस पुराण में कृष्ण के चरित को गोपियों के साथ सम्बद्ध कर लिया है। 'विष्णु पर्व' के 128 अध्यायों में कृष्ण-जीवन की पूरी कथा दी गई है और कृष्ण के सौन्दर्य का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है; पूतना-वध, शकट-वध, यमलार्जुन-पतन, माखन-चोरी, कालिय-दमन, धेनुक-वध, प्रलम्ब-वध, गोवर्द्धन-धारण, आदि सभी लीलाओं का इसमें विशद वर्णन है; बीच-बीच में प्रकृति का भी बड़ा ही सुन्दर चित्रण है। पाश्चात्य विद्वानों ने हरिवंश-पुराण का रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी के लगभग माना है और अपने कथन की पुष्टि में हरिवंश पुराण में आये हुए 'दीनार' शब्द को रखा है। हरिवंश पुराण में 3808 श्लोक हैं। श्रीकृष्ण इन्द्र की पूजा का निषेध कर नन्द को गोवर्द्धन की पूजा का विधान बताते हैं और गउओं को ही अपना सर्वस्व कहते हैं। 3522 संख्या वाले श्लोक में 'घोष' का उल्लेख है और यह बतलाया है कि गोप ब्रज को छोड़कर वृन्दावन चले आये। 'घोष' का दूसरा नाम 'आभीरपल्ली' बताया है। हरिवंश-पुराण में आभीरों का विस्तार मथुरा के निकट महावन से लेकर द्वजूरका के पास अनूप और आनर्त देश तक बताया गया है।'

महाभारत के 'मौशल-पर्व' अध्याय 7 में आभीरों के सम्बन्ध में एक कथा आती है, जिनके अनुसार अर्जुन वृष्णिवंश के समाप्त हो जाने पर उस वंश की स्त्रियों को जब द्वारका से कुरुक्षेत्र ले जा रहे थे, तो आभीरों ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया।

1. हरिवंशपुराण 5161–5163 श्लोक

आभीर लुटेरे और म्लेच्छ बताये गये हैं, जो पंचनद-प्रदेश में रहते थे। विष्णु-पुराण में आभीरों को कोंकण और सौराष्ट्र के निवासी बताया गया है। पहले तो आभीर चरवाहे थे, फिर वे पंजाब से मथुरा, सौराष्ट्र और काठियावाड़ तक फैल गये। आजकल 'अहीर' शब्द आभीर का ही बिगड़ा हुआ रूप है। ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आभीरों ने मराठा देश के उत्तर में अपना राज्य भी स्थापित किया था। नासिक में एक शिलालेख भी मिला है, जिसमें आभीर शिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन के राज्य के नवम वर्ष का उल्लेख है। इस शिलालेख से पता चलता है कि यही तीसरी शताब्दी का लिखा हुआ है। वायु-पुराण में आभीरों के एक राज्यवंश का वर्णन है, जिसमें 10 राजाओं का वर्णन हुआ है।¹ कठियावाड़ के एक अन्य उत्कीर्ण लेख (Inscription) में, जो गुण्डा स्थान में मिला है, रुद्रभूति के दान का वर्णन है। रुद्रभूति आभीर था। यह शिलालेख रुद्रसिंह नामक क्षत्रप ने लिखवाया था, जिसका समय ई0 सन् 189 के आसपास था।

आभीरों के इस इतिहास से आधुनिक विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि 'गोपाल कृष्ण' तथा 'बालकृष्ण' वाली कथाओं का समावेश 'वासुदेव' के साथ इन आभीरों द्वारा किया गया। आभीरों में 'बालदेवी' और 'बालदेवता' की उपासना प्रचलित है। 'बालदेवता' के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसका जन्म नीच घराने में हुआ और पालन-पोषण एक दूसरे कल्पित पिता के यहां हुआ, जिसे यह ज्ञान था कि वह उसका अपना बच्चा नहीं है और उसके बहुत से निरीह भाईयों की हत्या हो चुकी है। धेनुक-वध आदि की कथाएं भी इन्हीं आभीरों के द्वारा कृष्ण-कथा में स्थान पा गईं।² भण्डारकर ने इसी मत की पुष्टि करते हुए निर्णय किया है :

"The alliance of Krisna with Cowherdesses, which introduced an element in consistent with the advance of moraly into the "Vasudeva" religion, was also an after-growth, consequent upon the freer intercourse

1. वायु-पुराण खण्ड 2 अध्याय 37

between the wandering Abhiras and their more civilised Aryan neighbours took advantage of its looseness, Besides, the Abhiran women must have been fair and handsome as those of the Ahir Gayaliyas or cowherds of the present day are."

इस विषय में 'इण्डियन एण्टिक्वैरी' के लेख तथा "एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स" के लेख विचारणीय हैं। कैंनेडी ने अपने लेख में जाट गूर्जरो को आभीरो की ही सन्तान माना है। वेबर और ग्रियर्सन भी ईसा के पश्चात् ही आभीरो के देवता बालकृष्ण का होना सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसा सिद्ध करने से उनका अभिप्राय यह है कि बालकृष्ण की कथायें ईसा की कथाओं का रूपान्तर हैं। ग्रियर्सन ने लिखा है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण में आबाद हो गया था। इन ईसाइयों की भक्ति-भावना का पूरा-पूरा प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ा और क्राइस्ट से क्रिस्टो तथा फिर कृष्ण उनका उपास्य बन गया।

वैष्णवों की दास्य-भक्ति, प्रसाद, पूतना-स्तन्य-पान आदि की ग्रियर्सन ईसाइयत की ही देन बताते हैं। उनका कथन है कि पूतना बाइबिल की 'वर्जिन' है, प्रसाद 'लवफीस्ट' और दास्य भक्ति पाप-पीड़ित-मानवता का करुण कन्दन है। इन लेखों के आधार पर ईसा के पश्चात् ही बालकृष्ण की कथाओं का समावेश सिद्ध होता है। किन्तु यह बात वायुविकारजन्य प्रलाप से अधिक महत्व नहीं रखती। कीथ, मैकडोलन आदि विद्वानों ने इस मत का खण्डन किया है। अन्य प्रमाण भी उक्त कल्पना के विरोध में उपस्थित किये जा सकते हैं। हम बता आये हैं कि ईसा से बहुत दिन पहले ही बालकृष्ण की कथायें प्रचलित थीं और आभारी जाति कहीं बाहर से नहीं आई थी। संक्षेप में हम निम्नलिखित युक्तियां इस विषय में उपस्थित कर सकते हैं :

- 1— महाभारत, वायुपुराण और हरिवंश पुराण में आभीरो का उल्लेख है।
- 2— काठियावाड़ में पाये जाने वाले शिलालेख के अनुसार आभीरो का राज्यकाल ईसा से पहले ठहरता है।

- 3— अभीरों का द्रविड़ शब्द से सम्बन्ध, जिसका विवेचन राय चौधरी ने '**Early History of Vaishnavism**' में किया है। द्रविण भाषा में अभीर का अर्थ 'गोपाल' है।
- 4— महाकवि भास के 'बाल चरित', 'दूत वाक्य' और 'दूत घटोत्कच' नाटकों में वर्णित कृष्ण का चरित।
- 5— गाथा—सप्तशती में राधा—कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख।
- 6— बालकृष्ण की ईसा—निरपेक्ष बहुत सी कथाओं का अस्तित्व।

श्रीकृष्ण चरित का पूर्ण विवेचन करने वाला दूसरा पुराण 'ब्रह्म—वैवर्त पुराण' है जिसके कृष्ण—जन्म—खण्ड में कृष्ण विषयक सामग्री दी हुई है। पहले अध्यायों में कृष्ण जन्म का कारण, चौथे में गोलोक का और पांचवें में राधा के मन्दिर का वर्णन है। छठे अध्याय में अशावतारों का वर्णन करते हुए राधा और कृष्ण के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। फिर सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण जन्माख्यान, आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी—व्रत का वर्णन है। नवें अध्याय में बलदेव का जन्म और नन्द के पुत्रोत्सव का वर्णन है। आगे श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है। बीच—बीच में और भी बहुत से उपाख्यान आये हैं। फिर उत्तरार्द्ध में जो 55वें अध्याय से प्रारम्भ होता है, श्रीकृष्ण प्रभाव वर्णन तथा अन्य उपाख्यानों के अनन्तर कंस की कथा और श्रीकृष्ण का मथुरा गमन दिया हुआ है। अध्याय 91 में कृष्ण को उद्धव को ब्रज में जाने की आज्ञा देते हैं और उद्धव वहां जाकर राधा और गोपियों से वार्तालाप करते हैं। 98वें अध्याय में उद्धव मथुरा वापस आते हैं। आगे राधा—कृष्ण सम्बन्धी अनेक वृत्तान्त हैं, साथ—साथ में और भी बहुत से आख्यान है। ब्रह्मवैवर्त में बहुत सी स्तुतियां दी गई हैं और अनेक स्थलों पर उच्चकोटि के श्रृंगारिक वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के कवियों ने बहुत कुछ सामग्री ब्रह्म—वैवर्त पुराण से ली है। ब्रह्म—वैवर्त में राधा का जो वर्णन है, उसका उल्लेख हम आगे करेंगे। इस पुराण में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हरिवंश पुराण के वर्णनों की अपेक्षा अधिक श्रृंगारिक और विस्तृत है।

पद्म पुराण

इस पुराण के पाताल खण्ड में कृष्ण चरित का विवेचन है। अध्याय 69 से 72 श्रीकृष्ण के माहात्म्य का वर्णन है और 73 से 83 तक वृन्दावन आदि का माहात्म्य और श्रीकृष्ण की लीला का विवेचन है। गोपियों के अध्यात्म-पक्ष और उनकी उत्पत्ति के विषय में भी विस्तार से वर्णन किया गया है, जिसका विवेचन हम आगे करेंगे। इस पुराण में वृन्दावन, द्वारका, गोकुल, मथुरा आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है और द्वादश वनों का भी उल्लेख है।¹ श्लोक 88 से 102 तक श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन है। सूर-साहित्य पर इस पुराण का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। पुष्टि-सम्प्रदाय में पद्म-सम्प्रदाय में पद्म-पुराण की बहुत सी बातें ज्यों की त्यों अपनाई गयी हैं।

वायु-पुराण

वायु पुराण के द्वितीय खण्ड अध्याय 34 में विस्तारपूर्वक स्यमन्तक मणि की कथा लिखी है और फिर श्रीकृष्ण के जन्म का वर्णन है। इसे अनन्तर कृष्ण को 16 सहस्र पत्नियों और उनके पुत्रों आदि का वर्णन है। इस पुराण के विषय में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें कृष्ण की गोप-लीलाओं और राधा की केलि का वर्णन नहीं है। अध्याय 42 में कुछ श्लोकों में गोलोकवासी भगवान् कृष्ण का उल्लेख करते हुए राधा और गोप-लीलाओं का उल्लेख मात्र है।

वामन-पुराण

इनमें केवल केशी, मुर और काल-नेमि के वध की कथा है।

कर्म-पुराण

इसमें भी केवल यदुवंश का वर्णन, श्रीकृष्ण द्वारा महादेव की आराधना और श्रीकृष्ण के पुत्रों की कथा है।

1. पद्म-पुराण, पाताल खण्ड अध्याय 69

गरुड़-पुराण

गरुड़-पुराण में कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख है, जो अध्याय 144 में हुआ है। इसमें पूतना वध, यमलार्जुनोद्धार, गोवर्द्धन-धारण, केशी-चाणूर इत्यादि का वध, कालियदमन और शकटासुर-वध का उल्लेख है। कृष्ण का सन्दीपनि गुरु से शिक्षा प्राप्त करने का भी उल्लेख

है। कृष्ण की रूक्मिणी, सत्यभामा आदि 8 पत्नियों का तथा गोपियों का उल्लेख तो है, परन्तु राधा का नाम नहीं है। यह गरुड़—पुराण के आचार काण्ड में है। ब्रह्म—काण्ड में हव्यवाह की कन्या नीला, भद्रा, मित्रविन्दा, कालिन्दी, जाम्बवन्ती, सौम—पुत्री आदि की तपस्या का वर्णन है।

विष्णु—पुराण

इस पुराण के चौथे अंश के 15वें अध्याय में शिशुपाल की मुक्ति का कारण बतलाते हुए श्रीकृष्ण जन्म का उल्लेख हुआ है। पांचवें अंश में कृष्ण का चरित्र विशेष रूप से दिया हुआ है तथा कृष्ण की लीलाओं के साथ रास का भी वर्णन है। वास्तव में इसी अंश में कृष्ण के चरित्र का विस्तृत अंकन है।

कृष्ण विषयक पुराणों के विषय और भाषा पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये पुराण विभिन्न कालों की रचनाएं हैं और बराबर इनके संस्करण होते रहे हैं। आज भी हमें इनके कई—कई संस्करण उपलब्ध होते हैं। हो सकता है कि साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपनी—अपनी परम्पराओं के अनुकूल इन पुराणों में घटी—बढ़ी कर ली हो। मध्यकालीन भक्ति साहित्य पर सभी पुराणों का प्रभाव पड़ा है और कृष्ण के रूप ने अनेक प्रकार की विचार धाराओं को पार कर वर्तमान स्वरूप को धारण किया है। हम डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं :

“कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य, अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। परन्तु फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। अवतारत्व का आरोप हो जाने पर बहुत सी अतिमानवीय घटनाओं से अवतार का जीवन घुल मिल जाता है।”

कृष्ण के विकास का जो विवेचन हमने ऊपर किया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है :

- 1— महाभारत में जिस कृष्ण का वर्णन हुआ है, वह वासुदेव का ही रूपान्तर है और वह पूर्णतया ऐतिहासिक व्यक्ति है। महाभारत काल में ही श्रीकृष्ण में ईश्वरत्व का आरोप हो चुका था और इनसे वैदिक कालीन श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी स्थापित किया जा चुका था। महाभारतीय कृष्ण का सम्बन्ध मथुरा और द्वारका दोनों से था एवं शिशुपाल की बातों से

यह भी आभास मिलता है कि ब्रज से भी कृष्ण का कुछ सम्बन्ध रहा होगा। कृष्ण—कृष्ण गोत्रोत्पन्न थे।

- 2— कृष्ण कथा में बाल लीलाओं का समावेश अवश्य ही आभीर जाति के कारण हुआ। ईसाइयत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि वह ईसा से बहुत पहले हो चुका था।
- 3— पुराणों में साम्प्रदायिकता की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है और उनकी भाषा और विषय से परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के चिन्ह भी उनमें खोजे जा सकते हैं। अतः यह भी निश्चित है कि पुराणों की रचना किसी एक काल की नहीं है, विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने उनमें अदल—बदल अवश्य की है।

भागवत के श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण के चरित के सम्बन्ध में अब तक हमने श्रीमद्भागवत का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि श्रीमद्भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है, तथापि कृष्ण—भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ श्रीमद्भागवत ही कहा जा सकता है। महाभारत से लेकर पौराणिक युग तक जितना भी कृष्ण का विवेचन हुआ है, वह सब समन्वित रूप से श्रीमद्भागवत में मि जाता है। भागवतकार ने अवतारों का वर्णन करते हुए, “एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” कहा है। महाभारत में कृष्ण के जिस नारायण रूप का उल्लेख हुआ है, उसको भागवतकार ने इस प्रकार लिखा है कि नारायण के कृष्ण और शुक्ल स्वरूप असुर—मर्दित पृथ्वीका भार उतारने के लिए कृष्ण और बलराम के रूप में आविर्भूत हुए।¹

श्रीमद्भागवत में नारायण को पुरुषावतार या आदि अवतार कहा है। “भगवान् ने आदि में लोक—सृष्टि की इच्छा से महत्तत्वादि सम्भूत षोडशकलात्मक पुरुषावतार धारण किया।”² “भगवान् ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पांच भूतों की अपने आपसे आप में सृष्टि की है। इन तत्वों के द्वारा जब वे विराट् शरीर ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसमें लीला से अपने अंश अर्न्तयामी रूप से प्रवेश करते हैं तब उन आदि देवनारायण को ‘पुरुष’ नाम से कहते हैं यही उनका प्रथम अवतार है।”³ भागवतके अर्न्तगत ब्रह्म—स्तुति में कहा गया है “हे अधीश, क्या

आप नारायण नहीं हैं ? आप अवश्य ही नारायण हैं क्योंकि आप ही सब जीव—समूहों के आत्मा और अखिल साक्षी हैं।”⁴ इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी ‘नारायण’ और ‘वासुदेव कृष्ण’ की संगति लगाई गई है, यह हम पहले कह चुके हैं। वैकुण्ठवासी चतुर्भुज नारायण (महाविष्णु, श्वेत द्वीप पति विष्णु) नारायण ऋषि तथा वासुदेवनन्दन श्रीकृष्ण तथा वृन्दावनबिहारी नन्दन एक ही भगवान् के विभिन्न रूप बताये गये हैं। श्री जीवगोस्वामी ने ‘लघुभागवतामृत’ के पूर्व पटल में इसका सामंजस्य स्थापित किया है और कहा है कि “पुराणों में कोई श्रीकृष्ण को नारायण ऋषि, कोई वामन, कोई क्षीरोपशायी, कोई सहस्र शीर्षा और कोई वैकुण्ठनाथ नारायण कहते हैं।” ब्रह्माण्ड पुराण में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है:—“जो वैकुण्ठ में चतुर्भुज नारायण, जो श्वेत—द्वीप—पति नर—नारायण ऋषि हैं, वे ही वृन्दावनबिहारी श्रीकृष्ण हैं।”

1. श्रीमद्भागवत 2 |7 |26
2. श्रीमद्भागवत 1 |3 |1
3. श्रीमद्भागवत 11 |4 |3
4. श्रीमद्भागवत 10 |10 |14

ऊपर के विवेचन से ज्ञात होता है कि श्रीमद्भागवताकार ने कृष्ण के व्यापक रूप को लिया है। सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत, गीता और श्रीमद्भागवत में कृष्ण के रूप का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है, इसके आख्यानों में ही भगवत्तत्त्व—निरूपण हुआ है। यदि उन आख्यानों को पृथक् कर दिया जाय तो श्रीकृष्ण का मानवीय रूप ही हमारे सामने आता है; यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों ने महाभारत में बहुत से अंश प्रक्षिप्त माने हैं, किन्तु उन आख्यानों में भागवत—धर्म और उसके तत्त्व का निरूपण बड़ा महत्वपूर्ण है। उसी तत्त्व का वैज्ञानिक समन्वय श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है। भागवत में भक्ति की दृढ़ता के लिये उस तत्त्व की व्याख्या की गयी है। इसके अन्तर्गत पृथु, प्रियव्रत, प्रह्लाद आदि भक्तों की कथाएं तथा निष्काम कर्म के लिए वर्णनों से यह बात भली—भांति प्रकट हो जाती है कि महाभारत का ‘नारायणीय —धर्म’ और श्रीमद्भागवत का ‘भागवत—धर्म’ आदि में एक ही है। पर दोनों ग्रंथों में प्रधानता भिन्न—भिन्न सिद्धान्तों की है।

उसमें श्रीकृष्ण का रूप लोक—रक्षक भी है और लोक—रंजक भी, फिर श्रीमद्भगवद्गीता में महाभारत के सिद्धान्तों की ही व्याख्या की है। गीता महाभारत का ही एक भाग है, दोनों ग्रन्थों को आद्योपान्त पढ़ने से यह विदित हो जाता है। निष्काम कर्म—युक्त प्रवृत्ति—तत्त्व का ही दोनों में विवेचन हुआ है। सम्भवतः भागवत की रचना इसीलिए हुई और यह सिद्ध किया गया कि भक्त के बिना निष्काम कर्म सम्भव नहीं है। भागवत का मुख्य उद्देश्य भक्ति का प्रतिपादन नहीं है।

भगवद्गीता में भगवान् को प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्व—व्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्त्व माना गया है और परम पुरुष कहा गया है, जिसके स्वरूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त। अव्यक्त के भी 'सगुण', सगुण—निर्गुण और निर्गुण तीन भेद किये हैं। कृष्ण उस परम पुरुष के मूर्तिमान अवतार हैं; यही कारण है कि गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने विषय में पुरुष का निर्देश अनेक स्थानों पर किया है।¹

1. देखिये गीता, 9 |8, 15 |7, 10 |20, 10 |41, 9 / 34

गीता में भगवान् ने अपना विश्वरूप अर्जुन को दिखाया है और यही उपदेश दिया है कि अव्यक्त से व्यक्त रूप की उपासना करना अधिक सहज है। इसी प्रकार विश्व रूप का वर्णन महाभारत में नारद—प्रसंग में भी आया है।¹ इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सिद्धान्त रूप से महाभारत, गीता और भागवत में परब्रह्म को एक ही रूप दिया गया है, परन्तु इतना अन्तर है कि महाभारत में कृष्ण का परब्रह्म से वैसा व्यापक तादात्म्य स्थापित नहीं किया गया, जैसा भागवत और गीता में। महाभारत में पाण्डव अवश्य ही उन्हें विष्णु का अवतार मानते हैं, परन्तु यह बात सामान्य रूप से स्वीकृत न हो पाई थी। भागवत में भी कृष्ण का वह स्वरूप नहीं है, जो गीता में है। गीता में ज्ञान, धर्म और उपासना का सामंजस्य स्थापित किया गया है और साथ ही साथ पिण्ड ब्रह्माण्ड के ज्ञान सहित आत्म—विद्या के गूढ़ और पवित्र तत्त्वों को भी समझाया गया है, किन्तु श्रीमद्भागवत में इन सबका निरूपण विशेष रूप से करके भक्ति को सर्वोपरि ठहराया गया है। भागवत में अनेक अवतारों का वर्णन है, परन्तु अन्य अवतारों को ब्रह्म का अंशरूप मानकर कृष्ण को ही पूर्व ब्रह्म माना है।² पुराणों में अवतारों की विस्तृत व्याख्या की गई है और तीन प्रकार के अवतार माने गये हैं— 1—पुरुषावतार 2—गुणावतार और 3—लीलावतार। भगवान् के चार व्यूह

माने गये हैं, श्री वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। गुणावतारों में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र माने हैं। इसके अतिरिक्त 14 मन्वन्तरावतार होते हैं, जो स्वायम्भुव आदि 14 मन्वन्तरों में प्रकट होते हैं। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को अवतार ही माना है। देवकी श्रीकृष्ण की स्तुति करती हुई कहती है :

“हे आद्य, जिसके अंश (पुरुषावतार) का अंश प्रकृति है, उसके अंश (सत्त्वादि गुण) के भाग (परमाणु आदि) द्वारा इस विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय हुआ करती है। मैं आपकी शरण हूँ। गीता में कई स्थलों पर इस प्रकार के वाक्यों को दुहराया गया है।³ इस प्रकार गीता और भागवत दोनों में भगवान् श्रीकृष्ण को ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन 6 गुणों से विशिष्ट

1. महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय 339 श्लोक 21-28

2. श्रीमद्भागवत 10।85।21

3. गीता, 10।42

माना है। श्रीमद्भागवत में कुन्ती द्वारा की गई कृष्ण की स्तुति में कृष्ण का स्वरूप एवं भगवान् के अवतार का प्रयोजन बताया गया है। अन्त में कुन्ती कहती है, “हे भगवन्, कोई लोग कहते हैं कि आपने पुण्य श्लोक राजा युधिष्ठिर का यश बढ़ाने के लिये ही यदुवंश में जन्म लिया.....। जो लोग आपकी प्रेम तथा भक्ति-भावना से भरी हुई अद्भुत लीलाओं को वक्ताओं से सुनते हैं, श्रोताओं को सुनाते हैं तथा स्वयं गाकर और स्मरण करके आनंदित होते हैं, वे शीघ्र ही इस जन्म-मरण-रूपी सांसारिक प्रबल प्रवाह को शान्त करने वाले आपके श्रीचरणकमलों का दर्शन प्राप्त करते हैं।”¹

भागवत में कृष्ण के सभी रूप आ गये हैं, जैसे (1) अद्भुतकर्मा असुरसंहारक कृष्ण (2) बालकृष्ण (3) गोपीविहारी श्रीकृष्ण (4) राजनीतिवेत्ता, कूटनीति-विशारद श्रीकृष्ण (5) योगेश्वर श्रीकृष्ण (6) परब्रह्मास्वरूप श्रीकृष्ण। मुख्य रूप से हम कृष्ण के तीन रूप देखते हैं, (1) महाभारत के कृष्ण (2) गीता के कृष्ण तथा (3) भागवत के कृष्ण। भगवान् के वीरत्व-विधायक स्वरूप के दर्शन महाभारत में, परब्रह्म स्वरूप के गीता में और रसिकेश्वर के भागवत में होते हैं। वैसे तो भागवत में कृष्ण के प्रायः सभी रूपों का विवेचन हुआ है, परन्तु प्राधान्य रसिकेश्वर-स्वरूप का ही है। भगवान् के असुरसंहारक राजनीतिवेत्ता तथा कूटनीतिज्ञ स्वरूप का वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में हुआ है। दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में निबद्ध कृष्ण के बाल्यकाल की

असुरों के वध से सम्बद्ध कथाएं भगवान् के बालरूप की कहानियां होने के कारण उनके अलौकिक चरित्र में आती हैं। कंस-वध तक की लीलाएं बाल लीलाएं हैं, इनमें किशोरावस्था की भी क्रियायें आती हैं। उनके राजा पद की प्रतिष्ठा जरासन्ध के युद्ध के अनन्तर द्वारका-दुर्ग-निर्माण-काल से होती है और यहीं से गीता की 'परित्राणाय साधूनाम्' वाली युक्ति की चरितार्थता प्रारम्भ होती है। इस स्कन्ध में कृष्ण के पराक्रम की निदर्शिका वीर-रस-मयी अनेक रोमांचकारिणी घटनाएं हैं किन्तु बीच-बीच में अलौकिकता का भी समावेश है। बाल-लीलाओं को छोड़कर कृष्ण के शेष जीवन-चरित की दृष्टि से भागवत को चार भागों में विभाजित किया जाता है—

1. श्रीमद्भागवत 1 | 8 | 32 | 35

(1) घटनात्मक, (2) उपदेशात्मक (3) स्तुत्यात्मक तथा (4) गीतात्मक।

1. घटनात्मक

श्रीमद्भागवत के वे स्थल घटना-प्रधान स्थल हैं, जो ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करते हैं, परन्तु जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के चरित्र को चित्रित करे हुए 'रामचरित मानस' में ग्रन्थ के प्रधान सूत्र भक्ति को नहीं छोड़ते और उसी भावना से अभिभूत होकर अनजाने में ही राम के चरित्र में अलौकिकता का समावेश कर जाते हैं, उसी प्रकार व्यास जी का लक्ष्य भी भागवत तत्त्व-निरूपण द्वारा भक्ति रस का परिपाक करना है। अतएव भागवतकार ने घटनात्मक स्थलों पर भी भगवान् के दिव्य मंगल स्वरूप की कई बार स्तुति कराई है—जैसे भीमासुर-वध के समय, वाणासुर-संग्राम के समय तथा वेद-स्तुति आदि। इन घटनाओं में अलौकिक घटनाओं का भी सम्मिश्रण है, जैसे स्वर्ग से कल्प-वृक्ष लाना, देवकों के मृतक पुत्रों को लाना आदि। ऐसे स्थलों पर कवि की प्रतिभा सजग हो उठती है और वह भगवान् के स्वरूप में इतना तन्मय हो जाता है कि अन्य सब भाव अभिभूत हो जाते हैं तथा हृदयानुभूति रागात्मिका वृत्ति के साथ उन स्तुतियों और स्तोत्रों के रूप में साक्षात् रूप धारण कर लेती है। श्रीमद्भागवत में जहां-जहां भी इन घटनाओं का उल्लेख है, वहीं-वहीं कवि की

इस अनुभूति का परिचय मिलता है। इस घटनात्मक भाग में भागवताकार का उद्देश्य भी भक्ति की दृढ़ता ही है।

2. उपदेशात्मक

भागवत के उपदेशात्मक भाग में हमें श्रीकृष्ण योगेश्वर, उपदेष्टा तथा विज्ञानी के रूप में मिलते हैं। श्रीमद्भागवत में दो प्रकार के उपदेश हैं—साधारण तथा विशेष। साधारण उपदेश वे उपदेश हैं, जो साधु, महात्माओं, गुरुजनों या मित्रों ने दिये हैं। इन उपदेशों का अभिप्राय कर्तव्यकर्म का अनुष्ठान करते हुए भगवद्भक्ति करना है। विशेष उपदेशों के रूप में वे स्थल आते हैं, जहां उपदेश किसी व्यक्ति विशेष को विशेष रूप से दिये गये हैं, जैसे—उद्धव के प्रति भगवान् के उपदेश, ध्रुव को नारद का उपदेश, चतुःश्लोकी भागवत तथा कपिलगीता आदि। ये उपदेश बड़े महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें दो बातों की व्याख्या हुई है—(1) परमतत्त्व की ओर (2) ज्ञानभक्ति—कर्म की।

3. स्तुत्यात्मक

भागवत की स्तुत्यात्मक भाषा भी बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा श्रीकृष्ण के वास्तविक रूप की व्याख्या की गई है। ये स्तुतियां दो प्रकार की हैं— सकाम और निष्काम। सकाम स्तुतियां वे हैं, जो किसी कामना से प्रेरित होकर की गई हैं, कारागार से मुक्त होने के लिए किसी आपत्ति या दैहिक, दैनिक, भौतिक तापों की निवृत्ति के लिए की गई है। निष्काम स्तुतियां दो प्रकार की होती हैं— एक तो वे, जिनमें तत्त्व ज्ञान की प्रधानता है—और दूसरी वे, जिनमें साधन की प्रधानता है। वेद—स्तुति—तत्त्व—ज्ञान—प्रधान स्तुति कही जाएगी, क्योंकि इसमें सब तत्वों का पर्यवसान एक ही तत्व में दिखाया गया है। प्रहलाद, अम्बरीष, ब्रह्म, ध्रुव आदि की स्तुतियां साधन—प्रधान कही जायेंगी क्योंकि इनमें भक्त मुक्ति का इच्छुक न होकर केवल भगवान्

के रूप तथा लीला के स्मरण—कीर्तन में आनन्द लेता है। गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित, 'भागवत—स्तुति' में इस प्रकार की स्तुतियों का संग्रह है।

4. गीतात्मक

श्रीमद्भागवत का चौथा भाग गीतात्मक है। इन गीतों में ग्रन्थकार का हृदय साक्षात् रूप से द्रवित होता हुआ प्रतीत होता है। उसकी अन्तरात्मा इन गीतों में पूर्णरूपेण प्रस्फुटित है। ये हृदय के वे स्वतः प्रवाही स्रोत हैं, जिनका अवरोध कवि के वश की बात नहीं थी। उसकी आत्मा की व्यथा एवं अन्तर्वेदना के ये गीत साकार प्रतिबिम्ब हैं। प्रेम और विरह की भावना से ओत-प्रोत इन गीतों की संख्या अधिक ही है। पाँच गीत गोपियों के तथा एक द्वारिका की कृष्ण-पत्नियों का है। ये छः गीत दशम स्कन्ध में आये हैं। एकादश स्कन्ध में भी दो गीत आये हैं—एक पिंगला का और दूसरा एक भिक्षुक ब्राह्मण का। पिंगला का गीत निर्वेद-गीत है, जो संसार के कटु अनुभवों से उत्पन्न अन्तर्वेदना का अभिव्यंजन करता है। सात्विक और सदाचारी होने पर भी दुनिया के हाथों अपमानित होने वाले ब्राह्मण भिक्षुक के गीत में भी वेदना की झलक है। कृष्ण की पत्नियों का गीत दशम स्कन्ध के 90वें अध्याय में है। उनका मन भगवान् की लीला में इतना तन्मय हो जाता है कि वे अपने को भूल जाती हैं। सांसारिक अनुभवों का ज्ञान लुप्त हो जाता है और आत्म-विभोरता की अनिर्वचनीय दशा में उनके हृदय-हृद से अनायास ही भावधारा वह निकलती है। समस्त प्रकृति उन्हें कृष्णमयी लगती है और वे प्रकृति के सब पदार्थों को सम्बोधन करके उनका कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। वे यहां तक भूल जाती हैं कि कृष्ण उनके समीप हैं।

गोपी-गीतों का वर्णन तो वर्णनातीत है। उनके पाँचों गीतों में अनुपम प्रेम की झलक है। प्रतीत होता है हृदय वाणी के साथ लिपटा हुआ चला आया है। गोपियों के गीत में जो रस है,

वह अनुवाद में कभी नहीं आ सकता। उसकी अनुभूति सहृदय व्यक्ति मूल पाठ में ही यथार्थ रूप में कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत में “कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” तथा “जन्म कर्म च मे दिव्यम्” आदि की चरितार्थता पूर्णतया हुई। इस विषय को लेकर पण्डितों ने बड़े विश्लेषण और विवेचन किये हैं तथा गीता एवं भागवत के कृष्ण में अभेद स्थापित किया है। विभिन्न पुराणों में श्रीकृष्ण का पूर्ण अवतारत्व सिद्ध होता है और भगवान् शब्द के लक्षणों की संगति पूर्णरूपेण घटित हुई है। कृष्ण शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।

विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः॥

श्रीमद्भागवत पुराण में, महाभारत, गीता तथा कृष्ण—सम्बन्धी अन्य सभी ग्रन्थों में दिये हुए भावों का समन्वय कर लिया है। श्रीमद्भागवत के कृष्ण पाण्डवों के सखा हैं, जो कुरुक्षेत्र महायुद्ध में नियामक थे और जिनका वीर रूप महाभारत में यत्र—तत्र बिखरा हुआ है। वे गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण हैं, जो साधुओं के परित्राण, पापियों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए प्रत्येक युग में प्रकट होते हैं और जो गीता में भक्ति, ज्ञान और कर्म का सामन्जस्य स्थापित कर निष्काम कर्मयोगी के रूप में उपस्थित हुए हैं। वे मथुरा और द्वारका के महावीर, महायोद्धा, राजराजेश्वर कृष्ण भी हैं और गोकुल, ब्रज और वृन्दावन में विहार करने वाले नन्द—नन्दन रसिक शिरोमणि गोपाल कृष्ण भी हैं।

उपर्युक्त विवेचन कृष्ण के स्वरूप को लेकर है। रसखान का काव्य देवता प्रेम है। तथा प्रेम के अधिष्ठान कृष्ण हैं। सांस्कृतिक आयाम में कृष्ण की विवेचना अपने आप में सांस्कृतिक विवेचना है। कृष्ण के व्यक्तित्व से दर्शन और भक्ति के स्रोत फूटते हैं। रसखान के काव्य में कृष्ण की भक्ति भारतीय संस्कृति की उपस्थान बन गई है। उन्होंने कृष्ण के बाल रूप एवं

किशोर रूप का जो अंकन किया है वह अंकन सांस्कृतिक आकाश में इन्द्रधनुष की भांति आकर्षक है जहाँ भी अभिव्यंजना हुई है वहाँ सांस्कृतिक तत्व स्वतः उभरे हैं।

(ब) रसखान के काव्य में संस्कृति

रसखान के काव्य के तीन मौलिक तत्व हैं। 1. प्रेम 2. सौन्दर्याभिव्यक्ति 3. भक्ति भावना।

प्रेम :- रसखान के काव्य का मूल आधार है। उनका प्रेम तत्व मासल सौन्दर्य से लेकर अध्यात्म के शिखर तक फैला हुआ है। इस प्रेम निरूपण में रसखान अनेक उद्भावनाएं की हैं, यदि जायसी यह कह कर तृप्त हो जाते हैं कि – मानस प्रेम भयउ बैकुंठी। नाहि त काह छार भरि मूठी। प्रेम कारण ही मानव शरीर स्वर्गीय हो जाता है। रसखान कहते हैं—प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम' स्वरूप।

एक हवै द्वै यों लसै, ज्यों सूरज अरुधूप।।

यह अद्वैत नायक और नायिका में भी होता है। आत्मा तथा परमात्मा के मिलन में भी अद्वैत है इसे ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समरसता की संज्ञा दी गई है। स्वच्छन्द तन्त्र में लिखा है कि –“जैसे एक नदी में मिलकर समरसता को प्राप्त होती है और समुद्र तथा उस नदी में किसी प्रकार की भी पृथक्ता या भिन्नता नहीं रहती, उसी प्रकार जब आत्मा परमात्मा भाव को होकर पूर्णतः एक शिव रूप हो जाती है, उसे सामरस्य कहते हैं। इसी भाव को क्षेम राज ने इस प्रकार व्यक्त किया है— समो रसो यस्मिन् स सम रसो लोली भावः। अर्थात् जिसमें समान रस हो ऐसी ललक की भावना को सामरस्य कहते हैं। नेत्र तंत्र में समरसता को इस प्रकार व्यक्त किया गया है। जिस समय योग यह जानने लगता है कि न तो मैं हूँ, न कोई अन्य है और न ध्येय ही यहाँ विद्यमान है। अपितु उसका मन आनन्द पद में लीन होकर समरसता को प्राप्त हो जाता है उसी अवस्था को सामरस्य कहते हैं। इस विषय में अभिनवगुप्त का मत विशेष उल्लेखनीय है—आनन्द शक्ति विभ्रान्ते योगी समर सो भवेत् आनन्द शक्ति शक्ति से विभ्रान्ति पाने पर ही योगी को समरसता की स्थिति प्राप्त होती है।²

1. सं. विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ० 89 (प्रेमवाटिका)
2. स्वच्छन्द तंत्र (भाग 2) पृ० 276—277

बोधसार में श्री नरहरि स्वामी का कथन रसखान के विचार के अति निकट है—¹ जाते समर सा नन्दे द्वैतमप्य मृतेपमम्, मित्रयोरिव दाम्पत्यो जीवात्मपरमात्मनोः।

जिस प्रकार परस्पर अत्यन्त प्रेम वाले दम्पतियों का द्वैत दोनों के समरस हो जाने पर आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार जीवात्मा एवं परमात्मा के समरस हो जाने पर आनन्द निर्वाध रूप से उत्पन्न होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रेम प्रेमी, प्रेमिका अथवा भक्त तथा भगवान में ही उत्पन्न होता है।

वस्तुतः समस्त मुसलमान कवि प्रेम के कायल रहे हैं, यह उनकी संस्कृति में सामान्यतः पाया जाता है। हिन्दू कवियों ने भी प्रेम की बात कही है किन्तु मुसलमान कवि मांसल सौन्दर्य से प्रेम की बात प्रारंभ करते हैं। राधा—कृष्ण का प्रेम शारीरिक सौन्दर्य से उद्भूत होता है। वस्तुतः रूप का वास्तविक मापक कामभावना का आकर्षण है। काम भावना का जितना अतिशय होगा उसकी दृष्टि में कोई विशेष नारी उतनी ही सुन्दर भी प्रतीत होगी। कामोत्तेजना की परिसमाप्ति के बाद उसी नारी का सौन्दर्य व्यक्ति की दृष्टि में कम हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों के इस विचार को अभिनवगुप्त पादाचार्य ने अधिक क्रमबद्ध और तर्क पुष्ट ढंग से पुष्ट किया है। उनका कहना विक्षोभ जन्य सुख का प्रतीक है। संगीत से प्राप्त सुख के सम्बन्ध में भी यही बात कही गई है। 'वीर्य विक्षोभ' के मापदंड से प्राप्त सुख के सम्बन्ध में भी यही बात कही गई है। 'वीर्य विक्षोभ' के मापदंड से एक ओर विषय सौन्दर्य की माप होती है और दूसरी ओर प्रेक्षक की सहृदयता की। सुन्दर से सुन्दर रूप को देखकर जिसका मन रसाद्र नहीं होता वह मनुष्य के रूप में जड़ है। 'वीर्य विक्षोभ' की न्यूनता या तो विषय सौन्दर्य की अपूर्णता का द्योतन करती है अथवा विषयी की क्षुद्र वीर्यता का। अधिक चमत्कार वेश (आनंदानुभूति या रसानुभूति) में निमग्न होने वाली वीर्य विक्षोभात्मा ही सहृदयता है।² नयनोयोरपि हि रूपं तद् वीर्य विक्षोभात्मक महाविसर्ग विश्लेषण युक्तया एवं सुखदायि भवति। श्रवणयोश्च मधुरं गीतादि सर्वतो हि चमत्कारे जडतैव। अधिक चमत्कार वेश एवं वीर्य क्षोभता सहृदयता उच्यते।

1. अभिनवगुप्त : तंत्रालोक, (भाग 1), पृ० 29।

2. बोधसार, पृ० 107 (द्वारिका प्रसाद सक्सेना द्वारा कामायनी में काव्य उद्धृत)पृ० 410

3. अभिनवगुप्त, परात्रिंशिका, पृ० 47—49

एक देश के नारी सौन्दर्य में उस देश के निवासियों को जो वीर्यक्षोभ शक्ति दिखाई पड़ेगी वह दूसरे देश के निवासियों को नहीं क्योंकि एक देश की सौन्दर्य कल्पना दूसरे देश की सौन्दर्य कल्पना से भिन्न होती है। सौन्दर्य कल्पना की यह भिन्नता मुख्यतः जलवायु और संस्कृति की भिन्नता पर निर्भर करती है। दो भिन्न जलवायु में पलने वाले लोगों के रूप रंग में ही अन्तर नहीं होता बल्कि उनकी रुचियों में भी भेद दिखाई देता है। सामाजिक परिस्थितियों के बदल जाने से परंपरागत सौन्दर्य कल्पना में थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है। यह परिवर्तन सौन्दर्य परक कम, सज्जापरक अधिक होता है। किसी जाति का प्रतिनिधि 'सौन्दर्य' उस जाति की सौन्दर्य कल्पना का पूर्णतम विकसित स्वरूप उपस्थित करता है। यही कारण है कि सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं में बहुत ही कम परिवर्तन होता है। किसी विशेष जलवायु में मनुष्य में रहने वाला मनुष्य रूप विशेष से दीर्घकालीन उच्चतम आदर्श मानता है।

प्राच्य स्त्रियों को प्रकृति ने विशाल नेत्रों का वरदान दिया है। आँखों की कालिमा उनका शोभा विधायक गुण है। इसके विपरीत यूरोप में नीली आँखें कवियों की कल्पना को उत्तेजना देती रहीं हैं। हमारे यहां काले केश सौन्दर्य वर्धक माने गये हैं तो पश्चिम में सुनहले भूरे केश। पीन और कठोर वक्ष प्रदेश की नारी सौन्दर्य की अमूल्य निधि है। किन्तु अफ्रीका की कुछ जातियों में शिथिल और प्रलंब वक्ष सौन्दर्य का चिह्न माना जाता है। यह तो रही प्रेम एवं सौन्दर्य की अन्विति की बात किन्तु यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी उभर कर सामने आता है कि आखिर प्रेम का आध्यात्मिक रूप लौकिक सोपानों को कैसे पार कर आगे बढ़ जाता है। श्रद्धा और प्रेम दोनों मनुष्य के हृदय में विद्यमान रहते हैं। श्रद्धा एक सामाजिक भाव है और प्रेम वैयक्तिक। श्रद्धेय में किसी विशेष गुण की स्थिति देखकर उसकी महत्ता के प्रति मन में एक विशेष प्रकार का आनंद मिश्रित पूज्य भाव उद्धित होता है। इस भाव में दो प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियों का अन्वय होता है। पहली प्रवृत्ति श्रद्धेय के महल की प्रशंसात्मक भावना से सम्बद्ध है और दूसरी उसके सम्मान पूर्ण डर से। पहली प्रवृत्ति श्रद्धेय की ओर उन्मुख होने को प्रेरित करती है और दूसरी एक संग्रमपूर्ण दूसरी बनाये रखने के लिए बाध्य करती है। एक प्रवृत्ति का आकर्षण मूलक दूसरी वर्जनामूलक। इसके परिणाम स्वरूप श्रद्धेय और श्रद्धालू के बीच एक आदरसूचक दूरी बनी रहती है। प्रेम में आश्रम और आलंबन के बीच दूरी का अन्तर मिट जाता है और अन्ततो

गत्वा दोनों का तादात्म्य हो जाता है। प्रेम राग की सान्द्रता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई होती है तथा श्रद्धा में राग का विस्तार अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ होता है।

रसखान भक्त हैं उनकी भक्ति में श्रद्धा और प्रेम का प्रवाह है अतः यहां श्रद्धा एवं प्रेम की व्याख्या अपेक्षित थी। अब यहाँ प्रेम पर प्रकाश डाला जा रहा है। आचार्य शुक्ल ने भक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—“श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।” जब पूज्य भाव की बुद्धि के साथ श्रद्धा भाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो उसकी सत्ता में कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। देवर्षि नारद ने पूजा आदि में अनुराग को भक्ति की संज्ञा दी है।¹ शुक्ल जी की भक्ति भावना मर्यादावादी दृष्टि से सम्पूर्ण है। प्रेम की सारी विशेषताएं माधुर्य भक्ति में ही मिलती हैं। श्रीमद् भागवत में प्रेम को श्रद्धा और भक्ति की मध्यवर्तिनी अवस्था माना गया है। उसके अनुसार पहले श्रद्धा, फिर रति और भक्ति अनुक्रमित होती है। लौकिक प्रेम में भी रति की चरमावस्था में प्रेमी और प्रेमिका पार्थक्य तिरोहित हो जाता है। यहाँ पर इस स्थिति में पहुँचने के लिए किसी अन्य अवस्था को पार नहीं करना पड़ता।

यहाँ यह जान लेना भी संगत होगा कि प्रेम और प्रेमाभक्ति में अन्तर होता है जीव गोस्वामी ने इस अन्तर को इस प्रकार व्यक्त किया है—²

1. प्रेमजन्य आनन्द और प्रेमाभक्तिजन्य आनन्द में कोई साम्य नहीं है।

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० 126

2. डॉ० बच्चन सिंह : रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, पृ० 126

2. प्रेम सुखमूलक और प्रेमाभक्तिप्रियतामूलक।

3. प्रेम के आश्रय आलम्बन इह लौकिक नायक नायिका होते हैं और प्रेमाभक्ति के भक्त और भगवान् श्रीकृष्ण वस्तुतः प्रेमाभक्ति प्रेम का परिष्कृत रूप है। जिस प्रकार कोयले के खदान में

कोयला परिष्कृत होकर हीरा बन जाता है उसी प्रकार परिष्कृत होकर प्रेमाभक्ति में बदल जाता है।

इस तथ्य को इस प्रकार समझा जा सकता है। श्रुतियों में परमतत्त्व को सत्, अनंत, परमानंद कहा गया है। परमतत्त्व की आनंदानुभूति और लौकिक आनंदानुभूति में कोई समता नहीं स्थापित की जा सकती। परमतत्त्व की आनंदानुभूति ज्योति स्वरूप और अखण्ड है जबकि मानवीय आनंदमाया से लिप्त और सीमित है। यद्यपि जीवन को भगवत् का अंश माना गया है फिर भी माया से संवृत होने के कारण उसका आत्मज्ञान निःशेष हो जाता है।

उस परमतत्त्व के साक्षात्कार के आत्यंतिक प्रीति अत्यावश्यक है। उसका साक्षात्कार दो रूपों में संभव है — अस्पष्ट विशेष स्वरूप में और स्पष्ट विशेष रूप में। यह अपेक्षाकृत अधिक श्रेयस्कर है। परम तत्त्व के सभी धर्मों में 'प्रियता लक्षण धर्म विशेष' का सर्वाधिक महत्व है। इस धर्म विशेष का तात्पर्य है कि वह परमतत्त्व स्वयं प्रेम करता है और अन्य लोग भी उसे प्रेम करते हैं। लोक ने भी प्रिय को प्राप्त करने के लिए बड़ा से बड़ा बलिदान करना पड़ता है। मनुष्य जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में प्रेमास्पद वस्तुओं की खोज किया करता है किन्तु इस भौतिक जगत में उसे वास्तविक प्रियवस्तु की प्राप्ति नहीं हो पाती क्योंकि उनकी लालसा का तार नहीं टूट पाता। भगवत्प्रेम प्राप्त करने के अनन्तर ही मनुष्य के मन में और कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा शेष नहीं रहती।

भगवत् साक्षात्कार की दो विधियां हैं—अन्तः साक्षात्कार और वहिः साक्षात्कार। वहिः साक्षात्कार को सभी वैष्णव भक्तों ने एक स्वर से सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है।

1. जीव गोस्वामी : श्री भागवत् सन्दर्भ, पृ० 675

लेकिन अवतार के समय अशुद्धचित्त वृत्ति वाले को भागवत् का केवल आभास मिलता है। प्रकृत लीला के समय के कंस और शिशुपाल को भगवान का आभास ही मिला था। गीता में श्रीकृष्ण में कहा है कि योगमाया से आवृत्त होने के कारण हम सबको नहीं दिखाई पड़ते—नाहं प्रकाशः सर्वत्र योग माया समावृतः। पर अशुद्धता का निराकरण भगवत्कृष्ण पर ही अवलम्बित है। भगवत् का सामीप्य लाभ भक्त का अन्यतम लक्ष्य है। इसीलिए भक्तों ने सामीप्य मुक्ति को मुक्तियों में

सर्वश्रेष्ठ माना है। सालोक्य (समान लोक की प्राप्ति) सृष्टि (समान ऐश्वर्य की उपलब्धि) सारूप्य (रूप की तदाकारता) और सापुज्य (भागवत में विलीनी भवन) का महत्व भक्त की दृष्टि में नहीं के तुल्य है। ज्ञान के क्षेत्र में सापुज्य मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट स्थान है और यह ज्ञानियों का चरम साध्य है। लेकिन यहाँ पर भक्त का व्यक्तित्व भगवान में इस तरह लीन हो जाता है कि जैसे पानी में बूंद-बूंद। भक्तों ने इस मुक्ति को निकृष्ट माना है। वे मानते हैं कि जिस मुक्ति में प्रेम के लिए स्थान नहीं है वह तिरस्करणीय है। भक्ति की उपासना करने वाले मोक्ष नहीं लेते। भगवान के प्रति एकांतिक प्रीति महत्वपूर्ण है। इसके दो भेद हैं — जाति प्रीति और अजाति प्रीति।

जाति प्रीति के तीन भेद किये गये हैं — शांत भक्त आदि इनमें भगवत के अनुभव मात्र की निष्ठा रहती है, (2) परिकर विशेषाभिमानिन, इनमें भगवत के सेवन, दर्शन आदि की रागात्मिका वृत्ति होती है और (3) स्वयं परिकर आकांक्षा रहती है। अजाति प्रीति से केवल भगवत प्रीति की बलवनी इच्छा रहती है। अतः इस प्रीति का सबसे अधिक महत्व है।¹ इस क्रम में लौकिक प्रेम उल्लेखनीय तत्त्व है। जीव गोस्वामी ने प्रीति में सुख और प्रियता दो तत्त्व माने हैं। मुद प्रमद, हर्ष, आनंद आदि सुख के पर्याय हैं। उल्लासात्मक ज्ञान विशेष का नाम सुख है। प्रियता को उन्होंने विषयानुकूलगत स्पृश कहा है। सुख में आत्मरति प्रधान है और प्रियता में केवल प्रिय का आनुकूल्य अनुस्यक्त है। सुख और प्रियता का जो भेद वैष्णव दार्शनिकों ने किया है वह मनोवैज्ञानिक नहीं है। उपनिषद् का यह वाक्य 'आमनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवति' ही सही समाधान प्रस्तुत करता है।

1. डॉ० बच्चन सिंह : रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, पृ० 128

फ्रायड जीवन के मूल में काम भावना (लिबिडो) की सत्ता मानता है। उसके मतानुसार 'लिबिडो' के दो भेद हैं—अहं लिबिडो (इगो लिबिडो) और 'इदम् लिबिडो' (आबजेक्टिव लिबिडो)। रति 'अहं लिबिडो' के अन्तर्गत आती है और श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति आदि इदंलिबिडो, के अन्तर्गत। लेकिन दोनों ही लिबिडो ही। कृष्ण को आलंबन मान लेने से ही प्रीति में प्रियता तत्त्व की कल्पना करनी पड़ी। मनोवैज्ञानिक अर्थ में भक्ति और प्रेम (रति) में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, भक्ति प्रेम का उदात्तीकरण ही है। डॉ० बच्चन सिंह ऊपर फ्रायड के सूत्र का प्रयोग कर जो व्याख्या की है वह तार्किक दृष्टि से संगत प्रतीत होती है किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इसे पूरी तरह उचित

नहीं ठहराया जा सकता। हमारी भावनाओं का जब परिष्करण हो जाता है तब उसका विशेष मूल्य हो जाता है तथा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ $2\text{H}_2 + \text{O}_2 = 2\text{H}_2\text{O}$ में केवल हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन का 'कम्पोजीशन' नहीं है प्रत्युत वह जल के रूप में एक पदार्थ है जिसके गुण दोनों गैसों से नितान्त भिन्न है। मनुष्य जब व्यष्टि भावना से ऊपर उठ जाता है तब उसका परिष्करण हो जाता है संस्कृति में हमारे विचारों, भावनाओं का परिष्कृत रूप प्रस्तुत होता है। जब कोई प्रेमी भक्त बन जाता है तब वह आध्यात्मिक व्यक्ति हो जाता है। भगवान का रूप समष्टिगत है व्यष्टिगत नहीं।

जहाँ तक रसखान की भक्ति भावना का प्रश्न है वह वास्तव में कृष्ण के माधुर्य रूप का रसायन है जिससे आत्मा का परिष्करण हो जाता है। रसखान का प्रेम, प्रभु के लिए कण-कण का सान्निध्य चाहता है। गाय, पत्थर, करील के कुंज सभी रसखान के प्रभुमय संस्थान हैं। रसखान की प्रेमाभक्ति सहज और निर्मल है। वस्तुतः उनका प्रेम वासना-पंक से वेदांग, निर्वध, उदात्त और अनिर्वचनीय है। वह चित्त का संस्कार करनेवाला, प्रेमी मन के अहं का विसर्जन करने वाला, स्त्री-पुरुष की सहज प्रणयाभि व्यक्तियों का उदात्तीकृत रूप है, जिसे सात्विक प्रेम की संज्ञा दी जा सकती है। उनका प्रेम पार्थिव आलम्बन के प्रति पार्थिव आश्रय की वासना मूलक भाविभव्यंजना नहीं है। वह वासनामुक्त शुद्ध राग अथवा शुद्ध प्रीति है। वह सहज इन्द्रिय सुख का अतिक्रमण करने वाला है। अपार्थिक आलम्बन के प्रति पार्थिव आश्रय की प्रणयानुभूतियों की उदात्त अभिव्यक्ति ही रसखान के प्रेम का बीज है। वस्तुतः सगुण, साकार (ब्रह्म) आलम्बन के प्रति ही पार्थिव आश्रय का रति भाव संभव है निराकार के प्रति नहीं। यही कारण है कि सूफी सन्तों और सगुण भक्त कवियों ने अपार्थिव, निर्गुण, निराकार ब्रह्म को सगुण, साकार मानकर ही उसके प्रति प्रेम निवेदन किया है और वास्तव में यह विशुद्ध प्रेम ही रहस्यमयी भक्ति है। यह परमात्मा के प्रति आत्मा का रतिभाव है। अतः पार्थिव जैसा प्रतीत होते हुए अपार्थिव है। इस सन्दर्भ में हम जायसी के काव्य से एक उदाहरण देना उचित समझते हैं—¹

बरूनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुई अनी।।

उन बानन्ह अस कोजो न मारा। बेधि रहा सागरौ संसारा।।

गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहि कै हनो।।

धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहि सब साखी।।

रोवं रोवं मानुष तन ठाढ़ें। सूत ही सूत बेध अस गाढ़े।।

यहां रहस्यवाद की झलक है जायसी ने रूपात्मक अभिव्यक्ति के माध्य से भक्ति भावना को प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार पद्मावती के ललाट को दीप्ति को दिखाकार रहस्यवादी भावना का परिचय दिया है—

मनहुँ लिलार दुइज कै जोती। दुइजहिं जोति कहां जग होती।।

सहस किरन जो सुरुज छिपाई। देखि लिलार सोइ छिप जाई।।

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) पृ० 69

यह परमात्मा के प्रति आत्मा का रतिभाव है। अतः पार्थिव जैसे प्रतीत हुए अपार्थिव है।

रसखान इसी अपार्थिव प्रेम के सफल चितेरे हैं। उनके राधाकृष्ण (आत्मा—परमात्मा) प्रेम के आलम्बन हैं। 'प्रेम वाटिका' के मालिन और माली हैं।

प्रेम अयन श्री राधिका—प्रेम—बरन नंद नंद।

प्रेम—वाटिका के दोऊ, माली—मालिन द्वन्द्व।।

प्रेम ही वह परम तत्त्व है जिसकी अनुभूति पर अन्य सारे अनुभव निःशेष हो जाते हैं और जिसके परिज्ञान पर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता अर्थात् प्रेम, अनुभूति और बोध की चरम परिणति है, चरम सीमा है—

“जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं, जान्यो जात विसेस।

सोइ प्रेम, जेहि जानिकै, रहि न जात कछु सेस।।

लोक में प्रेम ही प्रभु है। प्रेम अगम, अनुपम, अमित और जलद गंभीर है। वेद, पुराण आदि सम्पूर्ण साम्प्रदायिक साहित्य प्रेम के मर्म का ही व्याख्याकार है।¹

रसखान के सांस्कृतिक बोध को समझने के लिए उनके भक्ति भाव का अन्वेषण अनिवार्य है। प्रेम का रसायन उनकी भक्ति भावना में मिला हुआ है। भक्ति भाव के विभिन्न आयामों में संस्कृति के दर्शन होते हैं। रसखान बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे और आचार्य विट्ठलनाथ के शिष्य थे कि तथापि उनकी भक्ति भावना उन्हें हद छोड़ बेहद की सीमा तक ले जाती है। आगे हम उनकी भक्ति भावना में संस्कृति अन्वेषण करेंगे।

रसखान के काव्य में सांस्कृतिक निरूपण

रसखान के काव्य में सांस्कृतिक निरूपण के लिए हम रसखान के काव्य के उन पद्यों का विवेचन करते हैं जिनसे कृष्ण के प्रेम, सौन्दर्याभिव्यक्ति, तथा भक्ति भावना का चित्रण है ये तीनों प्रायः मिले हुए हैं कभी-कभी किसी का वर्चस्व है दिखाई देता है किन्तु भारतीय संस्कृति का निरूपण प्रेम सौन्दर्याभिव्यक्ति, तथा भक्ति भावना में ही प्राप्त होता है।

1. सं. विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृष्ठ 132।

सुजान रसखान

1 यहां रसखान की रचनाओं में संस्कृति का अनुसंधान प्रस्तुत किया है धर्म और सम्प्रदाय की सीमाओं का अतिक्रमण कर रसखान कृष्ण-दीवाने हो गये हैं। कृष्ण प्रेम के बिना लोक परलोक अकारण हैं। मनुष्य-जीवन व्यर्थ है मानव-योनि तथी सार्थक है जब कृष्ण की लीला-स्थली में जन्म मिले। मानवेत्तर योनियों में जन्म भी मिले तो कोई हर्ज नहीं, बशर्ते कि कृष्ण की गायों, गोवर्धन पर्वत और यमुना की कछारों और कदम्ब की डालियों में विचरने का अवसर मिल सके। इसी भाव की अनन्यता की अभिव्यक्ति इस सवैया में हुई है। रचानाकार का जीवन-धर्म मात्र लीला प्रभु श्रीकृष्ण का सान्निध्य है। अत्यंत सरल शब्दावली में गहरी भावाशक्ति की अभिव्यंजना कवि के शिल्प-वैशिष्ट्य की परिचायक है। यहाँ भक्ति का निरूपण है। श्री कृष्ण की भक्ति भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है।

(11) तृतीय पंक्ति में – श्रीकृष्ण प्रेरित ब्रजवासियों द्वारा इन्द्र की पूजा के स्थान पर गायों की पूजा किये जाने के परिणामस्वरूप पुरन्दर का कुपित हो अति-दृष्टि से ब्रजभूमि को जलमग्न करने का प्रयास और कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को छत्र के रूप में धारण कर ब्रज की रक्षा करने का उपक्रम में अन्तर्कथा का संकेत है। यहां सर्वतोभावेन भारतीय संस्कृति का अंकन है।

2. ब्रज के धन-बाग, गो-ग्वाल, पशु-पक्षी, करील-कुंज, कालिन्दी-कूल- कदम्ब आदि के प्रति कवि की गहरी आसक्ति कृष्ण-प्रेम का ही सहज उच्छलन हैं। आलम्बन हैं कृष्ण और ब्रज की सचराचर स्रष्टि है आलम्बन के नाना भावों की प्रतिच्छाया। इसी शीतल छाव में रसखान और उनके आराध्य कृष्ण दोनों का तन-मन शांति पाता हैं। और यही कारण है कि कृष्ण स्वयं अपने ग्वाला रूप पर (लकुटी और कावरिया धारण किया हुआ रूप) पृथ्वी की सारी सम्पदा, सारा वैभव लुटाना चाहते हैं। प्रस्तुत पद में –‘रसखानि’ शब्द शिल्प है जो कृष्ण और रचना-कार दोनों ही पक्षों से समान रूप से जोड़ा जा सकता है। कृष्ण के पक्ष में विचार करें तो कृष्ण (द्वारिकाधीश) रुक्मिणी से अपने ब्रजवास की चर्चा करते हुए स्मृति रूप-विधान द्वारा रसमग्न होते हैं और अपने गोचारण से सम्बद्ध अन्याय वस्तुओं-लकुटी, कामरिया, करील, यमुना, धन-वाजी आदि पर आठों सिद्धियों और नवों निधियों तथा सोने-चांदी के महल अर्थात् लोक-वैभव की न्यौछावर कर देना चाहते हैं। ‘रसखानि’ को रचनाकार का उपनाम मानकर अर्थ भी किया जा सकता है अर्थात् रसखान अपने आराध्य कृष्ण के साधारण ग्वाला रूप पर बलिहारी हैं। उनकी ब्रज-लीला के समक्ष कवि को उनका द्वारिकाधीश का गरिमा और गौरव-शाली रूप, राजस्व की सारी प्रभुता, सारा वैभव तुच्छ प्रतीत होता हैं।

विशेष – (1) सिद्धियों आठ मानी गयी- अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वाशित्व। अणिमा शरीर को अदृश्य बनने, महिमा शरीर का प्राप्ति सब कुछ प्राप्त करने, प्राकाम्य, इच्छा-पूर्ति, ईशित्व प्रभुता प्राप्त करने, वाशित्व वशीकरण की विलक्षणा यौगिक शक्तियां हैं।

(11) निधियां नौ मानी गई है— पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द और खर्च।
ध्यान देने योग्य है ये सब भारतीय संस्कृति के अंग हैं।

3 प्रियतम कृष्ण से एकात्म होने, तादात्म्य स्थापित करने के अनेक मार्ग हो सकते हैं। एक है कृष्ण—रूप—धरणा का। प्रीति की यह विलक्षण रीति है। स्वयं कृष्णमय होने की अलभ्य लालसावश सखी के सुझाव पर गोपी कृष्ण की भाँति मोरपंखों का सिर—मुकुट बनाने, गूँजों की माला पहनने, लकड़ी लेने, पीताम्बर ओढ़ने, निरंतर मरली धारण करने जैसे सारे उपक्रम करने को सहमत हैं। दुर्लभ आंकाक्षा यही है कि वह कृष्ण की हो जाये।

- 4 रसानंद के सागर कृष्ण ने कहीं एक बार प्रेयसी का नाम भर ले लिया। तब से उस प्रियतमा के मन में कृष्ण सामीप्य की, उस पीताम्बरी के वक्र—सोन्दर्य से साक्षात्कार करने की अलभ्य अभिलाषा सुगबुगा रहती रही है। संयोगवश उस मनोहारी मनचोर पर नजर भी पड़ गई तभी से वह मन में अटक गया है और हृदय विदग्ध हो गया है।
- 5 श्रीकृष्ण की भक्त—वत्सलता, भक्तों की मान—रक्षा और उनका लीला—विलास अदभुत है। जिस सर्वशक्तिमान प्रभु के अपार गुणों का मान अप्सरा, गंधर्व स्वयं मां सरस्वती और शेषनाग भी नहीं कर पाते जिस ब्रह्मा के रहस्य को भगवान् भूतनाथ और प्रजापति ब्रह्मा भी नहीं जानते तथा जिसके ध्यान में योगी, तपस्वी, सिद्ध—साधक निरंतर समाधिस्थ रहने पर भी उसे प्राप्त नहीं कर पाते। उसे ग्वालिनें थोड़ी—सी छाछ के लिये छका देती हैं, नाच—नचा देती है, क्योंकि प्रभु प्रेम के वशीभूत हैं।
- 6 राधा—कृष्ण फाग खेल रहे हैं। चहुं ओर कूंकम, गुलाल ओर केसरिया रंग की पिचकरी छूट रही है। अदुभुत दृश्य है। मनमोहिनी राधा मौजमस्ती से उल्लासित है। प्रेमी हृदय की सारी आकाक्षाओं की तृप्ति से मदहोसी छाई हुई है। राधा आज मनमोही कृष्ण से मनमानी कर सकी हैं, कदाचित इसलिये कृष्ण से हृदय—हारण करके जा रही है। होली का त्योहार भारतीय संस्कृति का अंग है।
- 7 सपत्नीक डाह की पराकाष्ठा है कि कृष्ण का संसर्ग जड़ पदार्थ बांसुरी से भी गोपियां सह नहीं सकतीं। कृष्ण उनके हैं। अहर्निश उन्हीं के साथ रहें।
- 8 प्रणय—खण्डिता गोपी की कृष्ण अन्यत्र निवास करते हैं। खण्डिता के अन्तर

दाह का सुन्दर वर्णन है।

- 9 कृष्ण—बांसुरी वादन के विलक्षण प्रभाव की चर्चा है। आज मनमोहन ने विचित्र मायावी ढंग से बांसुरी बजाई है। सचराचर सृष्टि रस—सिक्त हो रही है। इस अदभुत रसमयी ध्वनि को सुनकर गोपियां लोक—लाज और मर्यादा को भूल गई है। प्रेम—रस में सद्यःस्नात राधिका नंदजी के द्वारा पर बार—बार आ जा रही है। आज सम्पूर्ण ब्रज—प्रदेश में ऐसी कौन रमणी है जो बांसुरी के रमणीय प्रभाव से मंत्र—मुग्ध न हुई हो। रसिक शिरोमणि कृष्ण की बंशी—ध्वनि में यह कैसी सम्मोन शक्ति है।
- 10 वात्सल्य—भाव से भावाकुल स्त्री का कथन है। जसोदा द्वारा बाल—कृष्ण का श्रंगार करना और मनोहारी रूप के अवलोकन से उत्पन्न अनुराग का वर्णन है।

विशेष — जसोदा द्वारा बालक—कृष्ण के तेल—उबटन, काजल आदि लगाना और हमेल—हार आदि पहनाना ब्रज की विशिष्ट लोक—संस्कृति को रेखांकित करता है।

- 11 बंशी बजाते हुए कृष्ण का कटाक्ष करना जादू जैसा प्रभाव डालता है। वैसे ही कटाक्षाघात से आहत राधा तन—मन की सुध—बुध खो अचेतावस्था में पड़ी है। विरहोन्माद असह्य है। सारी गोपियां राधा की जीवन—डोर से बंधी है। कृष्ण दर्शन के अभाव में राधा के साथ ही नंद बाबा की देहलीज पर विष पीकर प्राणोत्सर्ग करने को दृढ़ संकल्प है।

विशेष — यदि शास्त्रीय शब्दावली में विचार करें तो तृतीय और चतुर्थ पंक्ति में उन्माद और व्याधि नामक संचारी भावों तथा 'जड़ता' नामक विरहावस्था का उन्मेष का वर्णन है यह पद्धति भारतीय है।

- 13 कृष्ण के सलौने रूप—सौन्दर्य का मनोहारी वर्णन है। गोपी का अपनी सखी के प्रति कथन है। जब से कृष्ण की उस विलक्षण रूप—राशि को देखा है, तभी से उन्माद जैसी स्थिति पैदा हो गई है और लोक—मर्यादा तथा समाज की लज्जा जैसी भावनाओं का विस्मरण हो गया है। अब मैं खूलेआम कृष्ण प्रेम—दीवानी हो गई है। कृष्ण के सुन्दर नेत्र खंजन, मीन और कमल के उपमानों का भीर अतिक्रमण करने वाले है। उनकी भौंहे कमान की भांति वक्र हैं और नेत्र दृष्टि रूपी बाणों से निरंतर सभी को बींधते रहते हैं। भला इतनी अप्रतिम रूप—राशि के देखकर भी ऐसी कौन स्त्री है जो स्वयं को संभाल सके अर्थात् कृष्ण प्रेम—दीवानी न हो जाए।
- (1) खंजन, मीन, सरोज — तीन—तीन उपमानों का सार्थक प्रयोग हुआ है जिसमें नेत्रों की चपलता, स्निग्धता, बाँकपन, लालिमा आदि का एक साथ अंतर्भाव है। ये सभी उपमान भारतीय संस्कृति के हैं।
- 14 कृष्ण के रूप जाल में प्राण—रूपी पक्षी का फंसना और तड़पना, आँख से आँख लड़ना अर्थात् प्रथम दर्शन में ही गम्भीर प्रेम हो जाना और तदुपरान्त बिछोह की आग में आँखों का दिन—रात अश्रु, प्रवाह करना तथा कृष्ण—प्रेम की अधीनता और तज्जन्य विवशता से लोक—लाज का परित्याग करना आदि मनोभावों की सुष्ठु अभिव्यक्ति हुई है।
- 15 कृष्ण—रूप की दुहाई फिरी है। ब्रज—मण्डल में ढिंढोरा पिट रहा है। नव युवतियों का घर से निकलना दूभर हो गया है। श्रृंगार वर्णन की रीतिकालीन पद्धति का प्रयोग हुआ है।
- 16 नायिका का सर्वांग ही बगीचे के समान है। उपमा और रूपक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। भारतीय पद्धति का ऋंगार वर्णन है।
- 17 प्रेम—रस में सिक्त गोपी—कृष्ण अथवा राधा—कृष्ण की रति क्रीड़ा का चित्र है। राधाकृष्ण के युगल को प्रगाढ़ आलिंगन—बद्ध देव देख एक गोपी अपनी सखी से कह रही है। वृक्ष की छाया में वे दोनों अंग—प्रत्यंग से गहरे स्पर्श—सुख में डूबे हुए हैं। वह राधा प्रियतम कृष्ण के गले में बाहें डालकर काम—रस—रंग में भीगी हुई है। वे बाहु—पाश में एक—दूसरे

को बांधे कामासक्त वार्तालाप और क्रीडाओं में निमग्न हैं। प्रेमी-युगेल रति-क्रीड़ा का हृदय से आनन्द भोग रहा है। प्रियतम प्रियतमा के स्वर्ण आभा युक्त कुम्भ के समान सुडौल कुचों का और उसके अधोवस्त्र का स्पर्श कर नीवी-संधान करने का जब-जब प्रयास करता है तब-तब सम्भोग-सुख में अतिर्लिप्त नायिका नहीं-नहीं शब्द का उच्चारण करती है। उपर्युक्त वर्णन भारतीय संस्कृति की परम्परा का है।

विशेष — ; पद्ध अन्तिम पंक्ति का भाव-साम्य रसिक सम्प्रदाय के एक कवि की, इन पंक्तियों दृष्टव्य है: यथा —

“ नीवी करखत वरजति प्यारी,
रस लम्पट सम्पट कर जोरत,
पद परसत पुनि-पुनि बलिहारी । ”

इसी भांति —

“ हाथन सौं गहि नीवी कह्यो पिय,
नाहीं जु नाहीं जु नाहीं जु नाहीं । ”

(हरिश्चन्द्र)

यहाँ भारतीय संस्कृति में प्रेमनिरूपण का निदर्शन है।

- 20 कृष्ण-प्रेम से सम्पूर्ण ब्रज आच्छादित है। ब्रज की सभी स्त्रियां अपने प्राण कृष्ण के ग्वाला-रूप पर न्यौछावर करती हैं। पद-मैत्री और अनुप्रास की छटा निराली है।
- 21 ब्रजराज के प्रेम का डंका बजा हुआ है। यह प्रेम सभी को पराभूत कर देता है। अतः एक गोपी दूसरी गोपी से बाहर दही-दूध बेचने को कहती है ताकि रसिक शिरोमणि से भेंट न हो और व्यर्थ में अंखियां उस प्रेम प्यासे के रूप को प्यासी न बन जायें।

22 कृष्ण की विलक्षण रूप-राशि पर मुग्ध गोपी का सखी से कथन है। कृष्ण के मोर-पंखी मुकुट में मोर पंख का चंदवा शोभायमान है और सुन्दर पगड़ी भी सिर पर शोभित हो रही है। वक्ष पर वन माला धारण किये तथा मस्तक पर गोज लगाये हुए उस सलौने रूप को देखकर मैं बेसुध हो गई है। इतना कहकर गोपी ने नेत्र बन्द कर लिए और घूँघंट खींच लिया। सखी के बार-बार कहने पर भी वह नेत्र नहीं खोलती क्योंकि मनमोहन की जो रूप-छटा मानस-नेत्रों में समाई हुई है, उसे नष्ट नहीं करना चाहती।

विशेष —(1) पूर्वरग की स्थिति है। मुग्धा नायिका का संज्ञालोप होना पूर्वरग की पराकाष्ठा है।

(11) सखी के बार-कहने पर भी घूँघंट और नेत्र न खोलना मुग्धा की प्रेमासक्ति और लोकपाल का प्रतीक भी है।

(111) नेत्र न खोलना उस स्मृति रूप-विधान में डूबे रस-साधिस्थ मन को चित्रित न करने के कारण भी हो सकता है।

23 कृष्ण की रूप-माधुरी (सुन्दर घनी भौहें एवं बौरानियां, लाल अधर, सुंदर कपोलों से क्रीडा करते कुण्डल आदि) को देखकर गोपियां बेहाल हैं। उन्हें तनक की सुधि नहीं, मार्ग नहीं दिखाई देता, राह भूल गई हैं, शारीरिक नियन्त्रण खा गया है फलतः सिर रखी दधि की मटकी भी गिरकर टूट गई है और बात यहां तक ही नहीं उनका हृदय कृष्ण पर ऐसा रीझा है कि नेत्रों से लाज का नाता ही टूट गया है। अर्थात् प्रेम के प्रबल झंझावात से धराशायी होकर लोज-जाल का शीशा ही चकना-चूर हो गया है। अब उन्हें परिजनों और पुरजनों की परवाह नहीं है। वे कृष्ण दीवानी हैं। दीवानों का समाज से क्या संबंध, लोक-लाज से क्या नाता?

विशेष —(1) रसात्मक बोध की दृष्टि से उक्त पद में प्रत्यक्ष रूप-विधान द्वारा रसानुभूति की ओर संकेत है। कृष्ण के प्रत्यक्ष रूप को देखकर गोपियों को योग-क्षेम का ज्ञान नहीं रहता। भक्ति

भावना का निरूपण है। शुक्लजी के शब्दों में वे हृदय की मुक्तावस्था वाली स्थिति में पहुँच गई हैं।

(11) भाव—साम्य की दृष्टि से मीरा की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं —

“ छोड़ि दई कुल की कानि कहा करिहै कोई।

संतन ढिंग बैठि—बैठि लोक लाज खोई। ”

27. रसखान प्रभु की प्रेमाधीनता का वर्णन करते हैं। उस निराकार गुणा—तीत ब्रह्म को वेदों—पुराणों आदि में ढूँढ़ा। उसका लीला—गान साम्प्रदायिक— धार्मिक साहित्य में खोजा। वेद—ऋचाओं को बड़े मनोयोग से सुना परन्तु वह प्रेम—प्रभु इन्द्रियातीत ही रही। उसकी तलाश में जगह—जगह भटकता फिरा, किसी ने उसके स्वस्व और स्वभाव का परिचय नहीं दिया। ब्रह्म की इस अकारथ तलाश से थका रसखान प्रेम भक्ति से जब परिचित हुआ तो उसेन विचित्र रूप में उस पार ब्रह्म परमेश्वर को पाया। देखा कि वह निराकार प्रभु साकार हो कुंज—कुटीर में प्रेम—देवी राधिका के पैर पलोट रहा है।

विशेष – (1) ज्ञान से ऊपर भक्ति को प्रतिष्ठित कर भक्त कवि रसखान प्रभु को प्रेमाधीन प्रमाणित करते हैं। भारतीय संस्कृति का यहाँ निदर्शन है।

59. गोपी राधा-कृष्ण-प्रेम की चर्चा अपनी सखी से करती है। इन दिनों राधा- कृष्ण की प्रेम उन्मत्ता अद्भुत है। दोनों समाज की मर्यादा का परित्याग कर एक-दूसरे पर प्रेम प्रदर्शित करने से नहीं चूकते। यह प्रेम-संबंध क्या छिपाये से छिप सकता है? क्या चन्द्रमा को हथेलियों में बाँधकर छुपाया जा सकता है? आज ही यमुना तट पर दोनों मिले। एक दूसरे को देखा और मुड़कर मुस्कराने लगे। तदुपरान्त ऐसे-दीवाने हुए कि पैर पड़-पड़ कर एक दूसरे पर बलिहारी होने लगे। प्रेम की तन्मयता तो देखो कि राधा गगरी उठाना भूल गई है और कृष्ण गायों को चराना।

विशेष – अंतिम दो पंक्तियों का भाव-साम्य की दृष्टि से महाकवि देव की निम्न पंक्तियाँ उल्लेख है। राधा कृष्ण की नई-नई प्रेम-प्रीति में फँसने पर क्या दशा है? दोनों पर प्रेमान्माद छाया हुआ है?

“ दुहुन को गुन रूप दोऊ बरनत फिरैं,

घर न थिरात, रीति नेह की नई नई।

मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,

राधा मन भयो मोहि मोहन मई भई।”

यह पूरा वर्णन भारतीय संस्कृति का निरूपण है।

64. रसखान के रसखानि (कृष्ण) आनंद के पारावार हैं। कवि को जीवन और जगत में उनके आगमन की निरंतर प्रतीक्षा है। कवि के प्रतीक्षा-रत मानस में उसका आगमन दृश्य कितना हृदयहारी है और कैसी प्रेम-वृष्टि करने वाला है? वह गायें चराकर आ रहा है। उसकी केशराशि गो-धूल-धूसरित है। आगे गायें हैं। पीछे प्रेमी ग्वालों की टोली है। उसकी बांसुरी की ध्वनि जितनी विमोहित करने वाली है उतनी ही सम्मोहक उसकी तिरछी चितवन ओर मंद-मद मुस्कान है। वह आनंद-राशि कृष्ण अब यमुना के किनारे कदम्ब-वृक्ष के पास आ गया है। उसका पीताम्बर फहरा रहा है। वह प्रेम-रस की वर्षा करने वाला, तन-मन के ताप को बुझाने वाला, नेत्रों और प्राणों को आकर्षण-पाश में बांधने वाला, रसखानि (आनंद का पारावार या भण्डार) ब्रजेश्वर कृष्ण आ गया है।

विशेष — (1) जीवन और जगत में कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा-रत है कवि, ताकि समजा का वैमनस्य, दुख-दारिद्र्य मिट सके और समाज में प्रेम एवं सौहार्द की वर्षा हो सके।

87. कृष्ण की छेड़छाड़ के प्रत्युत्तर में गोपी कहती है कि कान्ह मेरा चीर छोड़ दो। मैं तुम्हें दूध-मक्खन पेट भर खिलाने को तैयार हूँ किन्तु तुम गोरस के बहाने जिस रस को चाहते हो वह रस तुम्हें कदापि नहीं मिलेगा अर्थात् तुम्हारी रति-कामना कभी भी पूरी न हो सकेगी।
92. राधा-कृष्ण के संयोग-श्रंगार का सुन्दर चित्र है। कृष्ण प्रियतमा राधिका के साथ आनन्दपूर्वक विहार कर रहे हैं। उनके पारस्परिक आलिंगन स्पर्श से राधा की साड़ी के फुंदने टूट-फूट कर छितरा रहे हैं। उस प्रगाढ़ आलिंगन की कसमसाहट से नवयौवना राधा सिहर-सिहर उठती है। उनके नेत्रों की कोरों से गहन अनंग-रंग उद्दीप्त हो रहा है। रति-रंग-तरंगिणी इस उद्दाम आवेग से बह रही है कि उसके किनारे पर खड़ी ब्रज-वनिताएं कांप रही हैं अर्थात् राधा-कृष्ण के गहन प्रेम-प्रसंग से विचलित हो उठी हैं। राधा-कृष्ण को इस प्रकार आनंद-उन्मत्त देख कर अन्य विरही जन बिछोह की आग से ओर अधिक उत्तप्त हो रहे हैं। भारतीय संस्कृति का यहाँ निरूपण है।

105. कृष्ण-भक्ति के अभाव में संसार की सारी प्रभुता, सारा वैभव, सारी साधना निष्फल और अकारथ है। यदि मनुष्य सच्चे हृदय से भगवद भक्ति और कृष्ण प्रेम में निमग्न नहीं होता तो उसका जीवन निष्फल है। रसखान मनुष्य मात्र को प्रबोधित करते हुए कहते हैं कि कृष्ण प्रेम के बिना ये साने के महल जो साल मोतियों की माला से सदा देदीप्यमान रहते हैं और जिनकी आभा आँखों को चकाचौंध कर देती है, व्यर्थ हैं। यह अप्रतिम प्रभुत्व जिसके समक्ष बड़े-बड़े राज राजेश्वर भी प्रतिहारों की भांति उपस्थित रहते हैं, प्रभु प्रीति के बिना यह प्रभुत्व भी निस्सार है। रसखान कहते हैं कि मनुष्य का सारा धर्म-कर्म (गंगा-स्नान तथा मुक्त हस्त से मोतियों का दान), वेद-पाठ, ज्ञान-ध्यान तथा चिन्तन अकारथ है। ये साधनाएँ निष्फल हैं। यदि वह पीताम्बरधारी कृष्ण प्रेम का दीवाना नहीं है।

विशेष — रसखान सच्चे अर्थों में भक्त-कव हैं, इसलिए ज्ञान- ध्यान कर्मकांड की असारता पर बल देते हैं और कृष्ण-प्रेम (भक्ति) को ही सर्वोपरि मानते हैं।

130. भक्ति-भाव से ओत-प्रोत कवि अपने आराध्य कृष्ण से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु, मुझे निरंतर अपन नाम-स्मरण की शक्ति दो ताकि मेरी जिह्वा उत्तम रसनंद में डूब जाये। भगवद भक्ति से बड़ा कोई आनन्द इन्द्रियों के लिए हो ही नहीं सकता। हाथों को कुज-कुटीर (आपका निवास स्थल) में झाड़ू लगाने के सर्वोत्तम कार्य में प्रवृत्त होने की शक्ति दो। अणिमा आदि आठों सिद्धियों का सुख मुझे तभी मिलेगा जब मेरा शरीर ब्रज-धूलि से धूसरित हो सकेगा। हे प्रभु यदि आप मुझे विश्राम (खास निवास) ही देना चाहते हों तो मुझे अपनी क्रीड़ा-स्थली (ब्रज-भूमि), कालिंदी के कूल पर तथा कदम्ब की डालों के नीचे निवास देने की परम कृपा करें। यहां भक्ति भावना का प्रकाशन है।

138. गोपियों के कृष्ण-प्रेम ओर बिछोह का वर्णन है। गोपी का कथन है कि जब से कृष्ण इस मार्ग से गोवर्धन सम्बन्धी लोकगीत गाते हुए निकले हैं तब से लोकलाज और सामाजिक मार्यदा की कितनी ही दीवारें खड़ी करूं, सब निरर्थक हैं, क्योंकि हृदय उस बंसी वाले पर अनुरक्त हो गया सो हो गया। अब मन वश में नहीं । अब तो प्रेम हो ही गया है

लोग परिहास करें, निन्दा करें, मेरे प्रेम—कर्म पर हंसे तो मुझे कोई परवाह नहीं। पर दुःख कातरता नहीं है लोगों में, वे दूसरे हृदयगत दाह को नहीं जानते। मेरी अन्तःवेदन तो वही जान सकता है जिसके हृदय में रसखानि (आनन्द के भण्डार कृष्ण) बसे हुए हैं अथवा जो कृष्ण प्रेम में मेरी ही भांति मर्मान्तक वेदना सह रहा हो और मेरी ही भांति मन की आसक्ति के हाथों विवश हो। यहाँ भक्ति भावना भारतीय संस्कृति की अंग है।

142. बिछोह की आग में झुलसी गोपी कृष्ण आगमन के समाचार से इस प्रकार प्रफुल्लित हो जाती है जैसे बुझते हुए दीपक की लौ (बत्ती) को ऊपर बढ़ा दिया गया है। मनमोहन कृष्ण के वियोग से उत्तप्त गोपी के शरीर की धवल कांति द्यूतिहीन और मलिन हो रही है। हृदय की विरहाग्निसे उसका मुख—कमल मुरझा गया है। विरह की ऐसी ही दशा में प्रियतम कृष्ण के आगमन का समाचार मिलते ही मुरझाई देह और मलिन देह यष्टि खिल उठती है। आतंरिक उल्लास अन्य वक्ष ऊभ—चूभ करने लगता है। फलतः अंगिया की तनी कसने और चटकने लगती है। शरीर की आभा इस भांति प्रकाशित हो उठती है मानो दीपक की लौ बढ़ाने से सर्वत्र प्रकाश फैल गया हो।
155. कृष्ण के अलौकिकत्व, उनके मायावी, निराकार और साकार स्वरूप का एक साथ ही वर्णन है। गोपी का कथन है। जिस निराकार परम प्रभु के ध्यान में स्वयं देवाधिदेव महादेव शिव निरन्तन निमग्न रहते हैं उस लीला प्रभु सा महान इस ब्रह्मांड में कोई दूसरा दृष्टिगत नहीं हो सकता। परन्तु आश्चर्य यह है कि वही अरूप, अदृश्य, निराकार ब्रह्म बालक के रूप में विद्यमान है और उसका स्वरूप कुछ अदभुत—सा है। कवि चमत्कृत है। इस दृश्य का वर्णन उसकी सामर्थ्य में नहीं। इसलिए गोपी से इस रूपाकृति का वर्णन नहीं हो पा रहा है,

कुछ कहते बनता ही नहीं। यह विलक्षण कुतूहल है कि निराकार, गोपीत और महाविराट पुरुष (प्रभु) जो सम्पूर्ण स्रष्टि का रचानाकार है, आज नंद जी के आंगन में बालक कृष्ण के रूप में मिटटी खा रहा है। यह वर्णन पुराण संवलित है।

164. ग्वालों के श्रृंगार की चर्चा करते हुए गोपी कहती है कि आज सभी ग्वालों की पगड़ियाँ अत्यन्त सुन्दर लाल रंग की हैं। सभी के वस्त्र नाना प्रकार के इत्रादि से सुगंधित हैं। सभी के अंग—प्रत्यंग अन्यान्य प्रकार के आभूषणों से सुशोभित हैं और सभी की गर्दनो में मोतियों की मालायें शोभा पा रही हैं। किन्तु साधारण वेश में ही कृष्ण सबको सम्मोहित किये हुए हैं। उस ग्वाल—मंडली में वे इस प्रकार शोभित हैं जैसे वन में सिंह। विशेष —
- (i) रसखान के जीवन को रेखांकित करने की दृष्टि से यह पद महत्वपूर्ण है। कदाचित् रसखान ने अपने यौवन—काल में राज दरबारों का वैभव और सुख देखा—भोगा था उसी की ध्वनि प्रथम तीन पंक्तियों में है।
187. गोपी अपनी सखी से कहीती है कि कल रसखानि (कृष्ण) मुरली बजाते हुए मेरा नाम भर लिया था, तभी से मेरी सास शत्रुवत् व्यवहा कर रही है। मुझे दरवाजे पर झाँकने भी नहीं देती। सर्वत्र अपयश (बदनामी) हो रहा है किन्तु मुझे इसकी कोई परवाह नहीं। मात्र लालसा इतनी है कि प्यारे कृष्ण को आँख भर देख पाती। देखने पर (सांस आदि) किसी का प्रतिबंध न होता। यद्यपि वह रसनिधि कृष्ण तो राह से गुजरता ही है और राह में ठिठक भी जाता है। परन्तु मेरा उसे देखना प्रतिबंधित है और मार्ग में उसके रुकने भर से रास्ता भी रुक जाता है, फिर कैसे देख पाऊँ? अर्थात् मार्ग से प्रेमी—प्रेमिकाओं का जमघट जो इकट्ठा हो जाता है फिर उस रसवारे पर दृष्टि पड़े तो कैसे पड़े?
215. गोपियों और राधा के साथ कृष्ण होली खेल रहे हैं। राधा के साथ फाग खेलन की प्रक्रिया में परस्पर सान्निध्य बढ़ने से अनुराग ओर अधिक घनीभूत हो रहा है। दोनों आनंद की अठखेलियां कर रहे हैं। कमल के समान सुन्दर आनन्द वाली राधा हाथ में कुकुम लेकर प्रियतम कृष्ण के नेत्रों (मुँह) पर लगाने की धात में है। गुंलाल फेंकने का अवसर ताक रही है। बड़ा ही मनोहारी दृश्य है। कवि उत्प्रेक्षा के द्वारा गोपियों ओर कृष्ण की फाग—लीला का रेखांकन प्रकृति से सादृश्य उपस्थित करके करता है। गुलाल की धूल चहुँ ओर उड़ रही है। ब्रजबालाओं की देहयष्टि, उनकी अप्रितम रूप—राशि इस तरह चमक रही हैं मानो सावन की सांझ में लोहित गगन हो और चारों दिशाओं में चपला

(बिजली) चमक रही है। कुंकुम एवं गुलाल का होली में प्रयोग भारतीय संस्कृति का अवयव है।

- (2) गुलाल की धूँधर (धूल) के मध्य गोपियों के शारीरिक सौन्दर्य को रूपायित करने हेतु रचानाकार ने सावन के महीने में सूर्यास्त के बाद छाया हुई लालिमा तथा चारों दिशाओं में दामिनी की द्युति को सादृश्य के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ रचनाकार का उद्देश्य मात्र पार्थिव साम्य को रेखांकित करना नहीं वरन प्रभाव-साम्य को प्रस्तुत करना भी है। क्योंकि फाग की गुलाल-गर्द में गोपियाँ थिर नहीं हैं, चलायमान हैं। उनके इसी चपल सौन्दर्य की तुलना चपला (विद्युत) से की गई है। सादृश्य-विधान का सुष्ठु प्रयोग है। यह प्रयोग भारतीय संस्कृति का अंश है।

217. सखी राधा से उसके सौन्दर्य की चर्चा करते हुए कहती है कि हे राधिके! यदि तू दिन में घर से बाहर कहीं निकलती है तो सूर्य ठहर जाता है क्योंकि एकटक तेरे सौन्दर्य को ही देखना रहता है। परिणामस्वरूप रात्रि नहीं होती और बटोही (राहगीर) को विश्राम नहीं मिलता। इसी भाँति रात्रि में भी दशा कुछ अच्छी नहीं क्योंकि तेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध रसलोभी चन्द्रमा तेरे आंगन से टलता ही नहीं और रात्रि समाप्त नहीं होती। फलतः विरहदग्ध प्रेमी और अधिक त्रस्त होते हैं। इधर वायु (पवन) की दुर्दशा है क्योंकि वह दिन में तो चलता ही है रात्रि में भी नहीं ठहर पाता। विवश है। यह गंधलोलूप पवन तेरे शरीर की सूवास के कारण मार्ग चलना दूभर हो जाता है।

विशेष —(1) समग्र पद में अतिशयोक्ति के साथ ही ब्याज स्तुति अलंकार भी है।

राधा की रूप-राशि से प्रकृति भी प्रभावित है। यहाँ राधा का संस्कृति से अन्वय हो गया है।

226. कृष्ण-बिछोह में गोरी विचित्र विरहानल से जल रही है। इस कामाग्नि और विरहाग्नि से शांति पाने हेतु गोपी यमुनाके जल में प्रवेश करती हैं। किन्तु विरहाग्नि के प्रबल ताप से जमुना-जल सूख जाता है और मछलियाँ भुनकर जमुना-तल से पाताल में गिर जाती हैं

क्योंकि विरह की अग्नि से जमुना जल तो सुख ही गया साथ ही उत्तप्त होने से तल के रेत में भी दरारें पड़ गईं। यह अग्नि यहीं शामिल नहीं होती। पाताल—लोक भी इसकी जलाने वाली वियोगाग्नि, गोपी कहती है, तभी शांत होगी जब मनमोहन उसे आलिंगन बद्ध करेंगे, उसके हृदय से लग जायेंगे। प्रिय—मिलन से विरह—उत्ताप शामिल होगा और प्रकृति शीतल एवं शान्त है।

विशेष — विरह का रीतिकालीन ऊहात्मक वर्णन ।

244 कृष्ण—छवि, कृष्ण के कल्पित रूप—विधान को प्रस्तुत करने का प्रयास है। कृष्ण देर—सबेर गायें घेरने या चराने जाते हैं उस समय उनकी शोभा देखने योग्य होती है। विशेष रूप से गौचारण के समय उनका लाठी घुमाना, उनका भूकुटि—विलास, तीक्ष्ण, कटाक्ष—पात और भंगिमा युक्त ढंग से चलना तथा बांसुरी से मधुर संगीत की तानें छेड़ना आदि अत्यन्त शोभादायक होते हैं। यही नहीं सिर पर बांकपन से धारण किया हुआ उनका मोर—मुकुट तथा चटकीला लटकता हुआ उनका पीताम्बर विलक्षण शोभा की स्रष्टि करते हैं।

260. राधा के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन है। गोपी का सखी के प्रति कथन है। वृषभान की पुत्री राधा के उज्ज्वल रूप का वर्णन तो स्वयं कृष्ण भी अपने श्री मुख से नहीं कर सकते। अर्थात् राधा का धवल रूप अवर्णनीय है। दूसरा अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है कि राधा के मुख की श्री (शोभा) का वर्णन नहीं किया जा सकता है। उसकी मुख—कांति अत्यन्त प्रकाशवान है। समग्रतः राधा का रूप—सौन्दर्य अकथनीय है, वर्णनातीत है। फिर मनुष्य की तो बिसात ही क्या है? उसमें इतनी भाव एवं रूप—बोध शक्ति कहाँ है? वह तो अनुपम रूप पर मग्न ही हो सकता है। उसके लिए जैसे नक्षत्रों की अनुपम प्रभा सम्मोहित करने वाली है, उसी प्रकार राधा सौन्दर्य चमत्कृत करने वाला है। उस गहन रूप—राशि का समग्र अवबोध सम्भव नहीं वह सौन्दर्य मन्त्रमुग्धकारी है। बोध—गम्य नहीं। बुद्धि और कल्पना द्वारा अगम्य राधा की रूप—राशि को, उनकी रूप—माधुरी को रेखांकित करने हेतु उत्प्रेक्षा का सहारा लेते हुए कवि कहता है कि राधा के मस्तक पर सिन्दूर का

जो सुन्दर लाल टीका लगा हुआ है मानो चन्द्रमा की गोद में मंगल सुशोभित हो। ग्रहों का विवेचन भारतीय संस्कृति का अंग है।

“ दान लीला ”

पद संख्या

11. दान लीला के ग्यारह पदों में अधिकांश राधा-कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण की प्रेम-कलह से सम्बद्ध हैं। कृष्ण गोरस बेचन जाती गोपियों की निरन्तर छेड़ते हैं। उनसे कर रूप में रसानन्द प्राप्त करना चाहते हैं। यही पारस्परिक प्रेम-विग्रह, उपालम्भ आदि अति सरल शब्दावली में दान लीला में वर्णित हैं। दान का, कदाचित्, अर्थ रति-दान अथवा प्रेमानन्द-दान से ही है। प्रस्तुत पद में भी गोपी उपालम्भ भरे स्वर में कृष्ण को छिड़क रही है। हमने तो सुना था बाबा नन्द के घर नौ लाख गायों हैं? उनके तुम प्रिय पुत्र होकर भी गोरस मांगते फिरते हो। नन्द नौ लाख गायों के दूध -दही से भी तुम्हारी तृप्ति नहीं होती ? प्रतीत होता है कि गोरस तो बहाना है और तुम्हारा सब वार्तालाप मिथ्या है। तुम्हारा उद्देश्य गोरस प्राप्त करना नहीं वरन् स्त्रियों से तुम कुछ और ही रस प्राप्त करना चाहते हो। तुम्हें लज्जा नहीं आती। लोक-मर्यादा को ताक पर रखकर तुम पराई स्त्रियों का मुँह ताकते फिरते हो। कुछ तो गम्भीरता धारण करो। अपनी नहीं तो दूसरों की लाज की परवाह करो। परिजनों की शर्म करो। अब तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम यहां से अपने घर या वृन्दावन कहीं भी चले जाओ। अकारथ अपना अपयश न करो ।

“ स्फुट पद ”

यद्यपि इन पदों की प्रामाणिकता संदिग्ध है, तथापि इनके कथ्य और शिल्प से ये रसखान विरचित ही प्रतीत होते हैं। इन पांच पदों में से प्रथम दो कृष्ण ओर गोपियों की पारस्परिक प्रेममय छींटाकशी से और तीन फाग-वर्णन से सम्बन्धित हैं। व्याख्या की दृष्टि से अत्यन्त सरल है।

पद संख्या – 35 किसी गोपी का अन्य गोपियों से कथन है। कृष्ण आज उसी दिन की वेशभूषा में गोपियों की सुन्दर मण्डली के साथ आकर्षण भरे गीत गाते फाग खेलन को आये हैं। अतः हे सखियों! अब परिजानों (सान, ननद आदि) की परवाह न करके फाग खेलन को तैयार हो जाओ। लोक-लाज की चिन्ता छोड़ो। मनमोहन के मोहक स्वरूप के दर्शन कर अपनी आँखों को सफल बनाओ। क्योंकि कृष्ण-दर्शन ही चक्षुओं और दृष्टि की सही अर्थों में सफलता है, सार्थकता है। उन नेत्रों की ही ज्योति सार्थक है जो कृष्ण-रूप को देखते हैं। तभी व्रषभानु कुमारी राधा कृष्ण मुरली का मनोरम संगीत सुन हँस पड़ी। कुल मर्यादा का परित्याग करने वाली राधा के हास्य के प्रत्युत्तर में कृष्ण भी हँस पड़े।

“ प्रेम वाटिका ”

प्रेम वाटिका में 53 दोहे संकलित हैं। मूल विषय है प्रेम। प्रेम क्या है? कहाँ जन्म लेता ? प्रेम का स्वरूप और क्षेत्र क्या है? आदि। अन्यान्य प्रसंगों में प्रेम को रेखांकित करने का रचानाकार का प्रयास अनुपम है। इस रचना के अधिकांश दोहों का सार इस प्रकार है। प्रेम वाटिका के माली हैं लीला पुष्पोत्तम श्री कृष्ण और मलिन हैं राधा। वस्तुतः राधा ही प्रेम का मूल स्रोत या भण्डार हैं। प्रेम की चर्चा तो सांसारिक मनुष्य करते हैं किन्तु उसके रहस्य को कोई नहीं जानता और यदि प्रेम के रहस्य को जान लिया जाये तो रोना किस बात का? प्रेम (ब्रह्मा की भांति) अगम, अनुपम और अमित है। यह वह सागर है जहाँ एक बार प्यास पहुंच जाए तो उसे अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं रहती है। यह वह वारुणी है जिसे पान कर वरुण जलधीश हो गये और शंकर विश्व-पूज्य हो गये।

प्रेम कमलतंत से भी क्षीण और तलवार की धार से भी तीक्ष्ण है रसखान के काव्य से जो पद्य उद्धृत किये गये हैं उनमें सांस्कृतिक तत्वों के रूप में आये हैं। भगवान कृष्ण का जो रूप वर्णन में आया है वह भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधित्व का संस्थान है। इसलिए पहले खण्ड में श्रीकृष्ण के रूप का अनुसंधान किया गया है। भागवत का यह कथन कि हे भगवान जो भी जातियाँ (हूण, किरात, शक, शिथियन, पवन आदि) भारत में आयी वे आप का स्पर्श पाकर पवित्र हो गयी। यही भारतीय संस्कृति का समन्वयवाद है। रसखान जो यवन है वे कृष्ण की लीला कर

जो चित्रण प्रस्तुत करते हैं वह स्तुत्य हैं। भारतीय संस्कृति का निरूपण वाललीला, प्रेम लीला के रूप में प्रकाशित होता है। भाषा, प्रतीक, अर्थ, दर्शन सभी में संस्कृति के अभिलक्षण स्वतः स्फुरित होते हैं। ब्रज भूमि वन पहाड़, हवाएँ सभी में भारतीय संस्कृति का संगीत सार हैं। प्रेम-वर्णन विरोधमूलक उक्तियों से किया गया है। उनकी दृष्टि में प्रेम का मार्ग अत्यंत सीधा भी है और टेढ़ा भी। किन्तु विधि-निषेध की भावना का विरोध करता है प्रेम। लोक और वेद की सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है प्रेम। इस प्रेम पंथ में अज्ञान का अंधकार कहाँ ? यह तो अनवरत स्वयं प्रकाश पंथ है। प्रेम, ज्ञान, कर्म, उपासना तथा नाना पुराण निगमागम का सार है। मनुष्य की सारी वासनाओं (काम, क्रोध, मद, लोभ) आदि को उदातीकृत करता है प्रेम ही ब्रह्मानंद है। मित्र, पुत्रादि के लौकिक स्नेह में वह शुद्धता नहीं जो भगवद प्रेम में है। भगवद प्रेम अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल है। प्रेम ही ईश्वर का प्रतिरूप है और प्रभु प्रेमस्वरूप ही है। दोनों में पार्थक्य का कोई प्रश्न ही नहीं। दोनों एक-दूसरे से इस प्रकार अभिन्न हैं, जैसे सूरज से धूप और सूरज। यथा —

“ प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप’

एक होई द्वैयों लसैं, ज्यों सूरज और धूप ।।”

अन्यान्य सम्प्रदाय और सिद्धान्त, ज्ञान-ध्यान, विद्या-बुद्धि आदि अकारण हैं, यदि सच्चा प्रेम नहीं। इस तरह रसखान ने प्रेम वाटिका के दोहों में प्रेम को प्रभु-रूप में ही प्रमाणित किया गया है। उनका प्रेम धर्म और सम्प्रदाय की सीमाओं से परे है। यह अगोचर और अगम्य है। वह ब्रह्मानंद की अनुभूति के समान सूक्ष्म और विलक्षण है।

उपर्युक्त पद्यांशों के विवेचन में सांस्कृतिक तत्व निम्नलिखित रूप प्रस्तुत हैं— सुजान रसखान से उद्धृत पद्यांशों में प्रेम, भक्ति एवं सौन्दर्य के जो चित्र हैं उनसे भारतीय संस्कृति का उद्घाटन होता है। जो व्याख्या की गयी है उसमें भारतीय साहित्य का प्रयोग भारतीय संस्कृति का निदर्शन करता है। सुजान रसखान के 260 सवैया में राधा का रूपांकन भारतीय संस्कृति का उद्गार है। इसी प्रकार 225 वी सवैया राधा कृष्ण के होली का प्रसंग भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन करता है। संस्कृति के अन्तर्गत लौकिक परम्परा त्योहार आदि भी आते हैं। भक्ति भावना में कृष्ण का जो स्वरूप है ऊपर कई पद्यों में इसका वर्णन आया है। कृष्ण रूप का विवेचन भारतीय दर्शन का विषय है। गोपियों का दही बेचने जाना भारतीय परम्परा है। गोपियों के वियोग के उपादान भारतीय संस्कृति के अभिलक्षण के रूप में आये हैं।

अध्याय—5

सन्दर्भ — ग्रन्थ

- प्रष्ठ 187 छान्दोग्य 03—07—16
- 188 सांख्यायन ब्राह्मण अध्याय 30 आनन्दाश्रम पूना ।
- 189 महाभारत, शान्ति पर्व अध्याय 349
- 189 श्रीमद् भवदत्त गीता अ.2, श्लोक—42,43,44
- 190 महाभारत शान्ति पर्व 348,351,352
- 191 आदि पर्व अध्याय 218 श्लोक 12
- 192 महाभारत सभापर्व 38
- “ ऋग्वेद 10/8/5 तथा 10/92/6
- “ शतपथ ब्राह्मण 13/3/4
- “ ऋग्वेद 12/6/1 तथा 12/10/90
- 193 वनपर्व 16/47 तथा उद्योग पर्व 49/11
- “ ऐतरेय ब्राह्मण 1/1
- “ शतपथ 1/2/5 और 14/1/1
- “ आश्वमेधिक पर्व अध्याय 53—54
- “ शान्ति पर्व अध्याय 48
- 194 Vaishnavism and Shaivism (Page 50 Foot note)
- “ आदि पर्व (महाभारत) 21—12
- “ शान्ति पर्व 342—70
- 195 Vaishnavism and Shaivism (Bkandarker) Page 50
Foot note
- “ ऋग्वेद 1/154/6
- “ हरिवंश पुराण 5161'5163 श्लोक
- 196 वायु पुराण खण्ड—2 अध्याय 17
- “ Journal of the Royal Asiatic Society For 1907 Page 981
- 198 पद्म—पुराण वाता खण्ड अध्याय 69

- 199 श्रीमद भागवत 2/7/26
“ वही 01/03/01
“ वही 11/04/03
“ वही 10/10/14
200 देखिए गीता 9/8, 15/7,10/20/, 10/41, 9/34
“ महाभारत, शान्ति पर्व अध्याय 329 श्लोक 21-28
201 श्रीमद भागवत 10/85/21
“ गीता 10/42
“ भागवत 1/08/32/35
205 सं० विद्यानिवास मिश्र, रसखान रचनावली प्र.89
“ स्वच्छन्द तत्र भाग 2 प्र. 276-277
206 अभिनवगुप्त, परात्रिंशिका प्र.47-48
209 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि पहला भाग प्र.40
“ डॉ. बच्चन सिंह : रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना प्र. 126
210 जवि गोस्वामी : श्री भागवत सन्दर्भ प्र. 675
“ श्रीमद भागवद गीता अध्याय 7 श्लोक 25
211 डॉ. बच्चन सिंह : रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना प्र. 128
213 हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) प्र.69
214 डॉ. विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली प्र.132
215 सुजान रसखान पद्य 1
“ वही पद्य 1, 2
216 वही पद्य 7,8,9,10
217 वही पद्य 11,12,13,14,15,16
218 वही पद्य 19,20
219 वही पद्य 22,27,59
220 वही पद्य 64,87,192
223 वही पद्य 107,205,217
225 दानलीला सुजान रसखान पद्य 11

सप्तम् अध्याय : उपसंहार

प्रस्तुत शोध ग्रंथ में 'रसखान के काव्य में प्रेम का स्वरूप' का अध्ययन है। रसखान प्रेम के कवि हैं। प्रेम शब्द सुनने में जितना सरल है व्याख्या में उतना ही विराट् है। समस्त जगत् को बाँधने वाला तंतु प्रेम ही है। समस्त जगत् की सर्जनात्मक शक्ति प्रेम में निहित है। समाज यदि सम्बन्धों का जाल है तो प्रेम उस सम्बन्ध का उत्पादक है। यही ढाई आखर है जिसके पढ़ने से सामान्यजन भी पंडित बन जाता है। मानव जीवन विकास की स्वर्णिम आभा प्रेम से प्रस्फुटित होती है। पुष्पदन्त ने ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कहा था यदि समस्त पर्वतों की स्याही बना दी जाय और समुद्र की दवात बना दी जाय तथा धरती को कागज बना दिया जाय लेखन कार्य सरस्वती को दे दिया जाय वह कल्प वृक्ष की कलम से अनन्त काल तक लिखती रहें, तब भी प्रभु के गुणों का वर्णन नहीं हो सकता। रसखान ने प्रेम को ही प्रभु कहा है, अतः प्रेम की विवेचना नहीं की जा सकती। प्रेम के स्वरूप की ओर केवल संकेत भर किया जा सकता है। सच्चे प्रेम में सुख-दुःख का अद्वैत रहता है—प्रेमी सुखी होता है तो प्रिय भी सुखी होता है। यदि प्रेमी दुःखी होता है तो प्रिय भी दुःखी होता है। प्रिय हृदय को वहां प्रत्येक अवस्था में विश्राम मिलता है। वृद्धावस्था आने पर भी उसमें रस की कमी नहीं रहती। यौवन का नीर घटने पर भी प्रेम का कमल नहीं मुरझाता।

तत्त्वतः प्रेम की चर्चा करते ही हमारा विचार समाज की ओर उन्मुख हो जाता है। समाज का अध्ययन ही व्यक्ति के अध्ययन में सहायक होता है। समाज और साहित्य का अति गहरा सम्बन्ध है। समाज का अध्ययन हम अनेक दृष्टियों से करते हैं उसमें साहित्यिक दृष्टि से किया गया अध्ययन विशेष महत्वपूर्ण है। साहित्य ही मानव के विकास की विधाता है। साहित्य के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं, समाज और संस्कृति।

समाज के स्वरूप को संस्कृति व्याख्यायित करती है। अतः सर्वप्रथम यहां संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृति का स्वरूप व्यापक है। संस्कृति के अन्तर्गत, धर्म, दर्शन, परम्परा, कला, साहित्य सभी समाहित हैं। चूंकि रसखान का काव्य माधुर्य भक्ति का काव्य है अतः धर्म से जुड़ जाता है तथा इस प्रकार के काव्य के लिए संस्कृति का निर्देशन आवश्यक है। यही

कारण है कि शोध का प्रारम्भ संस्कृति के स्वरूप विवेचना से प्रारम्भ किया गया है। संस्कृति के स्वरूप विवेचन अर्थ एवं परिभाषा के साथ ही संस्कृति को व्यक्तित्व में दर्शाया गया है। हमारा व्यक्तित्व बाहरी एवं आन्तरिक परिवेश में विकसित होता है। इस विषय में यह व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है कि हमारे संस्कारों (विविध प्रकारके परिष्कारों के साथ) से व्यक्तित्व परिमार्जित होता है इसमें दर्शन एवं मनोविज्ञान की सहायता ली गई है ये मनोवैज्ञानिक आधार पर भी पुष्ट है इसे विविध संवृत्त वृत्तों के माध्यम से दर्शाया गया है। तत्पश्चात् परम्परागत सांस्कृतिक स्वरूप के विकास को दिखाया गया है। भारत में आर्यों के आगमन के पश्चात् आर्य संस्कृति तथा द्रविड. संस्कृत का मेल हुआ था इसके पश्चात् जो संस्कृतियां यहां आयी सभी इसमें सम्मिलित होती गयी। इस महान् संस्कृति को इस प्रकार दिखाया जा सकता है भारतीय संस्कृति = आर्यों का ज्ञान + द्रविड़ों कला + आधुनिक विज्ञान, ऐसा संकेत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कालिदास की लालित्य योजना में दिखाया है वास्तव में इसमें अन्य संस्कृति का योगदान है वस्तुतः भारतीय संस्कृति समन्वयशील है, यह किसी एक जाति की संस्कृति नहीं है।

द्वितीय अध्याय 'मध्यकालीन संस्कृति परम्परा और काव्य' मध्यकालीन संस्कृति को रेखांकित करते हुए यह बताने का प्रयास किया गया है कि सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्तन धारा के माध्यम से हुई है। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियां हैं। इन सबका क्षेत्र विशाल मानव समाज है, जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवन-यापन करता है। भारतीय जीवन में समय-समय पर विदेशी विजातीय तत्व के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं। परन्तु इन्हीं से होकर ऐसी जीवनी शक्ति का संचार भी होता रहा है कि हम डूबते-डूबते भी उबरते चले आये हैं, निष्प्रभ या निस्तेज न होकर नव-जीवन की अरुणिमा से महिमा मंडित होते रहे हैं। इन सबके मूल में हमारी समन्वय साधना की प्रवृत्ति उजागर रही है, जो ब्राह्मण युग से ही उत्तर भारत में व्यक्त हो चुकी थीं। दक्षिण भारत में यह प्रवृत्ति बाद में उभरी। वैदिक देवी-देवताओं के वाह्य विधानों से विदक कर श्रमण संस्कृति के उन्नायकों ने जीवन का नया पथ खोज निकालने का यत्न आरम्भ किया, परन्तु गुप्त साम्राज्य की स्थापना के

अनन्तर दोनों ही क्षयमान हो गये मौर्य साम्राज्य के बिखराव के पश्चात् ब्राह्मणवाद का नये ओज और तेज के साथ अभ्युत्थान हुआ इस नवब्राह्मणवाद में श्रमण, द्रविड़ तथा अन्य आदि वासियों के मत और मान्यताएं परस्पर एकीभूत हो गयीं। मध्यकालीन हिन्दू जीवन प्रणाली पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। पुराणकारों ने समन्वय साधना की प्रवृत्ति को पुर्नजाग्रत किया। मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, अवतारवाद, गौब्राह्मण रक्षा, धर्मशास्त्रों का सम्मान, काफिल में विश्वास पौराणिक धर्म के आयाम बन गये। मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं—एक वह जो शास्त्र का समर्थक है और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। मध्यकालीन धर्म साधना में प्रायः सभी पूर्ववर्ती प्रमुख धर्म साधनाएं विद्यमान हैं। मध्यकाल में विविध धर्ममतों के होते हुए भी दो की प्रधानता उल्लेखनीय है वे हैं—शैवधर्म और वैष्णव धर्म। शैवधर्म के अन्तर्गत मध्यकाल में पाशुपात, वीरशैव, लिंगायत और कश्मीरी शैव सम्प्रदाय विख्यात थे और इनके उपसम्प्रदायों तक का गठन होने लगा था। शिव योग साधना के प्रवर्तक तथा आदि गुरु माने जाते हैं। ऐसे उपसम्प्रदायों में 'नाथ योगी सम्प्रदाय' की गणना भी की जाती है। इन सम्प्रदायों ने अपने मत के प्रकाशन के लिए क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाया।

वैष्णव धर्म मूलतः भक्ति प्रधान है जो योग—साधना परवर्ती होने के कारण किंचित प्रभावित भी है। पांच—रात्र में तंत्र साधना के तत्व भी विद्यमान है। पांच—रात्र मत पर ही मूर्ति विधान और मन्दिर निर्माण की व्याख्या मुख्यतः आधारित थी। वैष्णव धर्म—सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों की सृष्टि प्रधानतः इनके आचार्यों अथवा प्रवर्तकों द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने के कारण हुई थी। द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टा द्वैत, भेदाभेद आदि इन्हीं के परिणाम थे। इन्हीं के द्वारा अपनायी गयी भक्ति किसी न किसी दर्शन पर आधारित थी, फलतः ये स्वयं को एक—दूसरे से पृथक मानने लगे। संस्कृति के मूल तत्व धर्म में समाहित होते हैं अतः धर्म को आधार बनाकर उसकी अभिव्यक्ति से साहित्यिक परम्परा का जन्म होता है। वैष्णवधर्म दो प्रकार की साहित्य धाराओं में विभक्त हो जाता है—राम भक्तिधारा तथा कृष्ण भक्ति धारा। रामभक्ति धारा प्रवाह महाकवि तुलसी आदि से प्रस्रवित होता है तथा कृष्णभक्ति धारा सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों से विस्तारित होता है। बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अनुसरण करने वाले आठ कवियों में

से चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे— कुम्भनदास, सूरदास, परमानंददास और कृष्णदास चार गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे, गोविन्द, नन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुज दास। माधुर्य भाव की उपासना अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त चैतन्य देव एवं विद्यापति के काव्य में भी विद्यमान है। रसखान तथा मीराबाई ऐसे कवि हैं जो माधुर्य भाव के उपासक होते हुए भी सीधे किसी परम्परा से नहीं जुड़ते हैं किन्तु वे माधुर्य भाव के ही कवि हैं वस्तुतः इस अध्याय में संस्कृति तथा काव्य परम्परा का अध्ययन मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, संस्कृति समन्वय की विराट चेष्टा, मध्यकालीन संस्कृति के मूलतत्त्व, शीर्षकों में बाँटकर किया गया है, जिसका विवेचन ऊपर किया गया है मध्यकालीन संस्कृति के मूलतत्त्व के रूप में भक्ति भावना है जो अष्टछाप कवियों तथा रसखान के रूप में परम्परा तथा काव्य का रूप ले लेती है।

तृतीय अध्याय में 'रसखान का रचनात्मक व्यक्तित्व' दर्शाया गया है। जहाँ तक रसखान के परिवेश का प्रश्न है उनकी रचना 'प्रेम वाटिका' से संकेत रूप में प्राप्त होता है—

देखि गदर हित साहबी, दिल्ली नगर मसान।

छिनहिं बादसा—वंश की, ठसक छोरि रसखान।।

दिल्ली नगर श्मशान बन गयी थी। यह स्थिति इब्राहिम खां और अहमद खां के परस्पर कलह के कारण हुई थी। रसखान ने अपने आंखों के सामने बादशाहत को बर्बाद होते देखा था, अतः उनका मन आध्यात्मिक दिशा की ओर मुड़ गया। यह कहा जाता है कि रसखान ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से बल्लभ सम्प्रदाय से दीक्षा ली थी। भक्ति के प्रवाह में उन्होंने जो रचनाएं की हैं, उनमें प्रमुख हैं सुजान रसखान, प्रेम वाटिका, दानलीला। कवि ने सुजान रसखान में कृष्ण की प्रेम लीला का वर्णन किया है। माधुर्य पूर्ण भक्ति के प्रवाह में उनकी रचना उनके हृदय को प्रस्तुत करती है। जिस प्रभु को ज्ञानी, योगी, यती देवता ध्यान में नहीं पाते हैं वही प्रभु प्रेम के कारण गोपियों द्वारा दिये गये थोड़े मट्ठे पर नाचता है। रसखान कहते हैं कि प्रेम ही प्रभु है, जिस प्रकार सूर्य तथा उसके प्रकाश को अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार प्रभु अलग नहीं हो सकते हैं। उनके प्रेम का सत्य इन्द्रियों के संवेदना से ऊपर उठ कर आत्मा का स्पर्श करता है।

चतुर्थ अध्याय में 'रसखान काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन है रसखान की प्रेमानुभूति ही संवेदना बन जाती है, रसखान रस के कवि हैं। वे सच्चे अर्थ में मरजीवा कवि हैं वे ऐसी बेखुदी के शिकार हो गये हैं कि वे रसखान भी नहीं रह पाते, वे सब कुछ भूल जाते हैं पर भूल नहीं भूलते जो उनसे एक बार हो गयी है, वह भूल यह हुई कि वे श्रीकृष्ण से प्यार कर बैठे। जिस प्रकार वह गोपी प्यार करने की भूल कर बैठी जो तीर्थ यात्रा की भटक गई थी। वास्तव में प्रेम श्रीकृष्ण का रूप है जो सबको छता है। कभी छूकर तपाता है कभी छूकर हर्षाता है। यह साक्षात् श्रीकृष्ण है। पर ऐसे अलग लगता है जैसे सूरज से धूप अलग लगती है। सूरज की सार्थकता है धूप होने में। रसखान का काव्य विरह का काव्य है उनके काव्य में विरह—वर्णन सहज, स्वाभाविक और मार्मिक है। यदा—कदा अतिशयोक्तिपूर्ण कथन भी है। वस्तुतः यह युग—युग से बिछुड़ी प्रीति दग्ध प्रणयाकुल आत्मा—रूप विरहिणी की व्यथा—कथा है यह व्यथा उनके पदों में हृदय के सम्पूर्ण आवेग से उच्छलित है। कवि आराध्य का जन्म—जन्म से दास है। यही कारण है कि कवि की रूपाशक्ति, प्रेमाशक्ति और तज्जन्य विरह की चरम परिणति उसके आत्म समर्पण में होती है। प्रभु अनन्य है और कवि उनका भक्त। जड़—जंगम किसी भी रूप या योनि में उसे आराध्य का सहवास, साहचर्य मिले, यही उसकी मनोकामना है।

रसखान के काव्य में वियोग श्रृंगार की कालिंदी प्रवाहित होती है। 'प्रेमवाटिका' में संयोग श्रृंगार की अभिनवता है। उनकी भावाभिव्यक्ति रसाद्र है। रस पेशल चित्रण पाठक को आत्म विभोर कर देता है। रसखान स्वच्छन्द भावधारा के कवि हैं। उनकी कविता आत्मानुभूति का निरायास प्रतिफलन है। शास्त्रीय नियमों से अपरिचित रसखान ने अपने अनुभूति के लिए स्वानुकूल मार्ग बनाया है। उनके विशुद्ध प्रेम की अनुभूति प्रवण किन्तु अनावृत्ति अभिव्यक्ति 'सुजान रसखान' में हुई है प्रेम और रति कामना सूचक हाव—भाव, मुद्राओं और चेष्टाओं की तन्मयता पूर्ण, अकृत्रिम और सजीव अभिव्यक्ति ने उनके काव्य को अत्यन्त मर्मस्पर्शी बना दिया है।

रसखान की कविता की महत्वपूर्ण शिल्पगत विशेषता निरलंकृति है। अलंकारों का प्रयोग रसखान के काव्य में हुआ है, किन्तु अत्यल्प, प्रेम की दृढ़ता, अनन्यता, हृदय बोधक सरलता तथा अनुभूति और स्पन्दन की चरमावस्था में रसखान के पास अलंकार प्रयोग का उतना अवकाश ही नहीं रहा है। वैसे भी रसखान रस सिद्ध कवि हैं, शास्त्रज्ञ काव्य—शास्त्री नहीं फिर भी उनके

काव्य में यमक, श्लेष तथा उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि के उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है उनके शब्द चयन और छंद विधान पर समकालीन रचना धर्मिता और सर्जनात्मक प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव पड़ा है। उनकी संवेदना का सांचा समकालीन रचनात्मक प्रवृत्तियां निर्मित करती हैं। रसखान के शिल्प संस्कार का उत्स भक्त कवियों की निष्ठा और सहज स्वाभाविक भाषा प्रवाह से संवलित है। भक्त कवियों की भांति दोहा, कवित्त और सवैया छन्द उन्हें प्रिय हैं।

पंचम अध्याय 'रसखान के काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन' का है भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों का संगम है। संस्कृति का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। रसखान के काव्य के कृष्ण भारतीय संस्कृति के दिव्य प्रतिमान है वैसे तो कृष्ण का नाम वेद में आता है किन्तु जिस कृष्ण को रसखान प्रभु के रूप में प्रस्तुत करते हैं वे कृष्ण महाभारत, गीता तथा मुख्यतया भागवत से सम्बद्ध है। इस अध्याय में सर्वप्रथम कृष्ण के स्वरूप का विवेचन है। पुराणों में कृष्ण का जो स्वरूप है वही मुख्य रूप से कवियों का उपजीव्य है। भारतीय इतिहास, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से पुराणों का बड़ा महत्व है पुराणों में सांस्कृतिक इतिहास है इसलिए सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में कृष्ण को ढूंढना सर्वथा उचित है यहां कृष्ण को विभिन्न पुराणों में ढूंढने का प्रयास किया गया है उनमें मुख्यतया निम्नलिखित पुराण है।

पद्मपुराण, विष्णु पुराण, वायु पुराण, श्रीमद्भागवत पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, वामन पुराण, गरुण पुराण, हरिवंश पुराण। महाभारत में जो कृष्ण का स्वरूप विवृत हुआ है, उसमें वासुदेव का ही रूपान्तर दिखता है यहाँ कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति है महाभारत काल में श्रीकृष्ण में ईश्वरत्व का आरोप हो चुका था तथा उनका सम्बन्ध वैदिक कालीन श्रीकृष्ण से स्थापित हो चुका था। महाभारतीय श्रीकृष्ण का सम्बन्ध मथुरा और द्वारका दोनों से था। कृष्णा-कथा में बाल लीलाओं का समावेश अवश्य ही आभीर जाति के कारण हुआ। जैसा ऊपर बताया गया है कि भागवत के कृष्ण ही कवियों के मुख्य रूप से उपजीव्य रहे हैं। महाभारत से पौराणिक युग तक का समन्वित रूप भागवत में है। भागवत् में कृष्ण के सभी रूप आ गये हैं। (1) अद्भुत असुर संहारक कृष्ण (2) बालकृष्ण गोपी बिहारी कृष्ण (3) राजनीतिज्ञ वेत्ता (4) कूटनीति विशारद श्रीकृष्ण (5) योगेश्वर कृष्ण (6) परम ब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण, मुख्य रूप हम कृष्ण के तीन रूप देखते हैं, (1) महाभारत

के कृष्ण (2) गीता के कृष्ण तथा भागवत् के कृष्ण। भगवान का वीरत्व विधायक स्वरूप महाभारत में, परम ब्रह्म स्वरूप गीता में तथा रसिकेश्वर भागवत में है। भागवत में जो कृष्ण का स्वरूप वहीं से माधुर्य भक्ति प्रस्रवित होती है। भागवत के वालकृष्ण सब लीलाओं से पूर्ण है। वे गंभीरता के समुद्र होते हुए भी मुरली बजाते, नाचते गाते हंसते हैं। रसखान के कृष्ण ऐसे ही कृष्ण हैं। रसखान के काव्य में भारतीय संस्कृति का प्रकाशन सम्यक् रूप में हुआ है। पहली बात यह है कि कृष्ण की प्रेमलीला का वर्णन स्वयं सांस्कृतिक प्रकाश है। कृष्ण और राधा के जिस प्रेम का विवेचन रसखान करते हैं उस प्रेम का स्वरूप आध्यात्मिक है। रसखान ने प्रेम भक्ति के जिन उपादानों का प्रयोग किया है उनसे सांस्कृतिक तत्वों का बोध होता है यथा 'मानुष हों तो वही रसखान वसों ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन, जो पशु हों तो कहां वस मेरो चरों नित नंद के धेनु मंझारन,' यहाँ ब्रज गोकुल, नंद, आदि शब्द ब्रज संस्कृति के हैं। उन्होंने जो होली आदि का वर्णन किया है उसमें सांस्कृतिक तत्व स्वयं प्रवाहित होते हैं। रसखान ने ब्रजवालाओं के क्रिया-कलापों, यथा दही बेचने जाना, आदि का जो वर्णन किया है सभी रीति परम्पराओं का जो वर्णन है वह संस्कृति का अंग है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि माधुर्य भक्ति का दर्शन भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण दर्शन है। लीला तत्व के अन्तर्गत जो बातचीत होती है वह पूरी तरह भारतीय संस्कृति की प्रकाशिका है। राधाकृष्ण का प्रेम समस्त जगत् का प्रेम है। संस्कृति का प्रभाव संवेदना एवं शिल्प दोनों में विन्यस्त है। सवैया, कवित्त दोहा, मध्यकालीन कवियों के साधन रहे हैं। भारतीय संस्कृति के प्रकाशन में रसखान की अभिवृत्ति के साथ उनकी भक्ति भारतीय संस्कृति के रूप में है।

अन्त में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य रसखान का प्रेम दर्शन है। प्रेम मनुष्य में मानवता का संस्कार भरता है। प्रेम के अध्ययन लिए संस्कृति का अध्ययन अनिवार्य है। रसखान का काव्य प्रेम का दर्शन है, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी भक्ति भावना में हुई है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा : चौखम्भा भवन वाराणसी सं० 1965 ई०।
2. आचार्य जयदेव : चन्द्रालोक (चौखम्भा सुरभारती ग्रन्थमाला वाराणसी, 2000ई०)
3. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : मध्ययुगीन प्रेम साधना बेलेहिविय प्रेस, इलाहाबाद प्र०सं०।
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल :
 1. हिन्दी साहित्य का इतिहास नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 2005 ई०।
 2. चिन्तामणि प्रेम लिमिटेड, प्रयाग 1957 ई०।
 3. चिन्तामणि भाग दो
(सरस्वती मन्दिर वाराणसी चतुर्थ संस्करण
2014)
5. आचार्य विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, चौखम्भा भवन वाराणसी।
6. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : रसखान ग्रन्थावली, वाणी चितान वाराणसी, 2015।
7. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी :
 1. विचार और वितर्क
(राजकमल प्रकाशन दिल्ली)
 2. हिन्दी साहित्य की भूमिका
(हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई 1986ई०)
 3. कालिदास की लालित्य योजना
(राजकमल प्रकाशन लि. 8, फैज बाजार दिल्ली-6)
8. आचार्य बलदेव उपाध्याय :
 1. भारतीय साहित्य शास्त्र
(नन्दकिशोर एण्ड सन्स, चौक वाराणसी
द्वितीय संस्करण सं० 2020)
 2. संस्कृत आलोचना
(उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन,
लखनऊ)
 3. भारतीय दर्शन

(चौखम्भा ओरियन्टलिया वाराणसी तृ०सं०१९८४)

४. आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ

(नन्दकिशोर एण्ड संस चौक वाराणसी)

९. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक (चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, ४१ संस्करण २००१)
१०. अभिनवगुप्त : तन्त्रालोक, (कश्मीर संस्कृत ग्रंथावली)
११. ईसाई नौउपनिषद् : गीता प्रेस गोरखपुर।
१२. कठोपनिषद् : गीता प्रेस गोरखपुर।
१३. जयशंकर प्रसाद : कामायनी, (लोकभारती प्रकाश महात्मा गांधी रोड़ इलाहाबाद)
१४. डॉ० चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन
(मोतीलाल बनारसीदास पब्लिसर्स प्रा०लि०, दिल्ली, संस्करण १९९०)
१५. सं०डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास (नेशनल पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण १९७३)
१६. डॉ० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
(लोक भारती प्रकाशन महात्मा गांधी रोड़ इलाहाबाद, आठवां संस्करण २०१०)
१७. डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना : कामायनी में काव्य में संस्कृति और दर्शन
(विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, चतुर्थ संस्करण १९७१)
१८. डॉ० हरिवंश लाल शर्मा : सूर और उनका साहित्य
(भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, पंचम संस्करण १९८२)
१९. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत (दिल्ली विश्वविद्यालय संस्करण १९९३ई०)
२०. डॉ० रामचन्द्र तिवारी : मध्ययुगीन काव्य साधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, सं० २००५
२१. डॉ० आबिद हुसैन : भारतीय संस्कृति (एन.वी.टी. दिल्ली, २००३)
२२. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, (वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण २००४)

रहीम ग्रंथावली (जैनिथ पब्लिसर्स 4695 121ए,
दरियागंज, नई दिल्ली संस्करण 2005)

23. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल : कला और संस्कृति, वाणी वितान प्रकाशन,
वाराणसी, द्वितीय संस्करण
24. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त (एस चन्द एण्ड
कम्पनी रामनगर दिल्ली, संस्करण 1962ई०)
25. डॉ० श्याम सुन्दर दास : कबीर ग्रंथावली (नागरी प्रचारिणी सभाकाशी,
प्र०सं० 1928ई०)
26. तुलसीदास : रामचरितमानस (गीता प्रेस, गोरखपुर)
27. दुर्गासप्त सती : गीता प्रेस, गोरखपुर।
28. नारद भक्तिसूत्र : गीता प्रेस, गोरखपुर।
29. नीलकण्ठ शास्त्री : दक्षिण भारत का इतिहास (बिहार हिन्दू ग्रंथ अकादमी
1986 संस्करण)
30. पद्म पुराण : गीता प्रेम, गोरखपुर (2010 ई०)
31. पाणिनीय व्याकरण : मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली
32. बाणभट्ट : कादम्बरी (चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सं० 2009)
33. भगवद् गीता : गीता प्रेस गोरखपुर।
34. भागवद् पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर।
35. मनोविज्ञान परिचय : एन.सी.आर.टी., दिल्ली, 2003 भाग दो सं० गिरीश्वर मिश्र
36. रसखान : सुजान रसखान, प्रेमवाटिका, दानलीला (वाणी प्रकाशन,
नई दिल्ली, 110002)
37. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय
(उदयाचल, राष्ट्रकवि दिनकर पथ राजेन्द्र
नगर, पटना-800016, 1956, आवृत्ति 1990ई०)
38. वायु पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर (2010ई०)
39. बृहदारण्यक उपनिषद् : गीता प्रेस गोरखपुर।
40. विष्णु पुराण : गीता प्रेस गोरखपुर।
41. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास
(दिल्ली एन.बी.टी. प्रकाशन)
42. हिन्दी साहित्य कोश (सं.) धीरेन्द्र वर्मा भाग एक
(ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी
वि० 2020, 1985 संस्करण।)